महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

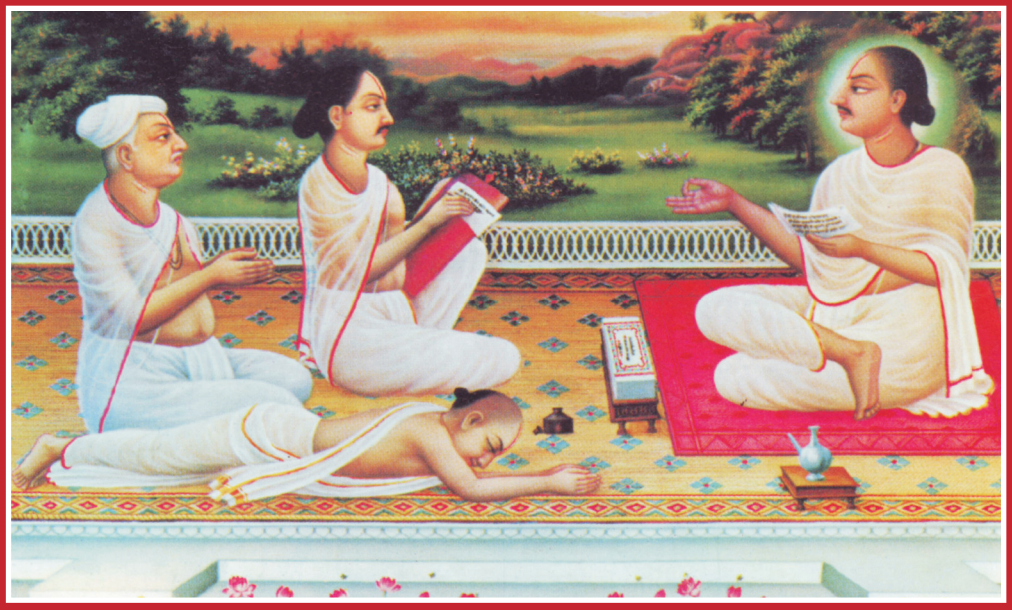

दशमस्कन्ध

राजस प्रमेय प्रकरण

(अध्याय ४२–४६)

खंड ११/ख

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

अध्याय ४२

श्रीकृष्ण, बलरामका उपनयन और गुरुकुल प्रवेश

साधारण्येन सर्वेषां द्विरूपोऽपि निरूप्यते।
द्विचत्वारिंशे ह्यध्याये निरोधः सर्वसम्मतः ।।का.१।।

कारिकार्थ : साधारण रीतिसे इस ४२ वें अध्यायमें सर्व सम्मत निरोध, सबका दो[१] प्रकारका निरूपण किया जाता है ।।१ ।।

१. भगवान् और भक्तोंका परस्पर निरोध .

पित्रो राज्ञस्तथान्येषां स्वस्यापि च निरूप्यते।
द्विरूपे मध्यमे रोधे यादवत्वं प्रयोजकम् ।।का.२।।

कारिकार्थ : माता तथा पिताका, राजाका और अन्योंका एवं अपना भी निरोध कहा जाता है. इन दो प्रकारके मध्यम निरोधमें यादवत्व प्रयोजक है ।।२ ।।

स्वस्य शब्दात्मके रोधः स्वाज्ञायां निखिलस्य च।
देवे दैत्ये च सर्वत्र कालादिष्वपि सर्वतः ।।का.३।।

कारिकार्थ : अपना निरोध शब्दात्मामें होता है और अपनी शब्दात्मक आज्ञामें सर्वका निरोध होता है. देव, दैत्य और कालादिमें भी सब जगह चारों तरफ निरोध कहा जाता है ।।३ ।।

आभासार्थ : पूर्व अध्यायमें माता तथा पिताका विशेष प्रकारका निरोध कहा है, वह लौकिक है. लौकिक निरोध भी उन दोनोंको समझाकर कराना चाहिए, उसका वर्णन 'पितरावुपलब्धार्थौ' आदि ११ श्लोकोंमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

श्रीशुक उवाच

पितरावुपलब्धार्थो विदित्वा पुरुषोत्तमः।
माभूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्णने समझ लिया कि मेरे माता-पिताको मेरे स्वरूपका ज्ञान हो गया है, यह ज्ञान इस समय नहीं होना चाहिए, इसलिए जनताको मोहमें डालनेवाली अपनी माया फैला दी ।।१ ।।

व्याख्यार्थ: यह निरोध मध्यम है, अतः गुणोंसे और ज्ञान तथा भक्ति द्वारा इसको सिद्ध किया है. यदि यों न करते तो प्रथम निरोधसे इसका [१]अपकर्ष

हो जाये, अलौकिक निरोध लौकिकका बाधक है. वह जब तक रहेगा, तब तक लौकिक निरोध नहीं हो सकेगा, इसलिये उस अलौकिक निरोधके ज्ञानको छिपानेकेलिये भगवान्ने अपनी माया फैलाई. जिससे माता-पिताको मेरे स्वरूपका जो ज्ञान हो गया है, उससे उनका अलौकिक निरोध सिद्ध हुआ है, वह ज्ञान(इस मायासे) मिट जाये तो फिर लौकिक निरोध सिद्ध होवे. निरोध करने पर भगवान् सब कुछ देते ही हैं, विशेष तो क्या व्यापि वैकुण्ठ भी दे दिया, तो भी कपट वेशसे अर्थात् मनुष्याकृतिसे खेलते हैं. यह ज्ञान भी लीलोपयोगी नहीं है, अतः बाधक होनेसे वह बाधकता न होवे, इसलिये मायासे उस ज्ञानका आच्छादन किया. यों समझनेमें क्या दोष है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आप मूल स्वरूप पुरुषोत्तम हैं. यदि अंशरूपसे आये हों और उसका लोकमें ज्ञान भी हो जाये, तो अत्यन्त लज्जाकी बात नहीं है, मूल स्वरूप महान्का ज्ञान हो जाना तो लज्जायुक्त ही है और उसका फल होगा ही. वह फल भक्ति है, वह परमानन्दके तुल्य ही है.

माया द्वारा मोह करानेसे उससे भी कम होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, क्योंकि वह माया अपनी(भगवान्की) है, अतः वह जैसे योग्य होगा वैसे करेगा.

भगवान्का अतिक्रम होना दोष है, जिससे माया अनिष्ट सिद्ध करनेवाली होगी. इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह माया भगवान्का अतिक्रम नहीं करायेगी, किन्तु साधारण मनुष्योंमें मोह करायेगी. भगवदीयोंमें मोह न करायेगी, जिससे भगवदीय भगवान्में वैसे ही निरुद्ध रहेंगे ।।१।।

१.माता-पिताका या इस निरोधका निरादर हो जाता.

आभासार्थ : पश्चात् अलौकिक उपाय कर अपनी निरपराधता सिद्ध की, किन्तु लोक न्यायसे ये अपराधी हैं. यों दिखानेकेलिए कहते हैं कि अपराधी होनेके कारण ही वसुदेवजीने इनकेलिए दुःख भोग है, अतः इनका आलिङ्गन नहीं किया है. इस प्रकारकी प्रतीति पैदाकर उस दोष निवारणार्थ उस प्रकारके वचन 'उवाच पितरौ' श्लोकमें कहते हैं:

उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ।।२।।

श्लोकार्थ : भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भाईके साथ माता-पिताके

समीप आकर विनयसे नम्र हो माता-पिताको प्रसन्न करते हुए आदरसे हे अम्ब! हे तात! कहने लगे ।।२ ।।

व्याख्यार्थ: श्रीकृष्ण नमस्कारका परित्यागकर अर्थात् नमस्कार न कर पिताके समीप आ गये. आप अकेले नहीं आये, किन्तु अपने बड़े भाई बलरामजीको भी साथमें ले आये थे, किन्तु बलरामजीको किस प्रकार बोलना चाहिये, यह वे नहीं जानते हैं. उनका दोष भी उतारना है, इसलिये साथ लाकर भी प्रथम आगे आप आये. आप भगवद्भक्तोंके स्वामी एवं शिक्षक हैं, अतः सन्मर्यादा आपको सिखानी है, अतः विनयसे नम्र हो जैसे बालक प्रेम व हर्ष उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रीति उत्पन्न करते हुवे आदर सहित हे अम्ब हे तात यों सम्बोधनकर कहने लगे. लज्जा और अपराधत्व लोक दृष्टिमें होते हैं, उनमें प्रथम लज्जाका निवारण करना चाहिये. पुत्र अपनी ही आत्मा है, वह यदि बन्धनसे छुड़ावे, तो उससे पिताको लज्जा नहीं आनी चाहिये. श्रीकृष्ण अपनेको पुत्र प्रकट बतानेकेलिये कहते हैं हे अम्ब हे तात हे माता हे पिता मैं आपका पुत्र हूं. कृष्ण माता-पिताको हे माता हे पिता दिखावटी रीतिसे नहीं कहते हैं. इसकेलिये शुकदेवजीने श्लोकमें 'प्रयुक्त सादरं'से कहा है कि कृष्णने आदरपूर्वक तथा नम्रतासे ये शब्द कहे हैं, जिससे माता-पिताकी पूर्व स्मृतिका नाश हो और उनमें प्रेम उत्पन्न हो. इसकेलिये फिर उन्होंने विशेष करके अपने मुखकी चेष्टा भी वैसी ही की, जिससे प्रीति भी उत्पन्न हुई ।।२।।

आभासार्थ : इस प्रकार अपराधके निराकरणसे लज्जाको दूर कर कहने लगे कि हमने बराबर अपराध किया है, क्योंकि जो हमको करना चाहिए था, वह हमने नहीं किया है, जिसका वर्णन 'नास्मत्तो' श्लोकमें करते हैं:

श्रीकृष्ण उवाच

नास्मत्तो युवयोस्तात! नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्याम् अभवद् क्वचित् ।।३।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णने कहा, हे तात! आप दोनों हम दोनोंकेलिए नित्य उत्कण्ठित रहते थे, किन्तु हमारी बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था यों ही गई. हम दोनोंसे आपकी कुछ भी सेवा न हो सकी ।।३ ।।

व्याख्यार्थ: आपको नित्य यह लालसा रहती थी, कि हम पुत्रोंका सुख लें बालकोंकी बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था देखें क्योंकि बाल्यादि

अवस्था आनन्द प्रद होती है, उससे प्रसन्न होनेकी सबको आकाङ्क्षा रहती है. श्लोकमें 'पुत्राभ्यां' पद पञ्चमी विभक्तिमें कहा है जिसका अर्थ है कि हम दोनों पुत्रोंसे आप बाल्य आदि किसी अवस्थाकी भी सुख प्राप्त नहीं कर सके हैं, किन्तु कीर्त्तिमान् प्रभृतियोंसे भी सुख नहीं ले सके, उसका कारण भी मैं ही हूं क्योंकि आपके यहां भगवान्का प्राकट्य होगा. यों सुननेसे लोकमें कंस द्वारा उपद्रव होने लगे. कीर्त्तिमान् तो पांच वर्ष तक सुख दे सका, किन्तु मैं बाल्यादिका भी दर्शन मात्र न दे सका जिसका कारण भी मैं ही हूं, जो'अक्लिष्टकर्मा' होते हुवे भी मैंने उसका उपयोग न कर आपको कह दिया कि 'मुझे गोकुल ले चलो' अतः आपको वह सुख न मिला, जिसका कारण मैं हूं. अक्लिष्टकर्मत्व धर्म गोप्य रीतिसे पालन करना है, वह अपनेलिये ही रक्षणीय है, माता-पिताकेलिये बाधक ही है अतः अपनेलिये ही बाल्य आदि अवस्थाओंका अनुभव न कराया।।३।।

आभासार्थ : श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि आपको हमसे सुखकी प्राप्ति न हुई जिससे आपको क्लेश हुआ वह अल्प है, किन्तु उससे हमको जो दुःख हुआ वह विशेष है. क्यों वा कैसे महान् क्लेश हुआ? जिसका वर्णन 'न लब्धो' श्लोकमें करते हैं:

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ।।४।।

श्लोकार्थ : हम दोनों मन्दभागियोंको आपके निकट रहना भी प्राप्त न हुआ. मां-बापके पास घरमें रहनेसे बालकोंको लालनसे जो आनन्द प्राप्त होते हैं, उनसे भी हम वञ्चित रहे ।।४।।

व्याख्यार्थ: जिन हम दोनोंमें दैवका हनन किया है अर्थात् आपका भाग्य बदल दिया है. सारांश यह है कि आपको जो पुत्रोंके वात्सल्य सुखका आनन्द मिलना था, उसमें हम ही एक रुकावटरूप हुवे, हमको तो अदृष्ट है ही नहीं, क्योंकि भगवद्रूप है, अथवा दैवसे इस प्रकार प्रेरणा हुई है तो भी अन्यथा प्रतीति करानेवाले जो शब्द कहे हैं वे मोहिका मायासे उत्पन्न किये हैं, इसलिये इस भगवद्वाक्यमें न अर्थका बाध है तथा न विरोध है परोक्षता तो कही ही है, यह भाषा लौकिकी है, अतः विद्वान् भगवान्को सर्व प्रकारसे गुप्त ही रखते हैं. प्रभु गोप्य ही फलित होते हैं, अर्थात् फलरूप बनते हैं.

भगवान्ने भी जैसा लोकमें प्रशंसनीय हो वैसा बाल्य भाव अपनेमें प्रकट

कर दिखाया है, किन्तु यह बाल्य भावका अंश विकल है, यों श्रुति कहती है. जिसका तात्पर्य है कि भगवान्में लोकवत् बालत्व नहीं है, कारण कि भगवान्ने यह बालत्व भी आत्मधर्मसे ही धारण किया है. इससे यह रूप भी वही आत्मा है, इस प्रकार ऐक्य निरूपणमें किसी प्रकारका दोष नहीं है.

अपने बालकपनकी लोकमें प्रसिद्धि है, फिर विकलता क्यों? इसके उत्तरमें कहते हैं कि हमारा बालकपन लोकोंके संतोषका हेतु है अर्थात् लोकोंको हमारे बालकपनसे आनन्दकी प्राप्ति हुई है, किन्तु वह हमको आनन्द दाता न हुआ है, क्योंकि नन्द आदिके यहां यह हृदयका सच्चा भाव प्रकट नहीं किया कृत्रिम(बनावटी) भाव आनन्द नहीं देता है. यदि सहज सत्य भाव होता तो माता यशोदा मुझे बांधती नहीं और बोझ होनेसे गोदीसे उतारकर पृथ्वी पर न पटकती, इसलिये यह कहना सत्य सुन्दर है कि पिताके घरमें रहनेवाले ही बालक, माता-पिताके लाड लड़ानेसे आनन्द लेते हैं, 'मुदं' एक वचन इसलिये कहा है कि सर्व बालक माता-पिताके पास समान रीतिसे लालित होते हैं. बालकपनसे उत्कर्षवाला कोई धर्म नहीं है, होए भी तो वह अप्रयोजक(बिना मतलबवाला) है ।।४।।

आभासार्थ : उदासीनताकी शंका तो नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लोकमें स्वार्थ ही अपेक्षित है, तो जहां स्वार्थ है वहां अपेक्षा हो नहीं सकती हैं, वेदमें वह तो बाधक है, जिसका वर्णन 'सर्वार्थ' श्लोकमें करते हैं:

सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ।।५।।

श्लोकार्थ : जिस देहसे चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जाते हैं, वैसी देह जिनसे मिली और पाली गई, उन माता-पिताके ऋणसे मनुष्य शत वर्षकी आयुसे सेवा करके भी उऋण नहीं हो सकता है ।।५ ।।

व्याख्यार्थ: धर्म आदि सर्व पुरुषार्थ इस मनुष्य शरीरसे ही सिद्ध होते हैं, वैसे ही लीलाका भी, यहां सामान्य विषयकी भांति वर्णन है, अतः भगवत्सम्बन्धी विषयके वर्णनको अत्यन्त आवश्यकता नहीं है. पिताने पैदा किया, माताने पालन किया, पालन करनेमें जो विशेष आवश्यकताएं हैं वे माता ही पूर्ण करती है. अतः कहा है कि माताने पालन किया, अथवा जैसा उपयोग है वैसा दोनोंने जन्म देने और पालन करनेमें योग दिया है. जिस कारणसे उनके ऋणसे पुत्र सौ वर्ष सेवा

करने पर भी छुटकारा नहीं पा सकता है, कारण कि स्वयं मरणधर्मवाला है, कालके गालमें है, जिससे वह स्वयं ही जीनेमें असमर्थ है, वह उनका क्या उपकार कर सकेगा? अथवा यह माता-पिताके ऋणसे मुक्त हो नहीं सकता है, क्योंकि यह मरण धर्मवाला है, दोषके बिना कोई नहीं मरता है. सौ वर्ष भी सेवा करनेसे ऋणसे मुक्ति नहीं होती है. पूर्ण आयु भोगकर भी मरेगा ही, यदि मरणधर्मा न हो तो आगे भी जीवित रहे. पापसे दुःखको ही भोगना है, नहीं तो पाप पुण्य दोनोंका भोग तो सर्वत्र नियत ही है. इस देहके त्यागके बाद पाप तथा पुण्यका क्या उपकार होगा? ऋणसे मुक्त होनेके विषयमें कहते हैं कि उसके अधिकारी उस समयकी प्रतीक्षा(इन्तजारी)कर उस सन्तानसे वह ऋण प्राप्त करेंगे, इससे मनुष्य मरणधर्मा है, यह कहना योग्य ही है. आयुष्यकी विशेष अवधि सौ वर्षकी कही है, काल प्रति वर्ष आकर देखता है कि उसने अपना कर्त्तव्य पूरा किया या नहीं? यों देखते हुवे जब वह देखता है कि सौ वर्ष हो गये, पूरे नहीं किये तब उसको ले जाता है. शेष ऋण आदिकी वसूली उसकी सन्तानसे करता है. वहांके देवोंकी आकाङ्क्षा पूरी होने पर शीघ्र मरण होता है. यदि उनकी आकाङ्क्षा पूरी न हुई तो सौ वर्षसे विशेष भी मनुष्य होता है, अतः शत वर्ष कहना उपलक्षण मात्र है ।।५।।

आभासार्थ : इस विषयमें विशेष इस 'यस्तयो' श्लोकसे कहते हैं:

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ।।६।।

श्लोकार्थ : जो पुत्र समर्थ होते हुए भी शरीरसे और धनसे माता-पिताका पालन-पोषण नहीं करता है, मरनेके बाद उस पुत्रको परलोकमें उसका मांस खिलाते हैं।।६।।

व्याख्यार्थ: पुत्र माता तथा पिताके शरीरसे उत्पन्न हुआ है. उसका बदला बुद्धि पूर्वक नहीं देता है, विशेष कुछ न करे तो उसका पालन पोषण ही करे, यदि वह भी नहीं करता है तो मरनेके बाद जब परलोकमें स्थित होता है तो वहां उसको उसका ही मांस खिलाते हैं. यह कहना योग्य ही है. जिस प्रकार दासका कमाया हुआ द्रव्य तथा अपने क्षेत्रमें उत्पन्न अन्न अपना है हमको ही उसके भोगका अधिकार है, वैसे ही पुत्रका शरीर माता-पितासे उत्पन्न होनेके कारण, माता-पिताका ही वह शरीर है, अतः उस शरीर द्वारा कमाये हुवे धनादि पर माता-पिताका अधिकार है. यदि पुत्र उस अधिकारका अनुपयोग करता है,

तो उसको परलोकमें इस प्रकारका दण्ड मिले वह योग्य ही है. किस प्रकार अनुपयोग करता है, वह बताते हैं कि माता-पिताको न देकर अपने ही उपभोग आदिमें निरङ्कुश व्यय करता है परलोकके सिद्ध करनेमें व्यय करता है. तात्पर्य यह है कि सब कुछ अपने स्वार्थकेलिये करता है तथा पिता माताका उपकार भूल जाता है. वास्तवमें पुत्रका यह शरीर उनका ही है, तब इस शरीरसे प्रथम उनका ही सर्व कार्य पूर्ण होना चाहिये, वह न हुआ, अतः यह दण्ड शरीरको ही मिला, वह योग्य है. उस कर्मका बदला लिया, उनका इसने जो खाया वह पराया द्रव्य खाया है. इस प्रकार जो इसने किया, उसका कुछ करना चाहिये, वहां कहते हैं कि देव, उसके उपकारकेलिये उसके शरीरकी वृद्धि न होने दे और अन्य कुछ देकर भी ऋण उतार नहीं सकता है अतः उसके मांसको ही ऋणदाताको खिलाते हैं, जो पुत्र माता-पिताको भोजन वस्त्र नहीं दे सकता है, वह दूसरा क्या कर सकेगा? ।।६।।

आभासार्थ : इस प्रकार ऊपरके श्लोकोंमें सामान्य तथा विशेष प्रकारसे पितृ सम्बन्धी दैवके किए हुए प्रतिबन्धको बताकर सामान्य रूपसे यह भी बताया कि माता-पिताका, जो पुत्र पालन-पोषण नहीं करता है, उसका जन्म निष्फल अर्थात् वृथा है, इसलिए वह मृतके समान है. वैसे शरीरका त्याग ही करना चाहिए, क्योंकि वैसे शरीरका होना व्यर्थ ही है. इस प्रकारके भयसे साधारण शरीरका त्याग भी कर दे, किन्तु बुद्धिमान् इस प्रकार उपेक्षा कर शरीर त्याग नहीं करता है, किन्तु दैवसे हुए प्रतिबन्धको पूरा कर पुनः माता-पिताकी सेवा करता है और जो पुत्र यों नहीं करता है, उसका स्वरूप निम्न 'मातरं' श्लोकमें बताते हैं:

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ।।७।।

श्लोकार्थ : वृद्ध पिता, माता, पतिव्रता स्त्री, अनुपनीत पुत्र, पुरोहित, ब्राह्मण और शरणागतके समर्थ होते हुए भी जो पुरुष पालन नहीं करता है, वह जीता हुआ भी मुर्दा है।।७।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें 'वृद्ध' पिताका विशेषण है, यों कहनेका भाव यह है कि पिता वृद्ध न होगा तो अपना पालन स्वयं भी करेगा, जब वृद्ध तथा अशक्त होनेसे कमाई न कर सके, तब पुत्र पर पिताके पालन करनेका भार है इसी प्रकार माता तो सर्वथा पालनीया है. 'साध्वी' स्त्रीका विशेषण है, जिसका भाव है कि पतिव्रता स्त्री पालन योग्या[१] है, कुलटा नहीं. [२]अनुपनीत पुत्रका पोषण,

यज्ञोपवीतके बाद स्वयं भिक्षावृत्तिसे [3]उदरभरण कर लेगा, जो ब्राह्मण अपना पुरोहित है उसका पोषण करना, यह क्षत्रियोंका धर्म है. इसी प्रकार शरणमें आये हुवेकी रक्षा करना भी क्षत्रियोंका धर्म है. ब्राह्मण पुरोहित हो अथवा शरण आया हो तो भी उसकी पालना तथा रक्षा करना क्षत्रियोंका धर्म है. ऊपर कही हुई पालना तथा रक्षा प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये. यदि समर्थ होते हुवे भी इस धर्मका पालन नहीं करता है, तो वह जीता हुआ भी मृतकके समान है, क्योंकि वह केवल श्वास ले रहा है, अपना कर्त्तव्य पालन कुछ नहीं करता है, अतः वह मुर्दा ही है ।।७।।

१.यह पतिका धर्म है, २.बिना जनेऊ लिया हुआ, ३.यह उस समयकी व्यवस्था है, अब जब तक विद्या पढ़े, तब तक पिता पोषण करे–अनुवादक.

आभासार्थ : इन तीन दोषोंके कारण मेरा ही दोष है, जिससे हम अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सके. उससे आपकी कोई क्षति(हानि) नहीं हुई है, हमारी ही क्षति हुई है. जिसका वर्णन 'तन्नाव कल्पयोः' श्लोकमें करते हैं:

तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ।।८।।

श्लोकार्थ : हम बालक होनेके कारण असमर्थ थे और कंससे नित्य उद्वेग पा रहे थे. अतः आपकी सेवादि न करनेसे इतने दिन व्यर्थ गए ।।८ ।।

व्याख्यार्थ: उस कारणसे आपकी सेवा करनेमें बाधा करनेवाला ज्ञान विद्यमान था, वह बाधक ज्ञान हमारी असमर्थताका ही था, अन्य कोई दूसरा नहीं था, जिससे इतने दिन व्यर्थ ही गये. कुछ पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ, क्यों व्यर्थ गये? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आपने माता–पिताकी सेवा नहीं की इसलिये वे दिन व्यर्थ गये, श्रीकृष्णने यह कहा कि हम विदेशमें रहने और बालक होनेसे असमर्थ थे, वह लोक दृष्टिसे कहा है, अन्यथा आप तो सर्वथा समर्थ हैं, जो कि लीलासे भी अर्चा हो सकती थी, किन्तु कंसके कारण चित्तमें सदैव उद्वेग रहता था. जिससे वह भी न कर सके, नित्य उद्वेग इसीलिये रहता था कि कंस पूतना आदि दैत्योंको क्रमशः भेजता ही रहता था जिससे मनमें शान्ति न आती थी, सदैव उस ध्यानसे मनमें विक्षेप रहता था. यह उद्वेग जो कहा वह तो वास्तविक उद्वेग नहीं था. हमारे अन्तःकरणमें वास्तविक उद्वेग तो आपके कारण था कि कब माता–पिताके दर्शनकर उनकी सेवा करेंगे, यह उद्वेग था तो भी मैं न आया,

जिसका कारण यह था कि कंस मुझे जानकर आपको जान जायेगा तो उपद्रव करायेगा. इसलिये मैं वहां रह गया, अतः अन्तमें यों ही हुआ. कंसने अक्रूरको भेजकर लीला स्थलमें उपद्रव ही कराया. हम न आकर जितने दिन वहां रहे उतने दिन आपकी सेवा न होनेसे व्यर्थ ही गये, क्योंकि आप बड़े पूजनीयोंको नमस्कार पूजनादि न कर सके ।।८।।

आभासार्थ : जब आपमें सर्व प्रकारका सामर्थ्य है तो आप उस समय आकर कंसको मार कर हमारी सेवा करते, वैसा क्यों न किया? इसके उत्तरमें इस 'तत्क्षन्तु' श्लोकसे क्षमा याचना करते हैं:

तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ।।९।।

श्लोकार्थ : हे तात! हे माता! हम एक तो पराधीन(नन्दके आधीन थे) थे और दुष्ट कंससे दुःखित थे, इसलिए हम आपकी सेवा न कर सके, तो भी आप इस अवज्ञाको क्षमा कीजिए ।।९ ।।

व्याख्यार्थ: सचमुच यह अपराध मेरा है, किन्तु वह पूर्ण अपराध नहीं, आधा है. मैं समर्थ हूं, स्वयं आकर अलौकिक प्रकारसे उसको मारूं, यह उचित था, किन्तु यों करनेसे एक मेरा अवतार लेना व्यर्थ हो जाता और दूसरा वह मरता भी नहीं, कारण कि अलौकिक प्रकारसे उसकी मृत्यु वरसे निषिद्ध है. अर्थात् उसको वरदान है कि तेरी मृत्यु अलौकिक प्रकारसे न होगी. यों होते हुवे भी यदि आप कहो कि तू ईश्वर है, कर्तुं-अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है, अतः माता-पिताकेलिये वरके प्रभावको मिटाकर तुम्हें उसको मारना ही चाहिये था, वह क्यों न किया? तो इस अपराधकेलिये क्षमा मांगता हूं. आप माता-पिता हैं, वे बालकके अपराधको क्षमा करते हैं. अपराध क्षमा करो. दोनोंके दोष समान हैं. किञ्च(कुछ और), केवल मात्र हमारे दोष नहीं हैं कारण कि हम दोनों परतन्त्र थे, अर्थात् नन्दबाबाके आधीन थे. उन्होंने हमारी बुद्धि वैसी बना दी थी जो उनको छोड़ नहीं सकते थे. छोड़ने पर वे प्राण ही छोड़ देते, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीलाके समय करली थी. यदि उनको साथमें लेकर आते तो एक प्रकारकी दूसरे राज्य पर आक्रमण समान युद्ध दीखता. युद्धसे कंस मारा गया कहनेमें आता, यों करना नन्दजीको अभिप्रेत(इच्छित) न होता, वह इन्द्रयागभङ्गके समयमें देख लिया था. यद्यपि वह अलौकिक होनेसे मान लिया था, किन्तु यह लौकिक है

और कंसकी प्रजा होनेसे वैसा करना वह कभी भी नहीं मानते. अतः हम परतन्त्र होनेसे आपकी सेवा न कर सके. यह हम दोनोंका अपराध है, अब कंसादिके मारनेसे लोकको सामर्थ्यका ज्ञान हो गया और सेवाकी योग्यता भी हुई. इससे निश्चय हो गया कि लोकमें सर्वत्र स्वार्थ ही है. पुत्रसे भी सेवा प्राप्त हो, वैसी इच्छा रहती ही है. उसने(कंसने) जो कुछ कष्ट दिये, उससे उसका कोई पुरुषार्थ तो सिद्ध नहीं हुआ. उसका हृदय दुष्ट था, जिससे उसने केवल दुःख ही दिये. उसमें भी आपको बन्धनमें रखकर जो दुष्कर्म किया, वह कर्म तो अतिशय क्लेश देता है, इसलिये ही श्लोकमें 'भृशं' पद दिया है ।।९।।

आभासार्थ : ईश्वर होके यों अनीश्वरकी भांति कैसे कहते हैं? इसका उत्तर 'इति माया मनुष्यस्य' श्लोकमें देते हैं:

श्रीशुक उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा।

मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ।।१०।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि मायासे मनुष्य रूप हुए, जगत्की आत्मा हरिकी वाणीसे माता-पिता मोहित हो गए, गोदमें लेकर आलिङ्गनकर आनन्दको प्राप्त हुए ।।१० ।।

व्याख्यार्थ: मायाके कारण मनुष्य देखनेमें आते हैं जिससे भगवत्वरूपमें आनन्दत्वकी किसी प्रकारकी क्षति नहीं हुई है. लीलाकेलिये जैसे मायावी आकृति दिखाई है वैसे ही वाणीकी भी दिखानी चाहिये. लीलाओंमें सर्ववस्तु मायावी ही होती हैं. कंस वध लीलामें यों करना आवश्यक एवं उपयोगी था. अब उसका कोई प्रयोजन नहीं है. तब उत्पन्न ज्ञानको क्यों मिटाया जाता है? इस शङ्काको दूर करनेकेलिये कहते हैं कि आप 'हरि' हैं, अतः यदि यों न करें तो माता-पिताका जो क्लेश है, वह ज्ञानात्मक है, जिससे पुरुषार्थ सिद्ध होकर चिन्ता नष्ट होगी और सुख जैसा मान होगा, अतः भगवान्ने यों किया है, अन्यथा ज्ञान ही रहता तो क्लेशको प्राप्त होंगे, अतः अज्ञान ही रहने दिया.

जो अत्यन्त उपकारी और उत्तम फलको देनेवाले सीधे निश्चित मार्गकेलिये प्रयत्न करनेवालेको क्यों वहांसे हटाते हैं? अन्तर दुःख अत्यन्त दुःखदायी नहीं होता है, वह तो सहना ही पड़ता है. इस पर कहते हैं कि भगवान् विश्वकी आत्मा हैं वे परम दयालु हैं, सर्वकी आत्मा होनेसे सबको सुख मिले

वैसी ही प्रेरणा करते हैं. भक्तिसे ही अर्थात् स्नेहसे ही उसको कृतार्थ करते हैं, प्राकट्यके समयमें भगवान्ने कहा था कि ''युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत'' आप दोनों मुझे पुत्र भाव वा ब्रह्मभावसे भजोगे तो आप कृतार्थ होंगे, जिससे मुक्ति तो सिद्ध ही है. जो सिद्ध है उसका साधन ज्ञान था, उसकी आवश्यकता नहीं है, इसलिये उसके निराकरण करनेकेलिये वाणीसे मोहित करना उचित ही है. इस प्रकार मोहित होनेसे उसी समय आलिङ्गनकर आनन्दको प्राप्त हुवे, नहीं तो मरनेके बाद सुख लेते ।।१०।।

आभासार्थ : उससे लौकिक सुख बड़ा ही हुआ इसको 'सिञ्चन्ता' श्लोकसे बताते हैं:

सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन्बाष्पकण्ठो विमोहितौ ।।११।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! आंसूओं की धाराओंसे सिञ्चन करते हुए स्नेहरूप पाशसे बंधे हुए ऐसे मोहित हो गए कि कुछ न बोल सके, क्योंकि अश्रुओंसे कण्ठ बन्द हो गए थे ।।११ ।।

व्याख्यार्थ: आंसुओंकी धाराओंसे पुत्रोंको खींचने लगे, कारण कि बहुत दिनके वियोगके स्मरणसे नेत्रोंसे सहज जल गिरने लगा तथा उससे स्नेहरूप पाशसे आवृत्त हो गये. श्लोकमें शुकदेवजीने केवल स्नेह शब्द न देकर 'स्नेह पाश' कहा है, जिसके कहनेका भावार्थ स्पष्ट करते हुवे आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इससे यह बताया है कि वसुदेव-देवकीका यह स्नेह लौकिक था, क्योंकि बलराम श्रीकृष्णके स्वरूपको भूलकर उनको पुत्र समझने लगे, जिससे उनकी यह दशा हुई जो वे कुछ बोल न सके. यह भी एक मोहका ही कार्य है और उससे ही पुत्र स्नेहमें डूब गये. यदि स्नेहमें न डूबे होते तो स्तुतिमें अवश्य गुणोंका वर्णन करते, जिससे पुनः ज्ञान प्रकट हो जाता. हे राजन् इस प्रकार सम्बोधन देनेका आशय यह है कि जो मैं कहता हूं वह ध्यानसे सुनो. न बोलनेमें प्रत्यक्ष हेतु कहते हैं कि आंखोके आंसू कण्ठमें आ गये, जिससे कण्ठ रुक गया, अतः बोल न सके. सर्वथा भगवान्के श्रीअङ्गके स्पर्श होनेसे भी मोह मिटा नहीं, इस प्रकार आदि तथा अन्तमें दृढ़ मोह उत्पन्नकर दोनों भ्राता निश्चिन्त हो गये. इसलिये श्लोकमें 'मोहितौ' न कहकर 'विमोहितौ' कहा जिसके कहनेका भावार्थ आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि विशेष मोहित इसलिये कराया कि कभी भी आत्मज्ञान वा भगवद्ज्ञान

इनको न होवे, इस प्रकार मोहित करनेसे भगवान् पर 'अनिष्ट कर्ता' विशेषण लागू होगा अर्थात् भगवान् अनिष्ट कर्ता हैं, इस दोषकी शङ्का न होवे, इसलिये ज्ञाना'मुक्ति' कहेंगे, अतः लौकिक निरोध समाप्त होनेके अनन्तर उसका निरूपण किया है ।।११।।

आभासार्थ : इस प्रकार माता-पिताका निरोध कहकर सकल यादवोंका निरोध कहते हैं जिसमें प्रथम उग्रसेनका निरोध इस 'एवं' श्लोकमें कहते हैं:

एवमाश्वास्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः ।
मातामहं तूग्रसेन यदूनाम् अकरोन्नृपम् ।।१२।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार माता-पिताको आश्वासन(धैर्य) देकर देवकीके पुत्र भगवान्ने मातामह उग्रसेनको यादवोंका राजा बनाया ।।१२ ।।

व्याख्यार्थ: माता-पिताको धैर्य देकर मातामहको यादवोंका राजा बनाया. उग्रसेन मेरा नाना है, जिसको स्पष्ट सिद्ध करनेकेलिये यहां 'देवकी सुतः' नाम कहा है. आपने भक्तोंके हित करनेकेलिये देवकीसे अवतार लिया है. यह बात अनुभवसे ही सिद्ध है कि जिसका पिता राजा होता है, रसकी पुत्रीको निश्चिंत महान् भोगकी प्राप्ति होती है और जिसका श्वसुर राजा होता है, उस जामाताको भी महान् भोगकी प्राप्ति निश्चिंततासे होती है अतः वसुदेवको राज्य न देकर उग्रसेनको दिया. जिससे जामाता वसुदेव और पुत्री देवकीको निश्चित महान् भोग प्राप्त होगा. वसुदेवको राज्य न देनेका कारण यह भी था कि वह पुत्रोंके मरजानेसे दुःखी था. दुःखी मनुष्य राजा होनेके योग्य नहीं होता है. यों कहने और करनेका तात्पर्य यह है कि कंसके मारनेका कारण यही था कि जिसका राज्य कंसने छीन लिया है, इसको मारकर पुनः जिसका राज्य पर हक है, उसको राज्य दूं. तात्पर्य यह है कि कंसको उग्रसेनकेलिये ही मारा है. श्लोकमें 'तु' शब्द इसलिये है कि भगवान्ने कंसको अपने वा अपने सम्बन्धीके स्थानकेलिये नहीं मारा, किन्तु न्यायकी रक्षाकेलिये कंसको मारा है. मातामहमें राज्य करनेकी सामर्थ्य है, यह दिखानेकेलिये उसका नाम उग्रसेन दिया है. अर्थात् जिसकी सेना बहुत क्रोधवाली है. पहले तो वह देशका अधिपति था, किन्तु यादव उसे ऐसा मानते नहीं थे. अब तो यादवोंका राजा बना दिया, यादव पहले नहीं मानते थे तो अब उसको अपना राजा कैसे मानेंगे? यह शङ्का मनमें ही न लानी चाहिये, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण यादवोंके आधिदैविक स्वरूप हैं, अतः यादव उस

स्वरूपके ही आधीन है, अतः जो कुछ भगवान् करते हैं, उसको वे मान लेते हैं।।१२।।

आभासार्थ : उग्रसेनको राज्य देनेके अनन्तर, विश्वास दिलानेकेलिए भगवान् 'आह' इस श्लोकसे कहने लगे:

आह चास्मान्महाराज प्रजास्त्वाज्ञप्तुमर्हसि।
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ।।१३।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! हम आपकी प्रजा हैं. हमको आपकी आज्ञा दीजिये. ययातिके शापके कारण यादवोंको राज्यासन पर न बैठना चाहिए।।१३ ।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें आये हुवे 'च'का आशय प्रकट करते हैं कि भगवान्ने केवल देखा देखी 'उग्रसेन'को राजा नहीं बनाया है किन्तु मनसे उसको राज्य गद्दी पर बिठाया है. जिसकी पुष्टिकेलिये उग्रसेनको कहते हैं कि महाराज हम आपकी प्रजा हैं, अतः आप हमको आज्ञा दे सकते हैं. वह प्रजा भी सन्तानरूप प्रजा हम नहीं हैं, किन्तु 'रैवत' है. यदि उग्रसेन कह दे कि मैं भी यादव होनेसे प्रजा ही हूं तो कहते हैं कि नहीं, आप तो 'महान् राजा' हैं. आप आगे भी खण्ड-मण्डलके राजा तो थे. इस कारण जैसे पहले आज्ञा होती थी, वैसी अब भी होगी. यह शङ्का मत कीजिये, अब वह बात नहीं है, कारण कि आगे आप खण्ड-मण्डलके राजा थे अब आप महाराजा हुवे हैं, इसलिये आप विधिवश अर्थात् नियमके वश होकर आज्ञा देते हैं, न कि व्यक्ति विशेषसे आज्ञा करते हैं.

शङ्का करते हैं कि कंसको मारकर उसका राज्य आपने लिया, वह लिया हुआ राज्य देते हो अथवा मैं पूर्व ही राजा था, उसकी पालना करते हो? यदि कंससे लिया हुआ राज्य देते हो तो प्रथम लिये हुवे राज्य पर आपका अधिकार है , उस पर आप पहले बैठें, पश्चात् इच्छा हो तो मुझे दे देना.

दूसरे प्रकारसे शङ्का करते हैं कि यदि कंसने और आपने त्याग किया है तो भी महाराजाके धर्म तो कंसमें थे. वे धर्म उसके नाश करनेवालेमें आते हैं कारण कि वे धर्म जो निकट हैं, उसमें प्रवेश करते हैं. उसके नाशक होनेसे आप उनके निकट थे, अतः महाराजाके धर्म आपमें आये, जिससे सिंहासन पर आपको बैठना चाहिये.

इन दोनों पक्षकी शङ्काका उत्तर देते हैं कि 'ययाति शापात्' ययातिके

शापसे यादवोंको राजगद्दी पर नहीं बैठना चाहिये. 'यदू' बड़ा था, उसको पिताने राज्यसे हटाया, उस दिनसे मर्यादा पूर्वक राज्य नहीं चला है. अर्जुन आदि तो भगवत्कृपासे 'सार्वभौम' राजा हुवे हैं, अतः वे मरे और कंस भी मरा. भगवान् तो वैसा नहीं करेंगे अर्थात् मर्यादा भङ्ग नहीं करेंगे, क्योंकि मर्यादाकी रक्षाकेलिये तो आपने अवतार धारण किया है. अपना ईश्वरत्व दिखानेकेलिये कभी अनुग्रहसे कार्य करते हैं, राज्य तो सर्वदा अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है.

जो जिस प्रकारका वेश ग्रहण करता है, वह उसके अनुरूप धर्मोंका पालन करता है. कोई भी उसके विपरीत नहीं करता है और न किसी सुज्ञने यों किया है. अतः हम जो यादवोंकी मुख्य शाखामें उत्पन्न हुवे हैं इससे निश्चय किया है कि राज्य सिंहासन पर न बैठना. भोज आदि अन्तिम शाखा है, इसलिये उसमें विवाह आदि भी होते हैं. भगवान् सर्वेश्वर हैं, इसलिये भूमिका आधिपत्य किसीको भी दे, किन्तु स्वयं उसका ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि भूमिका आधिपत्य उनकेलिये वृथा है तथा उसको लेनेसे यों सिद्ध होगा कि प्रथम ये ईश्वर अर्थात् पृथ्वीके स्वामी नहीं थे, अब हुवे हैं. अतः अनीश्वरत्वकी आपत्ति न आवे, इसलिये आप स्वयं राज्य नहीं करते हैं, किन्तु ईश्वरत्व तो आपमें सिद्ध ही है ।।१३।।

आभासार्थ : यदि ययातिके शापसे राज्य ग्रहण नहीं करना चाहिए तो मैं उसको ग्रहण कैसे करूं? मैं भी यादव हूं, क्योंकि शाप सबकेलिए समान है और मुझमें उतना सामर्थ्य भी नहीं है, जो शापको मिटा सकूं. अथवा उसका दुष्परिणाम हटा सकूं, इसके उत्तरमें भगवान् यह 'मयि भृत्य' श्लोक कहते हैं:

मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ।।१४।।

श्लोकार्थ : मुझ सेवकके उपस्थित होते हुए देवता आदि भी नम्र होके आपको भेटें अर्पण करेंगे तो दूसरे राजाओं की तो बात ही क्या? ।।१४।।

व्याख्यार्थ: साधारण जनको अवश्य किसीको भी अपना रक्षक करना आवश्यक है, वह अभी तक कंस ही था, उसके पुत्र नहीं है, पिता पुत्र एक ही रूप है, अतः यदि पुत्र न हो तो पितामें वह रक्षकत्व आता है, अतः जो राजापन आपमें स्थित है, वही हम कहते हैं इसलिये यहां यह शङ्का ही नहीं है कि मैंने राज्य लिया और आपको देता हूं, वह तो आपका ही है यदि उग्रसेन कह दे कि मुझमें

क्रूरता नहीं है इसलिये मुझे राजाके रूपमें नहीं मानेंगे, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि आप निश्चिन्त रहो मैं भृत्य आपके पास बैठा हूं तो देवता भी आपको भेटें देते रहेंगे, जो देव मेरु आदिके संसर्गसे भोग करते हैं दूसरे राजा लोग जो केवल पृथ्वीके सम्बन्धसे भोग भोगते हैं, उनकी तो बात ही क्या है? वे तो नम्रतापूर्वक आकर भेटें देंगे. यों भी न समझना कि वे प्रसन्न होकर भेटें देकर आपके ऊपर अनुग्रह करते हैं. मनुष्य तो पृथ्वी पर रहनेवाले स्थूल शरीराभिमानी हैं, किन्तु देवता तो सूक्ष्म इन्द्रियोंके अधिकारवाले हैं. यद्यपि भगवान् सर्वके आधार हैं, तो भी अन्यको आधार बनाते हैं, जैसा कि क्रीड़ाकेलिये उन्होंने साधारण यादवत्वको आधार बनाया है. भगवान् भरण कर्ता होते हुवे भी भरेण्य[१] बनते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है कि "**भर्तासन् प्रियमाणो भवति**" जैसे साधारण यादवत्व स्वीकार किया है, वैसे ही यहां राजाका भृत्य बन जाना भी बन सकता है, जिससे वसुदेवका पुत्रत्व, यह लौकिकी भाषा है. इस प्रकार क्रीड़ा करनेसे भगवान् स्वयं गोप्य रहेंगे. मेरेलिये जो भृत्य[२] बनता है, मेरे अभिप्रायके अनुसार जो उस स्थान पर बैठकर सेवा[३] करता है, वैसे आप राजाको भी देव आदि सर्व भेंट(कर) देंगे. इस प्रकार उग्रसेनका निरोध किया. यदि ऐसा न करते तो वह अतिविरक्त होनेसे कदाचित् ज्ञानकेलिये प्रयत्न करते. इसलिये उनका भगवान्ने निरोध किया ।।१४।।

१.भरण करनेके योग्य. २.सैर आधिभौतिक सद्रूप जगत्का भृत्य. ३.मेरे सत् रूप जगत्की सेवा.

आभासार्थ : भगवान्ने उग्रसेनको अपने स्वार्थकेलिए राजसिंहासन पर बिठाया, यह कार्य भगवान्केलिए ही है, इस प्रकार निरोध किया. सर्वका साधारण निरोध 'सर्वान्' इस श्लोकसे पांच श्लोकोंमें कहते हैं:

सर्वान् स्वज्ञातिसम्बन्धादिगभ्यः कंसभयाद् गताान् ।
यदु–वृष्ण्यन्धक–मधु–दाशार्ह–कुकुरादिकान् ।।१५।।

श्लोकार्थ : भगवान्ने अपने भक्त, ज्ञाति वाले तथा सम्बन्धी, कंसके भयसे व्याकुल होकर दूसरी दिशाओंमें चले गए थे और इसी प्रकार जो यादव, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि कुलके थे, उन(१६ श्लोकसे अन्वय है) सबको बुलाकर मथुरामें अपने–अपने घरोंमें बसाया ।।१५।।

व्याख्यार्थ: 'स्व' शब्दसे भक्त, 'ज्ञाति' शब्दसे गोत्रवाले, कहे हैं. 'सम्बन्धी' शब्दसे वे समझते जिससे कन्याका लेनदेनका सम्बन्ध है. अथवा

'सम्बन्धी' शब्द भ्रातृगण समझने. कारण कि वसुदेवके बहुत पुत्र थे और पिता आदि भी बहुत थे. ये तीन [१]प्रकारके थे, पृथक्-पृथक् दिशाओंमें गये हुवे थे. उनको वहांसे बुलाकर अपने[२] घरोंमें ठहराया. कंसके भयसे यह विचारकर चले गये कि पुनः यहां लौटना नहीं है. इसलिये देशका नाम न कहकर 'दिक्' शब्द दिया है. वैसा विचार क्यों किया? तो कहते हैं कि यह लोकमें प्रसिद्ध ही है कि कंस बहुत क्रूर स्वभाववाला है, अतः नन्दजीने भी कहा है कि, 'जिसने अपनी बहिनके छोटे बच्चोंको भी मार डाला, इसीलिये सबको यह एक ही भय है. यादव छः प्रकारके गिने जाते है. जैसे यदु, वृष्णि, अन्धक आदि. 'आदि' शब्दसे दिखाया कि यादवोंके अन्य भी बहुत भेद हैं अथवा उनके सम्बन्धी हैं ।।१५।।

१.सात्विक, राजस और तामस. २.१६वें श्लोकसे अन्वय है.

आभासार्थ : बुलाकर केवल पूर्व सिद्ध ही नहीं दिया, किन्तु अधिक भी दिया जिसका वर्णन 'सभाजितान्' श्लोकमें करते हैं:

सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् ।
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ।।१६।।

श्लोकार्थ : विदेशमें रहनेके कारण दुर्बल हुओंको धन देकर प्रसन्न किया और आदरपूर्वक विश्वास कराके अपने घरोंमें लाकर निवास कराया ।।१६ ।।

व्याख्यार्थ: कंसके भयसे विदेशोंमे गये हुवे यादवोंके तीन प्रकारके दुःखोंको भगवान्ने निवृत्त किये, उनका सत्कारकर मानस दुःख दूर किये. आश्वासन देनेसे वाणीके दुःखोंको मिटाया तथा विदेशमें रहनेसे धन आदिसे दुर्बल दीन बने हुवे यादवोंको आगेसे भी विशेष धन देकर कायिक दुःख नष्टकर अपने-अपने घरोंमें बसाया. राज्यमें स्थित धन तो खानेसे नष्ट हो गया फिर कहांसे इतना धन दिया? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आप 'विश्वकृत' हैं, उनको थोड़ा सा, धन देनेमें क्या है? कुछ नहीं, अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं ।।१६।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवान्ने दुःख मिटाया और सुख दिया, इन दोनोंका निरूपण हुआ. अब उनकी प्रपंच विस्मृति और भगवान्में आसक्ति कहनी है, कारण कि स्वरूपमें आगए हैं अर्थात् वे अब सर्व प्रकार सुखी हो गए हैं. स्वस्थ ही सर्वत्र अधिकारी होते हैं उनके ये घर अब आगे वाले लौकिक नहीं रहे हैं, किन्तु भगवान्के दिए हुए हैं, अतः अलौकिक हैं. वे लौकिक घर तो

चिन्ता उत्पन्न करने वाले थे. अब इन घरोंमें चिन्ता नहीं, राजस विषयोंसे ही आसक्त होते हैं. अतः प्रथम उनको भगवान्‌के दिए हुए विषय भोगका वर्णन करते हैं. यह ही प्रपंचकी विस्मृति है, उसका तथात्व(वैसा ही पन) निरूपण करनेके पश्चात् भगवदासक्ति निरूपण की जाती है और जिसका फल कालका अतिक्रम है. यों राजस होनेसे फल भी निरूपण किया जाता है किन्तु वह फल लौकिक है, जिसका प्रथम 'कृष्ण संकर्षण' श्लोकसे वर्णन करते हैं:

कृष्णसङ्कर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामागतज्वराः ।।१७।।

श्लोकार्थ : बाहरसे बुलाए गए यादव श्रीकृष्ण एवं बलरामजीसे सुरक्षित होकर सर्व प्रकारसे सिद्ध मनोरथ हुए. श्रीकृष्ण तथा रामके मिलनेसे उनके सब दुःख मिट गए, जिससे वे आनन्दित होकर घरोंमें रमण करने लगे ।।१७ ।।

व्याख्यार्थ: कृष्ण फलरूप हैं और बलरामजी जीवको ब्रह्मकी तरफ खींचते हैं. अतः वह साधनरूप हैं, उन दोनोंको क्रिया शक्तियें सर्व फलको सिद्ध करनेवाली होनेसे नियमसे फल देनेवाली हैं. अतः वे सब रक्षित तथा पूर्ण मनोरथवाली हैं अर्थात् उनके दुःख मिट गये और उनको सुखकी पूर्ण प्राप्ति हुई. आगे भी भय न हो, इसलिये रक्षण है. यदि रक्षण न किया जावे तो अब भी भयका अनुभव हो रहा है, क्योंकि कंसके सम्बन्धी जरासंध आदि विद्यमान(मौजूद) है.

भगवान्‌से रक्षित होनेके कारण निश्चिन्त[१] बन घरोंमें रमण करने लगे. यह रमण, मुक्ति मिलनेके अनन्तर मिलनेवाले सुखके समान है, इसलिये कहा है कि 'सिद्ध' है अर्थात् उनका यह रमण निष्काम है. कामनाओंसे पीड़ित होकर रमण नहीं करते हैं. इनको सिद्ध इसलिये भी कहा है कि जो आध्यात्मिक ताप मुक्तोंको भी होता है, वह भी इनको नहीं होता है, कारण कि इनके ये ताप कृष्ण तथा रामने नष्ट कर दिये हैं. कृष्ण और राम फल तथा साधनरूप हैं, अथवा भगवान्‌के दिये हुवे संसारमें उनका रमण कहकर फिर निरोधकेलिये उनका निषेध करते हैं. उनमें कृष्ण और रामके मिलनेकेलिये ज्वर[२] उत्पन्न हुआ है, शेष ज्वर नष्ट हो गये हैं. ये भी गोपिकाओंके समान विरहसे सदैव आतुर रहते हैं. गोपियोंका तो गुणों द्वारा भी रमण होता है. इनको तो वह भी नहीं है, इसलिये दोनोंका ग्रहण है ।।१७।।

१.अन्दर और बाहर दोनों प्रकारसे चिन्ता रहित, २.ताप.

आभासार्थ : इसको सिद्ध करनेकेलिए भगवान्की आसक्तिका निरूपण 'वीक्षन्तो' श्लोकमें करते हैं:

वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम्।।१८।।

श्लोकार्थ : नित्य आनन्दसे पूर्ण, शोभा युक्त, दया सहित मंद हास्य पूर्वक दृष्टिवाले श्रीकृष्णचन्द्रके मुख कमलको देखनेसे प्रसन्न हो गए हैं।।१८।।

व्याख्यार्थ: प्रतिदिन श्रीकृष्णके मुख कमलको देखते हुवे प्रसन्न होते हैं. कारण कि प्रतिक्षण नवीन आनन्द प्राप्त होता है, अतः वास्तविक ज्ञानके अभाव होते हुवे भी वस्तु सामर्थ्यसे ही भगवान्के मुखारविन्दका दर्शन नूतन-नूतन रस उत्पन्न करता है. वह रस नित्य नूतन है, अतः प्रीति भी नित्य नूतन ही होती है. निःसन्देह(बिना संशय अर्थात् सचमुच) रसका ही यह स्वभाव है. प्रथम तो चाहके कारण प्रीति होती है. वस्तुमें कोई रस नहीं विषयके बलसे उत्पन्न प्रीति सर्वदा ही होती है, इससे ही लौकिकमें पाचककी विद्यामें रस प्रसिद्ध ही है. ''रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती इति श्रुतेः'' वह निश्चय रस है, रसको प्राप्तकर आनन्दवाला होता है. श्रुतिमें 'हि' शब्द देनेका भाव यह है कि लोक तथा वेदमें यह बात सिद्ध ही है कि 'रस'से आनन्द प्राप्त होता है. यदि यों न हो तो जो श्रुति कहती है कि 'आनन्दमेव प्राप्य आनन्दी भवति' आनन्दको प्राप्तकर आनन्दवाला होता है, इस कारणसे ही काम शास्त्रका उपयोग होता है. सहज काम तो इन्द्रियोंके समान केवल आकाङ्क्षावाला होता है, जो किसी प्रकार पुरुषार्थको सिद्ध नहीं कर सकता है.

यों भी शङ्का नहीं करनी कि यहां विषयपनके कारण आसक्ति होनेसे वह बन्धनकारक होती है, इस पर कहते हैं कि बन्धन कारक नहीं होगी, क्योंकि 'मुकुन्दः' मुक्ति देनेवाले हैं:

यह भी शङ्का नहीं करनी कि कदाचित् मुखारविन्द जो रसरूप है, वह रसरूप तिरोहित हो जावे तो फिर आनन्दित न होंगे, कारण कि वह(मुखारविन्द) नित्य रससे प्रमुदित रहता है, अतः रस पूर्वक आनन्द देता है, तो फिर रूप आदिकी अपेक्षासे अन्यमें आसक्ति होगी. यद्यपि भगवान्ने विषय दिये, किन्तु श्रुति कहती है कि काम समुद्र है. समुद्रके समान काम है, जिससे जैसे समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसे कामका भी अन्त नहीं होता है. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि

रूपादिकी अपेक्षासे भी अन्यासक्ति न होगी, क्योंकि आप लक्ष्मी युक्त होनेसे सर्व विषयरूप हैं, जिससे अन्यासक्ति न होगी, सर्व लौकिक सिद्धि हो जावे तो धर्म, ज्ञान और भक्तिकेलिये अन्यकी आसक्तिकी अवश्य अपेक्षा रहती है, इस प्रकारकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आपका मुखारविन्द सदा ही दया, मन्दहास्य, वीक्षण युक्त है. जिससे दिखाते हैं कि मुझमें दया है, वह धर्मरूप है, 'मन्दहास्य' भक्तिरूप है, 'वीक्षण' ज्ञानरूप है, ये तीनों मुखारविन्दमें हैं. अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनोंका सिद्धिकेलिये भी दूसरेकी अपेक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं है. अर्थात् सर्वकी सिद्धि मेरे मुखारविन्दसे हो जाती है तो दूसरेकी अपेक्षा क्यों की जावे ।।१८।।

आभासार्थ : इस प्रकार निरुद्धोंके 'कालातिक्रमण'का वर्णन इस 'तत्र प्रवयसो' श्लोकमें करते हैं:

तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः ।
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ।।१९।।

श्लोकार्थ : वहां मुकुन्दके मुखकमलकी सुधाको बार-बार आंखोंसे पीते हुए, बूढ़े भी जवान और अतिशय बलवान् बन गए ।।१९ ।।

व्याख्यार्थ: आगे कालका अतिक्रम न होगा, यों कहना ही नहीं चाहिये. जिस विषयको कालने ग्रस लिया है, उसको कालके मुखसे निकालते हैं, उसको कहते हैं कि जिन पुरुषोंके अन्दरका बल और शरीरकी कान्तिको कालने ग्रसकर उनको वृद्ध बना दिया था उनको पुनः बल तथा कान्ति देकर युवा बना दिये. यों यह अलौकिक बलसे किया होगा? तो कहते हैं कि नहीं, वे बूढेसे युवा कृष्णके मुख कमलकी सुधाको आंखोंसे पीकर हो गये हैं. इस पर यह शङ्का होती है कि सुधा भी कालसे छुड़ा नहीं सकती है, क्योंकि अमृत पीनेवाले देव गण भी कालके ग्रास होते ही है. इस शङ्काको भी मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'मुकुन्द' श्रीकृष्ण मुक्ति दाता हैं, जो मुक्तिमें अपने स्वरूपका दान करते हैं वह कालका अतिक्रम कराता ही है. उसमें भी आपका 'मुख' मुख्य है, उसमें भी वह अम्बुज(कमल) होनेसे सर्व तापोंका नाशक है. स्वभावसे ही वैसे धर्मवाला है, वहां(मुखमें) रही हुई 'सुधा' अलौकिक ही है, इसलिये सुधासे कालने जिनको ग्रस लिया है, उनका फिर उत्पन्न होना युक्त ही है. फिर उसमें भी उस सुधाका बार-बार पान करना तो उनका अमृतमय बनाना योग्य ही है. जो सुधा अमृत मय बना देती है, वह सुधा

अति बलिष्ट युवा बना दे तो कुछ बड़ी बात नहीं है ।।१९।

आभासार्थ : इस प्रकार सर्वका निरोध कहकर नन्द आदिको व्रजमें रवाना करते, तामसोंके भी उत्कर्ष कहनेकेलिए राजस प्रकरणमें 'अथ नन्दं' श्लोकसे छः श्लोकोंमें विशेष वर्णन करते हैं:

अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः ।
सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ।।२०।।

श्लोकार्थ : हे महाराज! फिर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी नन्दरायजीके निकट आ, आलिङ्गन कर यह कहने लगे ।।२० ।।

व्याख्यार्थ: भगवान्ने ही छः गुणोसे उनको जबर्दस्तीसे रवाना किया, यों नहीं करते तो वे गोकुल नहीं जाते.

संभाषणार्थमुद्योगः पूर्वस्थापनमेव च
निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापनं ततः ।
दानं च प्रीतिसंसिद्ध्यै गमनं चापि रूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : संभाषणकेलिए उद्योग, पुत्रत्वकी स्थापना दुःखोंका निराकरण, जानेकी आज्ञा, प्रेमकी सिद्धिकेलिए दान और गमन, इनका निरूपण किया जाता है ।।१ ।।

व्याख्यार्थ: अन्य विषयका प्रारम्भ होता है, अतः 'अथ' शब्द श्लोकके प्रारम्भमें दिया है. पूर्वमें प्रामाणिकत्व, दासत्व स्वामित्वका निरूपण किया, पश्चात् सम्यक् प्रकारसे स्थानकी सिद्धिकेलिये नन्दके समीप दोनों भाई आये. भगवान्की इच्छा बलिष्ठ होनेके कारण, सुन्दर रीतिसे आकर पूर्वकी तरह पुत्रकी प्रतीति दृढ बनाई, क्योंकि वैसा न करते तो नन्दके मनमें शङ्का रह जाती, वह न रहे, इसलिये यों मनहर ढङ्गसे आकर पुत्र प्रतीति दृढ़ बना दी. प्रत्यक्ष देखते हुवे भी शङ्का कैसे मिटी? तो कहते हैं कि 'भगवान्' अन्यथा करनेमें समर्थ हैं, अतः वसुदेवको पिता समझ उसके पास जा रहे हैं. यह प्रत्यक्ष देखकर भी नन्दकी शङ्का मिट गई. वही पूर्ववत् पुत्रकी प्रतीति होने लगी. नन्दरायजीको गोकुल रवाना करना है, इसलिये सङ्कर्षणको साथ लाये हैं. दोनों अन्यके पुत्र होनेसे समान ही हैं अतः भाव भी समान ही दिखाने लगे. इस प्रकार क्यों किया? गोकुल पर्यन्त साथ क्यों न गये? इस पर कहते हैं कि यह कृष्ण तो देवकीके पुत्र हैं वह कैसे जायें? बलभद्र क्यों न गया? वह सङ्कर्षण है अर्थात् देवकी पुत्र है,

योगमाया देवकीके गर्भसे खींचकर वहां स्थापितकर आई थी इसलिये श्लोकमें 'च' शब्द दिया है. इसको रोहिणी सुत क्यों कहा जाता है? इस पर कहते हैं कि रोहिणीके गर्भमें देवकीके गर्भसे खींचकर स्थापित किया गया था. इस धर्मकी सूचना करनेकेलिये 'सङ्कर्षण' नाम यहां दिया गया है. राजाको 'राजेन्द्र' यह सम्बोधन यह जतानेकेलिये दिया है कि महती मन्त्रणा करनेवाले राजाओंका यह धर्म है. आलिङ्गन करनेका भाव कहते हैं १.विरह मिट जावे, २.अपने धर्म नन्दमें स्थापित हो जावे, बालक दूरसे पिताको देखता है, तो त्वरासे आकर आलिङ्गन करता है 'इदं' पदका जो आशय है, वह आगे कहना है।।२०।।

आभासार्थ : वह ही 'पितर्युवाभ्यां' श्लोकमें कहते हैं:

रामकृष्णावूचतुः

पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।
पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ।।२१।।

श्लोकार्थ : राम और कृष्ण कहने लगे कि हे पिता! आपने स्नेहके साथ चिर काल तक हमें पाला और पोषा, अपने पुत्रों पर माता-पिता जैसी प्रीति रखते हैं, उससे अधिक प्रीति आपने हम पर रखी है ।।२१ ।।

व्याख्यार्थ: प्रथम, जो पहले पालन किया है उसकेलिये नम्र प्रार्थना पूर्वक प्रशंसा करते हैं. हे पिता इस प्रकारके सम्बोधनसे पूर्वकी तरह उपकारको प्रकट करते हैं. हम दोनोंको आप दोनों(नन्द-यशोदाजी)ने अच्छी तरहसे प्रेम पूर्वक पाला है और दुलार किया है, क्योंकि आप स्वयं प्रेमी हो. जैसा जन्म देनेवाला वैसा ही पालन करनेवाला पिता है. उसका विवेचन करते हैं कि धर्मकेलिये भी पालन होता है अर्थात् मैं पिता हूं, इसलिये मेरा धर्म है कि पालन करना, यों समझ पालन किया किन्तु आपने तो स्नेह पूर्वक पालन किया, धर्म समझकर नहीं किया. यदि आप कहो कि स्नेहसे पालन तो भ्राता आदिका भी होता है, तो जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आपने केवल पालन नहीं किया, किन्तु पुत्र समझ लाड़ भी लड़ाया. लाड़ तो भ्राताके पुत्रोंको भी लड़ाया जाता है, इस पर कहते हैं कि वह लाड़ लड़ाना अल्प होता है, हमको तो आपने बहुत दुलारसे लाड़ लड़ाया हैं, यहां तक अपने शरीरसे भी विशेष लाड़ हमको लड़ाया. इस प्रकारका दुलार वा प्यार पुत्रसे ही होता हैं. किञ्च आपने यह लालन केवल बाहर दिखावटी नही किया है, किन्तु आन्तरिक प्रेमसे पितासे भी अधिक लालन किया

है. अपनेसे भी विशेष प्रीति(प्रेम), माता-पिताकी पुत्रोंमें ही होती है. श्लोकमें 'आत्मजेषु' पद देकर यह बताया है. इसी प्रकारका प्रेम क्षेत्रज पुत्रोंमें नहीं होता है, कारण कि श्रुति कहती है कि ''प्रजा अन्तरतर आत्मा है'' जिससे पिता-माता अपना अनिष्ट ही उसको परवाह नहीं करते हैं, किन्तु प्रजाका किञ्चित् मात्र अनिष्ट न हो यही चाहते हैं, इसलिये श्लोकमें 'हि' शब्द देकर कहा है कि यह निश्चय ही है ।।२१।।

आभासार्थ : यदि आप कहो कि जो कुछ कह रहे हो वह सहज पुत्रमें स्नेह आदि होते हैं किन्तु 'कृत्रिम'में नहीं होते हैं, तो उसके उत्तरमें मेरा यह कहना है, वह वर्णन 'स पिता सा च जननी' श्लोकमें करते हैं:

स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ।।२२।।

श्लोकार्थ : पालन करनेमें असमर्थ बान्धव(पिता, माता और भ्राता आदि) जिन बालकोंका त्यागकर देते हैं, उन बालकोंका जो प्रेमसे पालन करते हैं, वे ही सच्चे माता-पिता हैं ।।२२ ।।

व्याख्यार्थ: पितापन वा पुत्रपन ये दोनों अन्नके विकार हैं. आत्मापनसे ग्रहण किया हुआ अन्तः कोश है. अन्न तो साधारण कारण है. उसमें(शरीरमें)यदि दूसरा कोई अभिमान करे अर्थात् दूसरा कोई अपना अधिकार कहे तो वह उसका अन्न खिलानेवालेका हो सकता है. अन्न साधारण कारण है, यदि वैसा न होवे तो अन्यसे उत्पन्न भर्तामें एवं पत्नीमें परस्पर अपनेसे अधिक प्रेम न हो, किन्तु होता है. आपका मुझमें कितना विशेष स्नेह है, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीलामें हो गई है. जो आंखों देखी है, उसमें कुछ भी शङ्का नहीं है. स्नेह तथा अनुभवसे हममें पुत्रत्व सिद्ध ही है. शङ्का नहीं करनी कि यदि तुम पुत्र हो तो लोकेमें प्रसिद्धि क्यों नहीं है? पुत्रकी तो स्नेहके अभावमें भी प्रसिद्धि है, क्योंकि लोकमें वह भी प्रसिद्ध है, जो स्नेहसे स्वपुत्रवत् जिसका पालन करते हैं वे ही उसके माता तथा पिता हैं. एक पालन करे तो सेवा आदि कहा जावे, किन्तु दो या बहुत करे तो वह उपचार नहीं कहाता है. जिसमें भी पालना करते समय भीतर तथा बाहरका भाव, लोक जैसा पुत्रमें ही देखता है, वैसा अपने हृदयमें होता है. तात्पर्य यह है कि पोषण कर्ता जिस भीतर तथा बाहरके भावसे पालन करता है उसका प्रभाव पुत्र पर, लोक पर एवं पालन कर्ताके हृदय पर वैसा ही दीखता है. उसमें भी विशेषता

यह है कि सर्व बान्धवोंसे हम त्यागे हुवे हैं. उनका आपने पालन पोषण किया है, यह त्याग, दानरूप है. यहां पोषण और रक्षण साथमें ही कह दिये हैं. वे बान्धव एक भी करनेमें सर्वथा असमर्थ थे. न पोषण और न रक्षण कर सकते थे, वैसी अवस्थामें आपने दोनों किये हैं, अतः आप हमारे माता–पिता हैं ।।२२।।

आभासार्थ : इस प्रकार नन्दजीका पूर्व ही सिद्ध पितापन स्थापनकर और सब कुछ अर्पण कर पश्चात् इस श्लोक 'यात यूयं'में जानेकी आज्ञा देते हैं:

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ।।२३।।

श्लोकार्थ : हे तात! आप सब व्रजको पधारें, हम भी स्नेहसे दुःखित जातिवालोंको तथा आपको देखनेकेलिए इन बान्धवोंको सुखदेकर वहां आवेंगे ।।२३ ।।

व्याख्यार्थ: आप सब गोप व्रजमें जाओ, हम कार्यकेलिये अन्यत्र जावेंगे यह 'च'का आशय है. आप कहां जावेंगे वैसी शङ्काके उत्तरमें गुप्त प्रकारसे कहते हैं, क्योंकि देव सदा ही परोक्ष प्रिय होनेसे गुह्य ही करते हैं. हमारे जो आप जातिवाले हो, उनको देखनेकेलिये आवेंगे, यों कहकर गोपोंमें आत्मभाव स्थापन किया है. जिससे उनमें सर्वात्म भावकी सिद्धि की है, अतः वे ही जातिवाले होते हैं, जो यादव कुलमें जन्मे हैं, अथवा 'वयम्' कहकर यह बताया कि हमारे पुत्र आदि सब आपके ही हैं, हम आपके ही जातिवाले हैं, आप हमारी जातिके हैं, यह विशेष वर दिया. इस कारणसे ही भगवान् आज तक 'गोकुल के' कहे जाते हैं. विवाहादि भी बलसे ही होते हैं. भगवान्की इच्छासे सर्व लोकमें भी इस प्रकारकी प्रतीति हो रही है. रुक्मीने भी हमारेलिये कहा है कि आप 'गोप' हैं, उपासना काण्डमें भी 'वैसे ही' मन्त्र हैं, इस कारणसे आप ही जातिवाले हैं, तो भी ये भी सुहृद् हैं, इसलिये इनको सुख देकर पीछे जाऊंगा. जातिवालोंको देखनेकेलिये ही आऊंगा, न कि गोकुलमें आऊंगा जिसका वर्णन भगवान् ''गतांश्चिरायीतान् शत्रुपक्ष क्षपण चेतसः'' श्लोकमें करेंगे. हमारे आनेका कारण केवल यह है कि स्नेहसे आपको मेरे विरहसे दुःख होगा, जिसको मिटानेकेलिये ही मैं आऊंगा, न कि अन्य कोई भय होगा, यह भाव है ।।२३।।

आभासार्थ : इस प्रकार तीन अलौकिक कहे, लौकिक भी बहुत दिए, जिसका वर्णन 'एवं सान्त्वय्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

श्रीशुक उवाच

एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युतः ।
वासोलङ्कारकुप्याग्रैरर्हयामास सादरम् ।।२४।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार भगवान्ने व्रज सहित नन्दरायजीको सन्त्वना दे, वस्त्र, आभूषण, कांसे-पीतल आदिके बर्तन देकर आदर सहित उनकी पूजा की ।।२४ ।।

व्याख्यार्थ: 'भगवान्' विशेषण देकर बताया है कि यह अङ्गीकार करनेमें समर्थ है. इतना जो द्रव्य दिया वह प्रथम कहां रखा था? ये तो खेलकेलिये वहां गये थे, वे और सेवक साथ थे, उनके पास स्वामीकी अभिलाषा पुरी करनेकी इच्छानुरूप सामग्री कैसे आई? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अच्युतः'. आप अच्युत हैं, आपमें कभी भी, किसी धर्मको भी च्युति(कमी) नहीं होती है. यदि आप पूर्व धर्मका त्याग करें तो धर्मसे च्युत हो जावें. आपने केवल गोपों की पूजा नहीं की, किन्तु सारे व्रजका सत्कार किया. स्त्री और पुरुष सबकेलिये वस्त्र तथा आभरण दिये एवं सोने, चांदी, पीतल आदिके पात्र जो घरके काममें आने लायक थे वे सब आदरके साथ एक-एकका नाम लेकर दिये जैसे गृहस्थी दहेजमें देते हैं वैसे दिये राजाकी तरह नहीं दिये ।।२४।।

आभासार्थ : दानके पश्चात् वे चले गए? इस ँशङ्का मिटानेलिए 'इत्युक्त' यह श्लोक कहा है:

१. यों कहनेका आशय यह है कि जनता इस प्रकार शंकाशील न होवे कि नन्दजी प्रेमके कारण नहीं रुके थे, किन्तु दान लेनेकेलिए रुके थे.

इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सहगोपैर्व्रजं ययौ ।।२५।।

श्लोकार्थ : इस प्रकारके भगवान्के वचन सुनकर प्रेमसे व्याकुल हुए नन्दरायजी नेत्रोंसे आंसूओंकी धारा बहाते हुए उन दोनोंकी आलिङ्गनकर गोपके साथ व्रजको पधारे ।।२५ ।।

व्याख्यार्थ: राम और कृष्ण दोनोंका आलिङ्गनकर नन्दजी प्रेम विभोर हो गये. भगवान्के दिये हुवे सर्व प्रकारके पदार्थोंसे पूर्ण होनेसे कुछ भी बोल न सके. पश्चात् आंसुओंसे नेत्रोंको भरते हुवे गोपोंके साथ व्रजको सिधारे. भगवान्ने गोपोंको भी रवाना किया, किसीको भी मित्रकी भांति वहां नहीं रखा ।।२५।।

आभासार्थ : इस प्रकार इनके निरोधका वर्णन कर वेदसे भगवान्का भी निरोध 'अथ' श्लोकमें कहते हैं:

अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम् ।।२६।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! फिर वसुदेवजीने पुरोहित और ब्राह्मणोंको बुलाकर पुत्रोंका वेदकी विधिके अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार कराया ।।२६ ।।

व्याख्यार्थ: उपनयन संस्कारका विषय सम्बन्धी वर्णन, अध्याय समाप्ति पर्यन्त चलेगा, जिसमें प्रपञ्च विस्मृतिको पांच श्लोकोंसे कहते हैं, बाकी बचे हुए श्लोकोंमें वेदार्थमें आसक्ति कहनी चाहिये.

सर्व कार्य सिद्ध हो जानेके बाद शूरसेनके पुत्र वसुदेवजीने शिशिर ऋतुमें पुत्रोंका उपनयन संस्कार अच्छी तरह कराया, कैसे और किनसे कराया ? वह कहते हैं कि अपने पुरोहित गर्ग और अन्य ब्राह्मणोंसे कराया. क्षत्रियोंको उपदेश करने वाला पुरोहित ही होता है. वसुदेव न कहकर 'शूरसुत' कहनेका भावार्थ यह है कि 'शूरसेन' जो पितामह है, उसकी प्रधानता दिखानेसे मातामह की प्राधनता कम कर दी है. यह संस्कार विधिके अनुसार अर्थात् अपने 'गृह्यसूत्र' में कही हुई विधिके अनुसार कराया. यज्ञोपवीत संस्कारको द्विज संस्कार कहा जाता है, क्योंकि इस संस्कारसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णको 'द्विज' पदवी प्राप्त होती है, जिससे वैदिक कर्म करनेका अधिकार होता है । चूड़ाकरण संस्कार तो पूर्व ही हो गया है, यह 'काक पक्ष धरौ' इस वचनसे ज्ञात होता है। उपनयन संस्स्कार अब किया है, 'द्वादशे पशु काम' इस वचनानुसार संवत्सरका विचार किया जावे तो एकादश ही होता है अतः यहां 'काम्यका अतिक्रम हो जानेके कारणसे प्रायश्चित कराके 'संस्कार' कराया गया है, किन्तु प्रायश्चित कराके संस्कार कराया गया इसको आचार्यश्री स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् हैं ।।२६।।

आभासार्थ : इसके बाद ब्राह्मणोंको उत्सवके कारण तथा कर्मकी दक्षिणाकेलिए दान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्योऽदाद्दक्षिणा' 'याः कृष्ण' श्लोकोंमें करते हैं:

तेभ्योऽदाद् दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।
स्वलङ्कृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ।।२७।।
याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।

ताश्चादादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ।।२८।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणोंको अच्छी तरहसे अलंकृत कर पूजन किया और उनको सुवर्णकी माला आदिसे अलंकृत कर बछड़ोंवाली रेशमी वस्त्रसे आच्छादित गौ, जो वसुदेवजीने श्रीकृष्ण तथा रामके जन्मके समय मनसे संकल्पित की हुई थी और जिनका कंसने अधर्मसे हरण किया था, उनको दक्षिणाके साथ दानमें दे दी।।२७,२८ ।।

व्याख्यार्थ: गौ आदि दक्षिणा दी अथवा जो दक्षिणा गौ दान करने पर दी जाती है वह भी दी, वे गोएँ सुवर्णकी मालाओंसे तथा आभूषणोंसे एवं वस्त्रादिसे अलङ्कृत की गई थीं. इसी प्रकार ब्राह्मण भी भूषण तथा वस्त्र आदिसे सुशोभितकर पूजे गये. अनन्तर वे बीस हजार गौएँ विधि पूर्वक दे दीं. क्यों दी? जिसका वर्णन करते हुवे कहते हैं कि राम और कृष्णके जन्म समयमें और दूसरे समयमें भी जो गौ देनेकेलिये महामना वसुदेवजीने मनसे सङ्कल्प किया था, उसको स्मरणकर वे ब्राह्मणोंको दानमें दीं. वसुदेवजीने इतनी गोएँ अब कहांसे लाकर दी? इसके उत्तर में कहते हैं कि कंसने जब वसुदेवजीका घर लूटा था, उस समय वसुदेवजी की गोएँ भी ले गया था. अब कंसके नाश हो जाने पर फिर वे वसुदेवजीको मिल गईं, अतः बीस हजार गौएँ दे दीं ।।२७-२८।।

आभासार्थ : उसके बाद अन्यसे निरोध कराया, तो भी स्वतः(अपने आप) भी करना चाहिए, इसलिए पूर्व जो सिद्ध उन सबका त्याग रूप व्रतात्मक नियम आप दो ही करने लगे, जिसका वर्णन दो श्लोकोंसे करते हैं:

ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ ।।२९।।

श्लोकार्थ : दोनों भाई उपनयन संस्कारसे द्विज बनकर यदुकुलके आचार्य गर्गजीसे दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य नियम पालनके साथ गायत्री व्रतमें स्थित हुए ।।२९।।

व्याख्यार्थ: ग्रहण और समर्थन भेदसे दो प्रकारके जो संस्कार हैं, उनको कर और उनके बाद संस्कारसे दिनको छोड़, तीन दिन, छः मास अथवा संवत्सर पर्यन्त वेदव्रतका अथवा ब्रह्मचर्य नियमोंका पालन करने लगे. यदुकुलके ही आचार्य 'गर्गजी' थे, इसलिये उनसे गायत्री व्रतकी दीक्षा लेकर उसमें स्थित हुवे ।।२९।।

आभासार्थ : यह गायत्री व्रत काम्य है, क्योंकि इससे सरस्वतीकी स्फूर्ति

होती है, किन्तु यहां वह काम्यत्व अनुपयोगी है तो फिर व्रतमें क्यों स्थित हुए? इस शंकाके होनेपर यह 'प्रभवौ' श्लोक कहते हैं:

प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ।।३०।।

श्लोकार्थ : दोनों भाई सर्व विद्याओंको उत्पन्न करनेवाले तथा सर्वज्ञ एवं जगदीश्वर हैं, तो भी मनुष्य लीला करनेके कारण स्वतः सिद्ध स्वच्छ ज्ञानको गुप्त रखते थे ।।३० ।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि 'दोनों भाई' समस्त विद्याओंके उत्पत्तिके स्थान हैं, अतः उनको विद्याकी अपेक्षा नहीं है, कारण कि स्वतः सर्वज्ञ हैं. ज्ञान न भी हो, तो भी ये जगदीश्वर हैं, कर्तुम्, अकर्तुं, तथा अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं. उनमें क्रिया शक्ति सबसे उत्कृष्ट है. वैसे भी इनमें जो ज्ञान है, वह दूसरोंसे सिद्ध नहीं है, किन्तु स्वतः सिद्ध है तो भी उसको गुप्त रखते हैं. कारण कि मनुष्य लीलाका नाट्य कर रहे हैं, जिससे ही गायत्री व्रतमें स्थित हुवे हैं. ब्रह्मचर्यके नियम पालते हैं. सर्वज्ञता ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह कृत्रिम भी होती है. इसकी निवृत्तिकेलिये अर्थात् वह दिखानेकेलिये कि इन दोनोंमें सर्वज्ञता कृत्रिम नहीं है श्लोकमें 'न अन्य सिद्ध' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि इनमें जो सर्वज्ञता है वह दूसरोंके द्वारा सिद्ध नहीं है, किन्तु सहज है ।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार प्रपञ्चकी विस्मृति करनेवाला निरोध कहकर अब आसक्तिरूप निरोध 'अथो' इस श्लोकसे लेकर बीस श्लोकोंमें कहते हैं:

अथो गुरुकुले वासम् इच्छन्तावुपजग्मतुः।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : अनन्तर गुरुकुलमें वास चाहते हुए दोनों भाई उज्जैनके वासी सांदीपनि नाम गुरुके पास गए, जिसको काश्य भी कहते हैं ।।३१ ।।

व्याख्यार्थ: गुरुकुलमें रहकर अवश्य विद्या ग्रहण करनी चाहिये, अतः गुरुकुलमें रहनेकी इच्छावाले हुवे. आप ईश्वर थे, इसलिये गुरु वहां आकर उपस्थित हो गये वा भगवान्ने किसीकी कल्पना कर ली, इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहा कि 'काश्यं जग्मतुः' काश्य गोत्रमें अथवा काश्यप गोत्रमें उत्पन्न संदीपन ऋषिके पुत्र सांदीपनिके पास अवन्ती नगरोंमें गये. 'काश्य'को एक देशमें ग्रहण करनेसे 'काश्यप' गोत्रमें उत्पन्न अर्थ होता है, अथवा 'काश्यः'

स्वतन्त्र गोत्र प्रवर्तक ऋषि, 'काश्यः कुत्सो गृत्समदः' इससे गृत्समद शौनक है, वैसे 'काश्य'से भी ब्रह्मवंशका जन्म हुआ है, जो कि विशेष स्पष्ट यहां नहीं कहा है तो भी विचार करनेसे यों समझा जाता है. कितने ही ऋषि पिताके नामसे प्रसिद्ध हुवे हैं, अतः यहां संदीपनकी निरुक्ति की गई है कि जिससे बुद्धिका दीपन अर्थात् उद्बोधन(जागरण) अच्छा होता है. 'अवन्तीपुरी' शैव है, क्योंकि यह 'महाकाल' भगवान्का स्थान है, अतः वहां भी काशीकी तरह मुक्ति होती है. सांदीपन उस तीर्थ पर रहनेसे महान् वैराग्यवाले हो गये थे ।।३१।।

आभासार्थ : वहां जाकर जिस प्रकार गुरुके पास रहना चाहिए वैसे रहने लगे. ऐश्वर्य अथवा धन देकर विद्या ग्रहण नहीं करनी चाहिए यह 'यथोपसाद्य' श्लोकमें कहते हैं :

यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ ।।३२।।

श्लोकार्थ : योग्यरीतिसे गुरुजीके पास जाकर दोनोंने इन्द्रियोंको संयममें रख, गुरुमें अनिन्दित वृत्ति धारण की और देवकी तरह भक्तिश्रद्धासे गुरुजीका आदर करते हुए विद्या ग्रहण करने लगे ।।३२।।

व्याख्यार्थ: शास्त्रोंमें 'ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व' कहकर बताया है कि गुरुके पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिये. गुरुके पास जाकर इन्द्रियसंयम धारण करते हुवे आवश्यक धर्मकी शिक्षा ग्रहण की. गुरुके पाससे जो विद्या ग्रहण की वह अनिन्दित प्रकारकी वृत्तिसे ग्रहण की. वह प्रकार बताते हैं कि गुरुकी सेवाकर, उनके पास दीन बनकर, जो विद्या ग्रहण की जाती है, अर्थात् इस प्रकार ली हुई विद्या सफल और यशस्वी होती है. आपने इस प्रकार विद्या ग्रहणकर अन्योंको शिक्षा दी है और जो विद्या, धन आदि देकर ली जाती है, वह निन्दित है, वह न फलीभूत है और न यशस्वी बनाती है.

दोनों भ्राताओंने यज्ञोपवीत धारण किया था, अतः दोनों ही गुरुके पास लाये गये और वहां रहने लगे. इसमें प्रमाण कहनेकी आवश्यकता नहीं है. गुरुजीने वैसी धृष्टता क्यों की ? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है. इसलिये श्लोकमें प्रसिद्धिवाचक 'स्म' अव्यय दिया है. इसमें युक्ति यह है कि 'भगवान्'की इच्छा वैसी ही थी. पश्चात् विद्याग्रहणके अनन्तर शास्त्रमें कहे अनुसार श्रद्धापूर्वक गुरुमें अत्यन्त आदर करते थे, बाहरसे भी प्रेम प्रकट दिखाया

तथा भक्ति धर्म भी दिखाया. गुरुके पास इस प्रकार रहे और भक्तिकी जैसे अपने इष्टदेवमें भक्ति करनेकेलिये उसके समीप रहते हैं, बाहर तथा अन्तःकरणसे भी गुरुके समीप गये, अर्थात् वहां रहने लगे ।।३२।।

आभासार्थ : अनन्तर गुरुके कर्तव्यका निरूपण 'तयोः' श्लोकसे लेकर दो श्लोकोंमें करते हैं :

तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।
प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ।।३३।।

श्लोकार्थ : ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गुरु, शुद्धभावसे की हुई उनकी सेवासे प्रसन्न हुए. जिससे छः अङ्गों सहित सम्पूर्ण चारों वेद तथा उपनिषद् विद्या, उनको पढ़ाई ।।३३।।

व्याख्यार्थ: वह गुरु ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ थे तथा सर्वधर्मोंको जाननेवाले थे. प्रथम उनके स्वरूपको नहीं जानते तो भी उनकी की हुई निष्कपट सेवा देखकर प्रसन्न हो गये. निष्कपटकी व्याख्या करते हुवे कहते हैं कि किसी प्रकारका भी लोभ अथवा कामना रखकर सेवा नहीं की, किन्तु केवल सेवासे गुरुकी कृपा हो, इतना ही चाहते थे. गुरुने समझ लिया कि ये यही कृपा चाहते हैं. गुरु हमको विद्या पढा दे. यों समझ छः अङ्गों सहित समग्र ४ वेद तथा ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् भी पढ़ा दिये. गुरु केवल उपदेश देनेवाले हैं, ईश्वर नहीं हैं ।।३३।।

आभासार्थ : अन्य प्रकारकी विद्याएं भी पढ़ाई, जिसका वर्णन 'सरहस्यं' श्लोकमें करते हैं :

सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा ।
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ।।३४।।

श्लोकार्थ : सांगवेद तथा उपनिषद् पढ़ानेके अनन्तर रहस्यके साथ धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, साम आदि न्यायके मार्ग, सांख्य-योग आदि आत्मविद्या और छः प्रकारकी राजनीति पढ़ाई ।।३४।।

व्याख्यार्थ: मन्त्रोंके रहस्योंको समझाकर धनुर्वेद पढाया. क्षत्रियोंकेलिये यह वेद प्रत्यक्ष उपयोगी है, अन्यकेलिये नहीं है. धर्मशास्त्र, साम आदि न्यायके मार्ग, साङ्ख्य-योग आदि आत्मविद्या और *छः प्रकारकी राजनीति भी सिखाई ।।३४।।

*१.सन्धि, २.विग्रह, ३.यान, ४.आसन, ५.द्वैधीभाव और ६.आश्रय.

आभासार्थ: इतनी विद्या कितने समयमें पढी? जिसका वर्णन 'सर्वं तदमरश्रेष्ठौ' श्लोकमें करते हैं :

सर्वं तदमरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ।
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ।।३५।।

श्लोकार्थ : हे नृप! देवोंमें श्रेष्ठ, समस्त विद्याओंके प्रवृत्त करनेवाले उन दोनों भ्राताओंने गुरुजीके एक बार कहते ही वह सब ग्रहण कर लिया ।।३५।।

व्याख्यार्थ: गुरुजी पढाते समय एक बार ही बताते थे. गुरुजी एक बार जितना पढाते थे, उसको ये भी उतने समयमें याद कर लेते थे. गुरुजी [१]अनध्यायके दिन पढाते नहीं थे, तो ये भी उन दिनोंमें पढते नहीं थे. पढनेके दिनोंमें सुनते ही याद कर लेते थे. राजाको 'नृप' यह सम्बोधन ध्यानसे सुननेकेलिये दिया है ।।३५।।

१.प्रतिपदा अष्टमी आदि तिथियां, जिनमें पढ़ने-पढ़ानेका निषेध है.

अहोरात्रैश्चतु:षष्ट्या संयतौ तावती: कला: ।
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ।।३६।।

श्लोकार्थ : दिन तथा रात्रिको मिलाकर, 'अहोरात्र' कहते हैं. इस प्रकार ६४ अहोरात्रमें ६४ कलाएं सीख ली थीं. उस समयमें इन्द्रियोंका संयम रखा था. हे नृप! विद्या पढनेके अनन्तर गुरुजीकी मनचाही दक्षिणा उनको दी ।।३६।।

व्याख्यार्थ: ६४ अहोरात्रमें इन्द्रियोंका निग्रहकर, विद्या ग्रहण करने लगे. जिससे उतनी ६४ कलाएं सम्यक् प्रकार ग्रहण कर लीं. एक-एक कलामें बहुत प्रकार हैं, बहुत ग्रन्थ हैं और महती शिक्षा है, तो भी प्रत्येक दिनमें एक-एक कला सीख गये. वे कलाएं शिवतन्त्रमें लिखी हैं, जिसमेंसे यहां लिखी जाती हैं.

१.गीत.-गीतके अनेक भेद हैं, जैसे कि गीत बनाने, रागोंके भेद, तान, मात्रा आदि रचने एवं कहनेकी रीति, साधक-बाधक तानोंका पूरा ज्ञान, वैसे एक गीतके भेद हैं.

२.वाद्य.-इसी प्रकार चार प्रकारके वाद्योंके, बजानेका ज्ञान प्राप्त करना, उनके आधारका ज्ञान, उनके भेदोंके कारणका ज्ञान, साधक तथा बाधकका ज्ञान, इस प्रकार सबमें पांच प्रकार समझने.

३.नृत्य.-केवल अभिनय करना.(शरीरकी चेष्टा द्वारा मनके भीतरी भावोंको 'नृत्य' द्वारा प्रकट कर दिखाना)

४.नाद्य.–ग्रन्थमें सर्व क्रिया बता देना.

५.आलेख्य.– चित्रकर्म, उसमें विशेषता यह है कि कोई चित्र कुत्सित और कोई भ्रामक होते हैं, वे सब प्रकार सीख गये, यहां 'क' प्रत्यय ग्रहण किया है.

६.आछेद्य.– उनमें छेदकर अनेक प्रकारकी जाली बनाना, जैसे चनेकी दाल पर एक सौ हस्तीके चित्र बनाने.

७.चावल तथा पुष्पोंकी अनेक प्रकारसे आरसी बनानी तथा पूजामें स्वस्तिक आदि बनाने.

८.फूलोंके बिछानेसे शय्या आदि सुशोभित करना.

९.दशन और बसनके रङ्गने आदिके भेदोंका ज्ञान, एवं अधर तथा ओष्ठोंके लक्षण का ज्ञान,(जिन लक्षणोंसे मनुष्यके स्वभाव आदि पहचान लिये जाये) यह परीक्षा रसके ज्ञानकेलिये है.

१०.मणिओंसे भूमिको सुन्दर बनानेके कर्मका ज्ञान, अर्थात् यहां इस प्रकारकी मणियोंके लगानेसे यह स्थान विशेष सुन्दर होगा, इस प्रकारके कर्मका ज्ञान.

११.शयन स्थानमें शय्या आदिकी सुन्दर रचना करना.

१२.उदक वाद्य.–जलका बाजा बनाना, जैसे जलमें स्वतः अनेक शब्द होने लगे.

१३.उदकाघात.–उदकमें इस प्रकार चोट लगानेकी क्रिया करनी जिससे जल ऊपर आवे, नीचे जावे, अथवा वक्र होकर जावे, इसका ज्ञान.

१४.चित्रा योगा–विचित्र प्रकारकी बनावटको सर्वत्र समझना.

१५.माल्य ग्रथन विकल्प–पुष्पोंको गूंथनेके अनेक प्रकारके ज्ञान.

१६.शेखरापीडयोजनम्–शिरकी भांति–भांतिके वस्त्र तथा पुष्पोंकी पगड़ी तथा टोपी बनानेकी विद्याका ज्ञान एवं केशोंमें(चोटीमें) फूलोंको गूंथना तथा गालों पर पत्ररूपसे चिपकाना आदि क्रियाका ज्ञान.

१७.नेपथ्य योगाः–नाटककी शालाके पर्दे वेश आदिसे नाटक पर सजाना.

१८.कर्णपत्र भङ्गा–कर्णफूल आदि कानके गहनेकी विद्या.

१९.गन्ध युक्ति–अत्तर आदि सुगन्धीवाले पदार्थ बनानेकी विद्या.

२०.भूषण योजनम्–गहने बनानेकी विद्या.

२१.ऐन्द्रजालाः–जादूके प्रयोग, जिनमें बनावट वा युक्ति देखनेमें आवे, ये बीस प्रकारके हैं.

२२.कौचुमार योग–अनेक प्रकारके रूप बनानेकी तरकीबें अर्थात् बहुरूपिया बन

जानेकी विद्या.

२३.हस्तलाघव–हाथकी चालाकीसे वस्तुओंको छिपाना, लाना आदिका ज्ञान.

२४.शित्रंशाकयू–स्थूल और सङ्कुचित करनेका भेद जानना.

२५.भक्ष विकार क्रिया–भक्ष विकारोंकी क्रिया, अनेक प्रकारकी रसोई बनानेकी विधिका ज्ञान.

२६.पानकरसरागासव योजनम्–पानीके रसवाले पदार्थ बनाने, जिनको आसव कहते हैं और जिनमें मादकता(नशा) होती है.

२७.सूचीवान् कर्म–सिलाईके कर्मका ज्ञान, जिसके बहुत प्रकार हैं.

२८.सूत्र क्रीड़ा–सूत्रकी डोरीसे अनेक प्रकारकी क्रीड़ा, डोरी पर चलना और उसके बांधनेके प्रकार आदि.

२९.वीणाडमरुक वाद्यानि–वीणा डमरुके बजानेके प्रकारकी शिक्षा.

३०.प्रहेलिका–पहेलियोंकी विद्या.

३१.प्रतिमाला–सर्व वस्तुओंका अनुकरण करना.

३२.दुर्वाचक योगाः–चार अक्षरोंके समझ लेनेका ज्ञान.(गुप्तभाववाले वा मिट गये अक्षरोंके समझ लेनेका ज्ञान)

३३.पुस्तकवाचनम्–पुस्तकका शीघ्र और शुद्ध पाठ करना. जहां अक्षर टूटा हुआ हो, उसको भी मिलाकर शुद्ध पढ़ जाना.

३४.नाटकारव्यायिका दर्शनम्–नाटकमें कहीं हुई कथाको करके दिखाना.(१.अन्धेरेमें कपड़े पर नाटककी कथाको करके दिखाना. सिनेमा कला. २.वस्त्र आदिके बनाके नाटक कथा दिखाना.)

३५.काव्य समस्या पूरणम्–कविताकी समस्याकी पूर्ति करना.

३६.पत्रिका चित्र वाचन विकल्पा–फटे हुवे पत्रोंके टुकड़ोंको जोड़कर उसको पूर्ण रीतिसे पढनेकी कला, भेड़ आदि लड़ानेके प्रकारोंका ज्ञान.

३७.तर्क कर्माणि–तर्कसे ही सर्व पदार्थोंका ज्ञान और कृतिका ज्ञान.

३८.तक्षणम्–बढईं आदिकी शिल्प विद्याका ज्ञान.

३९.वास्तु विद्या–गृह बनानेकी विद्या.

४०.रूप रत्न परीक्षा–रूप और रत्नोंकी परीक्षा करनेकी कला, वे दूसरी बीस तरहकी कलाएं हुई.

४१.धातुवाद–पृथ्वीमेंसे धातुओंके निकालनेका ज्ञान.(इस पृथ्वीमें यह धातु है,

उसको जानना)

४२.मणिरागज्ञानम्–मणियों पर तरह–तरहके रङ्ग लगानेकी विद्या.

४३.आकरज्ञानम्–खानकी पहचान, मिट्टीका ढेर देखकर मिट्टीसे पहचान जाना कि इसके भीतर वह वस्तु है, यह कला.

४४.वृक्षायुर्वेद योगाः–वृक्षोंके रोग मिटानेकी कला तथा उसमें नवीन पत्ते आदि प्रकट करनेकी विद्या.

४५.मेष कुक्कुट लावक युद्ध विधिः–भेड़, मुर्गी और लावा पक्षियोंके लड़ानेकी विधिका ज्ञान.

४६.शुक सारिका प्रलापनम्–तोता और मैनाको बोलना सिखाना.

४७.उत्सादन–इस प्रकारके शब्द बोलने, जिससे श्रोताके मनमें क्षोभ हो और उस क्षोभसे वह वहांसे चला जावे, यह कला.

४८.केशमार्जन कौशलम्–केशोंको साफकर उनको गूंथना आदिका ज्ञान.

४९.अक्षरमुष्टिका कथनम्–एक अक्षरसे उसमें छिपी हुई वस्तुको पहचानकर कहना, जैसे मुट्ठीमें रखी हुई वस्तु बता देना.

५०.म्लेच्छित कलिकल्पाः–जिससे शत्रुकी बुद्धि भ्रष्ट हो और वह सबसे लड़ता ही रहे, ऐसे तरीकोंका ज्ञान.

५१.देशभाषा ज्ञानम्–देशकी भाषाओंका ज्ञान.

५२.पुष्पशकटिका ज्ञानम्–फूलोंसे रथ आदि बनानेका ज्ञान.

५३.निमित्त ज्ञानम्–काक आदि पक्षियोंकी भाषा आदिसे भविष्यको जान लेनेकी कला.

५४.यन्त्रमातृका–पृथक्–पृथक् यन्त्र बनाने, जिससे मूर्ति(रथ आदि) चलने लगे अर्थात् एक स्थानसे चलकर दूसरे स्थान पर पहुंच जावे. इसी प्रकार यन्त्र द्वारा शब्द(रेडियो) दूर तक पहुंच जावे, आदि यन्त्र बनानेकी कला.

५५.धारणमातृका–दूसरेके कहे हुवे विषयको सुनते ही स्मरण कर लेना, फिर वही अक्षरशः सुना देनेकी कला.

५६.सम्पाद्यम्–जो हीरे आदिके दो टुकड़े नहीं हो सकते हैं तो उनके भी दो टुकड़े करनेकी कला.

५७.मानसीकाव्य पूरणम्–दूसरेके मनकी बात बता देनेकी कला.(मनोविज्ञान)

५८.अभिधानकोषः–दूसरोंसे कही हुई सारी कहानी या पदार्थ क्रमपूर्वक फिर

कहनेकी कला.

५९.छन्दोज्ञानम्–पुरुष या स्त्रीको देखकर ही बताना कि ये इस प्रकारकी वृत्तिवाले हैं , इस प्रकारकी कलाका ज्ञान.

६०.क्रिया विकल्पाः–सर्व वस्तुओंकी क्रिया, जो पहले ही सिद्ध है, उनका अनादारकर दूसरे प्रकारसे उसका निर्माण करना, यह तीसरे बीस प्रकार हैं, अब ये ६० कलाएं बताईं.

६१.काम आदिको शान्त करनेकी कला, जगे हुवे कामको शान्त करना.

६२.शान्त हुवे कामको जला देनेकी कला.

६३.शत्रुको मित्र बनानेकी कला.

६४.सर्व प्रकारकी वस्तुके स्वरूपको बदल देनेकी कला.

ये कलाएं प्रतिमानसे कही हैं, यहां जो कलाएं कहीं हैं, वहां अवान्तर भेद भी लेने. इसके पश्चात् अर्थात् विद्याओंके पढ़ लेनेके अनन्तर 'गुरवे तु वरं दत्वा' इस स्मृतिवाक्यके अनुसार गुरुजीको दक्षिणा देनी चाहिये, किन्तु वह दक्षिणा गुरुके मन की इच्छाके अनुरूप होनी चाहिए, अर्थात गुरु जिस प्रकार की दक्षिणा माँगे, वह दक्षिणा दी जावे, इसलिये श्लोकमें 'छन्दयामासतुः' कहा है. शिष्य गुरुको दक्षिणा देनेके अनन्तर ही स्वच्छन्द हो सकता है, अतः गुरुकी मनचाही दक्षिणा देनेका निश्चय किया. आचार्य, गुरु उनको कहा जाता है, जो यज्ञोपवीत पहनाकर शिष्यको अङ्गो सहित तथा रहस्यों सहित वेद पढ़ावे. जैसा कि कहा है ''**उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः, स रहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते**'' हालांकि दोनों, दो वर नहीं दे सकते हैं, तो भी दोनोंका कर्त्तव्य है, इसलिये स्वच्छन्द दानका निरूपण है. हे नृप! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि वैसे लोग राजाके पास जाकर ही कृतार्थ होते हैं, जिसका आपको अनुभव है ।।३६।।

आभासार्थ : गुरुजीने बहुत शिष्य पढ़ाए हैं, किन्तु इस प्रकारके शिष्य कभी नहीं देखे, अतः ये अलौकिक भी दे सकेंगे, यह मनमें निश्चय किया. गुरु तथा गुरु पत्नी दोनोंको आपके माहात्म्यका पूर्ण ज्ञान हो गया था. जैसा की पुराणान्तरकी कथा है कि एक दिन गुरुपत्नी गौ दोहनेकेलिए गौके पास बैठ गईं थीं, किन्तु दोहिनी लेना भूल गईं थीं, तब उसको ले आनेकेलिए भगवान्को कहा. उस समय भगवान् संध्यावन्दन कर रहे थे. यदि उठकर दोहिनी लाते हैं, तो

नियम भंग होता है और दोहिनी नहीं देते हैं तो गुरुपत्नीकी आज्ञाका उल्लङ्घन होनेका दोष लगता है. तब भगवान्ने अपनी अलौकिक शक्तिसे बाहुको लम्बीकर, दोहिनी गुरु पत्नीको दे दी. गुरुपत्नीने देखा कि भगवान् यहीं बैठे हैं और दोहिनी मेरे पास आ गई हैं, यह देखकर विस्मित हो गईं. इस प्रकारसे दोनोंको भगवान्की अलौकिक शक्तिका ज्ञान हो गया था, इसलिए दोनोंने निश्चय किया कि इनसे कुछ अलौकिक ही मांगना चाहिए. उस निश्चयको 'द्विजस्तयो' श्लोकमें प्रकट करते हैं :

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयांबभूव ह ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! ब्राह्मण(गुरु) उनकी इस अद्भुत महिमाको जानकर और मनुष्यबुद्धिसे परे चमत्कारी बुद्धि देखकर, पत्नीसे सलाह करके प्रभासक्षेत्रमें समुद्रके जलमें डूबकर मरे हुए पुत्रको लाकर देनेकी वररूप दक्षिणा मांगी ।।३७।।

व्याख्यार्थ: वह गुरु यज्ञ करनेकी इच्छावाला था, यज्ञ करनेका अधिकार पुत्रवालेको है, इसलिये पुत्र उत्पन्न किया था. अब उसके मरनेसे यज्ञकर्म रोक दिया. ईश्वरकी कृपाके सिवाय कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, अतः कालने पुत्रको छीन लिया, तो भी वेदके प्रमाणसे ईश्वरकी इच्छा न जानकर समयकी राह देखने लगा, क्योंकि उसने समझ रखा है कि यज्ञ करना आवश्यक है, जिसके न करनेसे मेरा द्विजत्व व्यर्थ है और द्विज होकर तीसरा जन्म लेना है. अर्थात् यज्ञसे शुक्लत्व प्राप्त होता है. यदि पुत्र न होगा तो वह तीसरा जन्म न हो सकेगा. राम और कृष्णकी अलौकिक महिमा सुनी और देखी है. महिमाकी अद्भुतता दिखाते हैं कि इन दोनोंको जब पढ़ाने लगे, तब ही आप भी उसको समझने लगे, इससे पहले यह गुरु वैसा नहीं था अन्यथा(टि. यदि वैसे जानकार होता तो) ऋषियोंसे भी श्रेष्ठ हो जाता, अतः उनको पढ़ाते हुवे स्वयं ही पढ़ता था. यह विपरीतता ही अद्भुतता प्रकट करती है. वह गुरु तर्क-वितर्क करनेमें प्रवीण था, अतः समझ गया कि प्रथम मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं था, अब जो मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है, यह भगवान्ने ही कृपा की है. यह निश्चयकर लौकिक न्यायके अनुसार और भगवदिच्छासे ही उनमें गुरुत्व स्थापन किया. अर्थात् शिष्यके सत्य स्वरूपको समझ, समुद्रमें मरे हुवे पुत्रकी उनसे गुरुदक्षिणामें याचना की. हे राजन्!

क्लिष्ट होनेसे यह सम्बोधन आदरसे और विश्वासकेलिये दिया है और बुद्धि भी अलौकिकी है. जैसे मन्त्रादिमें अलौकिक भाव होता है, वैसा ही केवल अलौकिक भाव नहीं है. मैं जो मांग रहा हूं, वह असाध्य जानेंगे तो भी करेंगे. यह मनमें निश्चयकर, दृष्ट और अदृष्ट साधनके विद्यमान होनेसे यज्ञकर्मके योग्य पत्नीने समझा कि मेरा पति यज्ञ करनेकेलिये पुत्रकी आकाङ्क्षावाला है, अतः इसने भी यही राय दी. पुत्र महान् अर्णवमें मरा है, नहीं कि सागरमें मरा. किस प्रकार मरा? उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि वे कुटुम्ब सहित प्रभासक्षेत्रको यात्रा करने गये थे. वहां अग्निकुण्डमें बालक डूब गया. वह वहांसे लाकर दो, इस प्रकारका आग्रह क्यों किया जाता है? मृत्यु और काल आदिकी सत्यता मिटानी योग्य नहीं है. इस पर कहते हैं कि 'बालः' अल्प अवस्थावाला पुत्र था, अतः उसमें जो स्नेह स्थिर हो गया था, वह अब तक मिटा नहीं है, इसलिये यह आग्रह है. यद्यपि प्रभासमें जो भरता है, वह लौटकर नहीं आता है. मन्त्र आदिसे भी उसको लाना मुश्किल है, अतः वह वररूपसे दक्षिणा मांगी है. 'गुरवे तु वरं दद्यात्' इस प्रमाणके अनुसार वरदान देना आवश्यक है. जिसने सर्व तत्त्व जान लिया हैं, उसको तो ''किं प्रजया करिष्यामः'' इस श्रुतिके अनुसार प्रजाके बिना भी कार्यकी सिद्धि करनी चाहिये, तो भी 'पुत्र' मांगा, यह आश्चर्य है, इसलिये श्लोकमें 'ह' शब्द आश्चर्य प्रकट करनेकेलिये दिया है. भगवान्को इसका भी निरोध करना है, अतः गुरुने 'पुत्र' मांगा है, वैसी बुद्धि भगवान्ने निरोधार्थ दी है ।।३७।।

आभासार्थ : भगवान्ने सोचा कि इसने जो वर मांगा है, वह अलौकिक है. उसके देनेसे मेरे स्वरूपको गुरुजी जानेंगे, जिसको गुप्त करनेका विचार किया, किन्तु उस वरदानके पूर्ण करनेमें कालादि मर्यादा तो दूर करनी पड़ेंगी. वह कृष्ण करेगा या नहीं? वैसी शंका गुरुको न हो, तदर्थ 'तथेत्यथारुह्य' श्लोकमें वरदानको अङ्गीकार करते हैं :

तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ।।३८।।

श्लोकार्थ : गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर, कहने लगे कि आपको 'पुत्र' लाकर दक्षिणाके रूपमें देंगे. यों कहकर दोनों महारथी और महापराक्रमी रथमें बैठकर प्रभासमें आए. वहां समुद्रके किनारे पर क्षणमात्र बैठे. समुद्रको मालूम हुआ तो वह पूजाकी सामग्री लेकर आया और पूजा की ।।३८।।

व्याख्यार्थः श्लोकमें 'तथा' शब्द कहा है, जिसका भावार्थ प्रकट करते हुवे आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् गुरुको यह विश्वास दिलाते हैं कि आपने जो पुत्र खोया है, वही पुत्र लाकर दूंगा, नहीं कि वैसा कोई दूसरा लाऊंगा. वही देह और वही आयु, रूप, आकृतिवाला आपका पुत्र लाता हूं. इसकेलिये केवल 'ॐ' वा 'अस्तु' स्वीकारवाचक शब्द नहीं कहे हैं, यह कार्य, शिष्यभाववालेसे कैसे होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिये ऐश्वर्यभाव दिखानेकेलिये 'अथ' शब्दसे जुदा उपक्रम करते हैं. खुद महारथी हैं, रथकी शिक्षामें अर्थात् रथ चलानेमें निपुण हैं, एवं रथ भी साधारण नहीं, किन्तु महारथ है, जो सर्व स्थानों पर जा सकता है. उसी एक ही रथमें बैठकर प्रभासमें आये. समुद्रसे भयभीत होनेवाले नहीं है क्योंकि आपका पराक्रम महा अनन्त है. पश्चात् समुद्रके तट पर आकर क्षणमात्र आराम करने लगे तथा समुद्रको अपने आनेका ज्ञान कराया. उसके बाद समुद्र अपने घर भगवान् तथा जामाता, एवं मुझे बांधनेवाले गृहके मालिक आये हैं, अतः उनकी पूजा करने आये और पूजा की. उस बालकका विनियोग तीन प्रकारसे हो गया था. १.समुद्रने प्राण और अपान वायुको पृथक् किया. २.शरीर का भाग पञ्चजन दैत्यने लिया. ३.दूसरा 'सङ्घात', कर्मवश पहली सूक्ष्म अवस्था सहित जीवके साथ यमके पुरीमें था, इतनी भूमिको भगवान्को समुद्रसे पृथक् करनी चाहिये, किन्तु वह लीलोपयोगी होगी या नहीं, यह विचारणीय है ।।३८।।

आभासार्थः अनन्तर भगवान्ने समुद्रको कुछ कहा, जिसका वर्णन 'तमाह' श्लोकमें करते हैं :

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ।।३९।।

श्लोकार्थः भगवान्ने समुद्रको कहा कि गुरुपुत्र शीघ्र दो, जिसको तूंने बड़ी लहरोंसे ग्रस लिया है, क्योंकि वह बालक था ।।३९।।

व्याख्यार्थः समुद्रने भगवान्की पूजा की, फिर भी भगवान्ने बिना संकोचके उसको आज्ञा कैसे की? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'भगवान्' हैं, वह सर्वका ईश्वर है. सेवकसे आज्ञा करनेमें क्या सङ्कोच है? इसलिये आज्ञा दी है. आज्ञाको कहते हैं, 'जल्दी गुरुपुत्र दो'. 'मेरे स्थानमें कहां है?' यों न कहना, आधिदैविक स्वरूप दिखाते कहते हैं कि 'यः असौ', 'जो यह' है, इस प्रकार

उसकी पहचान देते हैं. मैंने किस क्रियासे उसको लिया, वह कहते हैं कि 'त्वया ग्रस्त', 'तूंने उसको ग्रस लिया है'. ब्राह्मणको कैसे ग्रसेंगे? इसलिये कहते हैं कि 'बालः', बालक है, उसका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ है, तुमने बुद्धिसे उसको नहीं ग्रसा है, किन्तु 'लहरोंनें' उसको ग्रसा है, अतः तूं दण्डके योग्य नहीं है ।।३९।।

आभासार्थ : समुद्र 'नैवाहार्षम्' इस श्लोकमें उत्तर देता है :

समुद्र उवाच

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्ख रूपधरोऽसुरः ।।४०।।
आस्ते तेनाहतो नूनं ... ...

श्लोकार्थ : समुद्रने कहा कि हे कृष्ण! हे देव! मैंने उसका हरण नहीं किया है, शंखरूपी महान् असुर, पञ्चजन नामधारी दैत्य, जलके भीतर रहता है, सो निश्चय ही उसने उसको लिया है और वह उसके पास है ।।४०।।

व्याख्यार्थः भगवान्ने शरण आये हुवे पञ्चजन और समुद्रका एकीकरणकर, श्लोकमें कहा है कि तूंने 'ग्रस' लिया है. जिसके उत्तरमें समुद्र कहता है कि मैं उसको अपने पास रहनेमें ही प्रयोजक हूं, उसके गुण तथा दोषका नहीं हूं, इसलिये उसको अपनेसे अलगकर, कहता कि मेरा दोष नहीं है, क्योंकि मैंने उसको नहीं ग्रसा वा नहीं लिया है. 'लहरें' हाथ हैं, वे भी स्वतः उसको लेने नहीं गईं, किन्तु स्वभावसे ही वे निमित्त बनी हैं, यह भगवान्के वाक्य हैं, नहीं तो दूरसे जलचरोंको देखकर बालक भागकर भी जावे, अर्थात् लहरें निमित्तमात्र हुईं, जिससे हमारा दोष नहीं है. समुद्रके कहनेका यह अभिप्राय है कि इसको साक्षात् ले जानेवाला 'पञ्चजन' दैत्य है. 'देव' सम्बोधन देकर सूचित किया है कि मेरे कहने पर आप विश्वास कीजिये. बालकको ले जाते तुमने देखा, तब उसको क्यों नहीं रोका? इसके उत्तरमें समुद्र कहता है कि दैत्य महान् बलवान् होते हैं. उनको रोकना अशक्य है, फिर उनमें भी यह पञ्चजन हैं, अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेवा और मरुत, इन पांचोंके समान यह एक ही बलधारी है, अथवा यह पञ्चसंवत्सरात्मक(पांच वर्षका ही है) दैत्यरूप है, वा पञ्चविद्यारूप है. उनमें भी महान् है, अतः मैं इसके मारनेमें अशक्त हूं. वह असाध्य है, यह बतानेकेलिये उसका स्वरूप बताया है. अब उसके रहनेका स्थान बताया है. जलके भीतर ही रहता है. कभी भी बाहर नहीं

निकलता है. यह भी शङ्का नहीं करनी कि मैं उसका केवल रूप देखकर, डरकर, अन्यथा कह रहा हूं. हे कृष्ण! वह शङ्खके रूपवाला है, जिसको देखनेसे भय उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु वह असुर है, देवताओंका शत्रु है, इसलिये भी यह वधके योग्य है. यों भी नहीं विचारना कि वह पीछे मर गया है, किन्तु मैं अपनी रक्षाकेलिये वह वध्य है यों कह रहा हूं. वह असुर अभीतक जीवित है. उसने ही इस बालकको मारा है. वैसा भी नहीं समझना कि दूसरे किसीने इसमें प्रवेशकर, बालकको मारा है. मैं निश्चयसे कहता हूं कि इसीने ही मारा है. बालकको केवल लेकर नहीं गया है, किन्तु संयोगका विभागकर, इसने ही शरीरका भाग ले लिया. अर्थात् संयोग तथा बल इसने ही लिये हैं ।।४०।।

श्रीशुक उवाच

……तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः
जलं प्रविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ।।
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।।४१।।
ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ।
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ।।४२।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि समुद्रके ये वचन सुनकर तुरन्त ही प्रभुने जलके अन्दर घुसकर उसे मारा, उसका पेट फाड़कर देखा तो पेटमें बालक नहीं है, तब उसका अङ्गरूप शंख लेकर जहां रथ था, वहां आ गए. पश्चात् यमकी प्यारी संयमनीपुरीमें जाकर बलरामके साथ भगवान्ने वह शंख बजाया ।।४१-४२ ।।

व्याख्यार्थ: वस्तुके परिणामके कारण जो काल आदि हैं, उनको विपरीत क्रमसे बनाकर सिद्ध करनेकेलिये भगवान् प्रथम उत्तम कार्यको ग्रहण करते हैं, जिसका वर्णन करते हैं.

समुद्रके वचन सुनकर भगवान्ने विचारा कि वह(शङ्खासुर) दूर चला न जाये इसलिये शीघ्र ही समर्थ होनेसे अकेले प्रभु आप समुद्रके जलमें प्रविष्ट हुवे और देखा कि शङ्खासुर भागता है. उसको पकड़कर शङ्खोद्धारमें मारकर देखा कि उसके उदरमें, प्राण, इन्द्रिय, जीव और सङ्घातरूप बालक नहीं था. तब समझ लिया कि कर्मवशसे दूसरे स्थान पर गया होगा. शङ्खासुर भागने लगा, तब उसको पकड़कर मारा क्यों? और उदर फाड़कर क्यों देखा? इस शङ्काका उत्तर

देते हैं कि भगवान्‌को उसके उदरमें बालकको देखना था, बालक कर्माधीन नहीं होता है और शङ्खको लेना था. इन दो कारणसे पकड़के मारा और उदर फाड़ा, अतः भगवान्‌का शङ्ख पाञ्चजन्य है अर्थात् पञ्चजनसे प्राप्त होनेसे उसका नाम 'पाञ्चजन्य' है. उसमें स्थित सूक्ष्म अवयवोंको प्रतिलोमकी भांति डूबनेके समय तक जैसे थे, वैसे सिद्धकर, उनको फिर यमलोकमें स्थित देहमें प्रविष्ट किये. फिर वहां(देहमें) स्थितोंको प्रतिलोमरीतिसे उत्क्रमण अवस्थामें लानेकेलिये, जहां बलभद्रजी बैठे थे, वहां रथके पास आये ।।४१।।

पश्चात् जहां सबको दण्ड मिलता है, वैसी मृत्युदेवकी प्रसिद्ध प्यारी संयमनीपुरीमें जाकर बलदेवजीके साथ वह शङ्ख बजाया, जिस यमके भयसे सर्वलोक धर्ममें रत रहते हैं. हालांकि यमके बहुत स्थान हैं, किन्तु यह पुरी यमको प्यारी है. भगवान्‌को वहां जाते कोई भय नहीं हुआ, क्योंकि स्वयं 'जनार्दन' हैं. अविद्याको भी जो पीड़ित करता है, अर्थात् नाश कर सकता है तो वहां दूसरोंकी बात ही क्या? वे अविद्याग्रस्त भगवान्‌का क्या कर सकेंगे? कुछ नहीं, विशेष साथमें 'हलायुध' बलरामजी हैं. जो पातालके भी पति हैं ।।४२।।

आभासार्थ : पश्चात् समुद्रकी भांति यमका भी कर्तव्य 'शंखनिर्ह्राद' श्लोकमें कहते हैं :

शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ।
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहितम् ।।४३।।

श्लोकार्थ : प्रजाको नियममें रखनेवाले यमने शंखकी ध्वनि सुनते ही(वहां आकर) भक्तियुक्त हृदयसे उन दोनोंकी महती पूजा की ।।४३।।

व्याख्यार्थ: शङ्ख तो, सबको जागनेकेलिये बजाया, तथा उसमें स्थित अवयवोंको प्रेरणा देनेकेलिये बजाया. वह सुनकर यम डरे कि मेरा अधिकार चला न जावे, इससे उन दोनोंकी महती पूजा की. यम वैष्णव हैं इसलिये वह पूजा-भक्ति बिना हृदयसे की ।।४३।।

आभासार्थ : यम भगवत्पूजा करनेसे कृतार्थ हो गया तथा अपनेको धन्य समझने लगा. भगवान् किसी कार्यवश पधारे हैं, यों समझ, प्रथम अपने अपराधकी निवृत्तिकेलिए 'उवाच' श्लोकसे पूछता है :

उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाणि किम् ।।४४।।

श्लोकार्थ : यम नम्र होकर सर्व भूतोंके अन्तर्यामी श्रीकृष्णको कहने लगा कि लीलासे मनुष्यरूप हे विष्णो! मुझे क्या आज्ञा है? मैं आपकी क्या सेवा करुं? ।।४४।।

व्याख्यार्थ: यम नम्र होकर सदानन्द श्रीकृष्णसे पूछता है कि आप किस कार्यके कारण पधारे हो? इस प्रकार पूछनेका भीतरी कारण यह भी है कि श्रीकृष्ण मुझे दण्ड देने जैसे कार्यकेलिये तो नहीं आये हैं? यह शङ्का न करनी कि मैं जानकर भी पूछता हूं. कारण कि आप सब जीवोंके अन्तःकरणमें विराजमान् हैं. सबके चित्तमें क्या है? वह जानते ही हैं, जाननेके सिवाय पूछता हूं, यों भी नहीं है. मैं जानता हूं कि आप वास्तविक विष्णु, सर्वव्यापक हैं, किन्तु अब लीलासे मनुष्यरूप धारण किया है. इस प्रकार होनेसे, मैं आप दोनोंका किङ्कर हूं. आप आज्ञा करें कि मैं क्या करूं? किसी पुस्तकमें 'करवाम' बहुवचन है, तदनुसार अर्थ इस प्रकार होगा कि यम सबको अपना ही समझकर बहुवचनसे कहता है कि हम क्या करें?।।४४।।

आभासार्थ : यमको गुरुपुत्र ले आनेकेलिए कहूंगा तो यमकेलिए मर्यादा बाधक होगी, इसलिए भगवान् ईश्वररूपसे 'गुरुपुत्र' श्लोकमें आज्ञा देकर उस बाधककी निवृत्ति करते हैं :

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।

आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ।।४५।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि गुरुपुत्रको उसके कर्मानुसार आप यहां ले आए हैं. हे महाराज! उसको हमारी आज्ञा मानकर हमारे पास ले आओ।।४५।।

व्याख्यार्थ: अपना कर्म ही उसके बन्धनका कारण है, इसलिये आप अपने स्वार्थकेलिये उसको नहीं लाये हो, किन्तु स्वतः कर्मके अधीन होकर बन्धनमें आकर पड़ा है. इसलिये यद्यपि आपको भावी ज्ञान है, तो भी लानेमें आपका अपराध नहीं है. अब उसको मेरे पास ले आओ. यों कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि मैं 'मर्यादा कैसे छोडूं'? क्योंकि आप महाराजा हो, वह कभी अनुग्रह भी करते हैं. अब तो मेरी आज्ञाको मानकर उसको ले आओ, मर्यादा त्यागका कारण मेरी आज्ञा समझ लो ।।४५।।

आभासार्थ : ईश्वरकी आज्ञासे अपने अधिकारानुसार कार्य करनेके वश होनेसे, जो भगवान्ने आज्ञा दी, उसको यम निःसन्देह होकर करने लगा, जिसका वर्णन 'तथेति' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं :

श्रीशुक उवाच

तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ ।
दत्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ।।४६।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि यम, भगवान्को कहता है कि जो आपकी आज्ञा, वह करूंगा. यों कहकर यमने गुरुपुत्र लाकर दिया. उसको लेकर राम-कृष्ण दोनोंने आकर गुरुको दक्षिणारूपमें अर्पण किया और फिर गुरुजीको कहने लगे कि फिर भी जो चाहिए, वह कह दीजिए ।।४६।।

व्याख्यार्थ: आपने जो आज्ञा की है वैसे ही करूंगा, यों कहकर यमने गुरुपुत्रको लाकर दिया, गुरुपुत्रके स्वरूपका वर्णन करते कहते हैं कि भगवान्की कृपासे दृष्ट द्वारा ही प्रति सङ्क्रमणरीतिसे पूर्व अवस्थाको प्राप्त हो गया था, अर्थात् जैसा रूप आदि पहले था, वैसा ही हो गया था. मध्यमें जो समुद्र, शङ्ख और कर्म द्वारा सर्वसङ्घात आदि पृथक् हो गये थे, वे अब मिलकर पहली अवस्थामें आ गये थे, जिससे अब किसी प्रकारका भेद न रहा है. अतः अलौकिक प्रकारके रूप आकृतिवाला लाकर नहीं दिया, किन्तु जैसा पिताके पास था, वैसा ही लाकर दिया. राम-कृष्ण यादवोंमें श्रेष्ठ हैं. यदु धर्मात्मा था, अतः ये भी उस कुलमें उत्पन्न होनेसे धर्म परायण थे. जिससे गुरुने जैसी आज्ञा दी, वैसी आज्ञाका पालानकर अपनी धर्म परायणता तथा यदुश्रेष्ठता प्रकट कर दिखाई है. अपने गुरुको पुत्र देकर कहने लगे कि फिर भी चाहिये वह कहिये. यह तो आपका पुत्र है, अतः यह दक्षिणा नहीं है. यह आपका ही आपको दिया है, आपसे पृथक् करानेमें जो रुकावट थी उनको हटाकर आपको लाकर दिया है, इससे केवल आपकी आज्ञाका पालन करनेवाले हुवे हैं।।४६।।

आभासार्थ : गुरुकी बुद्धिमें यह है कि दूसरी बार वर न मांगना चाहिए, अतः कहते हैं कि यह ही वर पर्याप्त है. लोकबुद्धिसे मानो प्रार्थना नहीं करते हैं, किन्तु प्रार्थना है, जिसका वर्णन 'सम्यक् सम्पादितो' श्लोकमें करते हैं :

गुरुरुवाच

सम्यक्सम्पादितो वत्सौ भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।

को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ।।४७।।

श्लोकार्थ : गुरुजी कहने लगे कि हे वत्स! आपने गुरुदक्षिणा बहुत अच्छी दी है. आपके समान जिसके शिष्य हैं, उस गुरुको किस कामनाकी पूर्ति नहीं हो सकती है? अर्थात् सब कामनाएं पूर्ण हो सकती हैं ।।४७।।

व्याख्यार्थ: आपने गुरुको प्रत्युपकाररूप दक्षिणा बहुत श्रेष्ठ दी है. वैसा असाध्य कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता है. यों तो शास्त्रप्रमाणसे शिष्यसे गुरु महान् है, परन्तु भगवत्कृपासे आप जैसे असाध्यको साध्य करनेवाले शिष्य मिलनेके कारण मेरा महत्त्व और भी बढ़ गया है. अतः मेरी कामनाओंमेंसे कौनसी कामना अपूर्ण है, जिसकी याचना करूं ।।४७।।

आभासार्थ : परन्तु इतना ही करना, इस प्रकार आज्ञारूप दो बातकी प्रार्थना करते हैं :

गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ।।४८।।

श्लोकार्थ : आप, दोनों घर जाओ, वीर बनो, आपकी पवित्र कीर्ति हो, वेद, सदैव इस लोक और परलोकमें आपको स्मरण कर सफल होवें! ।।४८।।

व्याख्यार्थ: अपने घर जाओ, वीर बनो, गृहस्थी होके रहो, सर्वदा आपकी जय हो, और आपकी कीर्ति सर्वलोकको पवित्र करनेवाली हो, यह आशीर्वाद है, जैसा अधिकार हो उसके अनुसार समझना ।।४८।।

आभासार्थ : गुरुका यह वचन भी पूर्ण किया, यों कहते हुए कर्तव्यका 'गुरुणैव' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

श्रीशुक उवाच

गुरुणैवम् अनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।
आयातां स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ।।४९।।

श्लोकार्थ : हे तात! गुरुकी इस प्रकारकी आज्ञा पाकर, मेघके समान शब्द करते, पवनके समान वेगवाले रथमें बैठकर अपने पुरको लौटे ।।४९।।

व्याख्यार्थ: गुरुने जो कुछ कहा, वह भगवान्की इच्छासे ही कहा. क्षण मात्रमें ही वायुवेगवाले रथसे अपने नगरमें वापिस आये. अपना पुर कहनेसे प्रत्यापत्तित्व कहा है. मेघके समान ध्वनि करते हुवे आये, जिसका भावार्थ है कि जैसे मेघ गर्जनाके अनन्तर वर्षाकर, ताप मिटाता है, वैसे ही मैं भी आपको

सांत्वना देता हूं, मैं भी आपका ताप मिटानेकेलिये आ रहा हूं ।।४९।।

आभासार्थ : भगवान्‌को पूर्व जैसे कहकर उनके सम्बन्धी भी पूर्व जैसे हो गये, अथवा भगवान्‌में निरुद्‌ध हुए, जिसका वर्णन 'समानंदन्' श्लोकमें करते हैं :

समानन्दन्प्रजाः सर्वा दृष्ट्‌वा रामजनार्दनौ ।
अपश्यन्त्यो बहवहानि नष्टलब्धधना इव ।।५०।।

श्लोकार्थ : राम और कृष्णको देखकर सब प्रजा प्रसन्न हो अभिनन्दन करने लगीं, क्योंकि बहुत दिनोंसे दर्शन नहीं हुए थे. अतः जैसे किसी मनुष्यको गया हुआ धन मिलनेसे प्रसन्नता होती है, वैसे ही समस्त प्रजा प्रसन्न हुई ।।५०।।

व्याख्यार्थ: राम तथा कृष्णको देखकर सब प्रजा परम आनन्दको प्राप्त हुईं. जिनमें विद्या नहीं थी उनमें भी भगवान्‌ने विद्यासे तेज और सामर्थ्य प्रकट कर दिया. सामान्य प्रकारसे भी, सबको दर्शनकी चाह थी. कारण कि तीन चार वर्ष, बिना देखे हो गये थे, अतः स्वाभाविक दर्शनकी चाह होती ही है, जिससे देखकर परम आनन्दमें मग्न हो गईं. पूर्वकी अपेक्षासे विशेष आनन्द हुआ होगा. यदि विशेष हुआ हो तो उसमें प्रमाणबल चाहिये. वह नहीं है, यह सिद्‌ध करनेकेलिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे कही चला गया धन, जो देखनेमें न आवे और वह किसी दूसरेके पास हो, अथवा किसी स्थान पर लीन हुआ हो, वह लौटकर फिर मिल जावे, तो उसके मिलनेसे जो विशेष प्रसन्नता होती है, वह भगवान्‌के मिलने पर प्रजाको भी विशेष प्रसन्नता हुई ।।५०।।

इति श्रीमद्‌भागवत महापुराण दशम स्कन्धके अध्याय ४२,
राजस–प्रमेय अवान्तर प्रकरणके तृतीय अध्यायकी श्रीमद्‌वल्लभाचार्यचरण द्वारा
विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय ४३

उद्धवजीकी व्रज यात्रा

त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये स्वस्थित्यैव निरोधनात्।
यशोदानन्दयोश्चैवह्युक्तोऽपि विनिरूप्यते ।।का.१।।
गोपिकानां ततो वाच्यस्तेनोक्तं च समर्थितम्।
राजसत्वं च संसिद्धं गुणोत्कर्षश्च रूपितः ।।का.२।।

कारिकार्थ : भगवान्ने यशोदा व नन्दके यहां रहकर जो उनका निरोध किया है, वह पूर्वमें कहा गया है फिर भी यहां ४३वें अध्यायमें यशोदा, नन्द और गोपादिका आगे कहा हुआ निरोध निरूपण किया जाता है ।।१।।

कारिकार्थ : इस अध्यायके आगे आनेवाले ४४वें अध्यायमें गोपिकाओंके निरोध कहनेसे ''ज्ञाति, बांधव और तुम को देखने आऊंगा'', इन वचनोंका समर्थन हुआ है और राजसपन सिद्ध हुआ, एवं गुणोंके उत्कर्षका निरूपण भी हुआ है ।।२।।

प्रकाश तथा लेखके अनुसार कारिकाओंमें कहे हुए पदोंका भावार्थ :

नन्द-यशोदा आदिका निरोध तामस प्रकरणमें कहा गया है, फिर यहां क्यों कहते हैं? 'स्वस्थित्य' कहकर इस शंकाका निवारण करते हैं. तामसप्रकरणमें जो निरोध किया है, जिसके प्रकार और अब जो निरोध वर्णन करते हैं, उसके प्रकारमें भिन्न है. तामसप्रकरणमें भगवान्ने बाहर प्रकट दर्शन देने, लीला करनेका निरोध किया है, अब भगवान् व्यूह सहित मथुरा पधार गए हैं, अतः रसात्मा पुरुषोत्तम स्वरूपका आधाररूप वासुदेवव्यूह भी यहां नहीं है, जिसमें स्थित होकर बाहर भी दर्शन देवें. इसलिए अब रसात्मा पुरुषोत्तमका आधार भक्त-हृदय ही व्रजमें है अर्थात् भगवान् अब व्रजमें भक्तोंके हृदयमें विराजमान् होकर अनुभवानन्द देकर निरोध करते हैं. इस भेदके कारण यहां पुनः निरोधका वर्णन है. तामसका विषय राजसमें क्यों कहा? जिसका उत्तर 'तेनोक्तं' पदसे दिया है. भगवान्ने कहा है कि ''ज्ञाति-बांधव तथा आपको देखनेकेलिए आऊंगा, ये वचन राजस्वभावके हैं. उनका यहां समर्थन हुआ है. इसलिए यह निरोधलीला राजस होनेसे राजसप्रकरणमें कही गई है. तथा राजसभावमें विकलत्व, अस्वास्थ्य आदि भावरूप विक्षेप होता है, वह अब सिद्ध हुआ है. ये

आगे सिद्ध नहीं हुए थे, अतः यह निरोध, राजस होनेसे राजसप्रकरणमें कहा है. राजसप्रकरणमें इस निरोधको कहनेका दूसरा हेतु कहते हैं कि यहां यद्यपि भगवान् लौकिकरीतिसे पधारे हैं, तो भी उसका बीज, भक्ति है. जिससे गुण, भगवदीय कृपा तथा उनके प्रेमका तामसत्वसे विशेष उत्कर्ष है, अतः यहां राजसप्रकरणमें फिर निरोध कहा है.

इति कारिकाशयः

आभासार्थ : भगवान्ने नन्दजीको, ''ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो'', पिछले अध्यायके श्लोक २३में कहा है, कि मैं आपको तथा ज्ञातिवालोंको देखनेकेलिए आऊंगा, यों कहकर भगवान्ने उनसे पुत्रत्व आदि सम्बन्ध स्थापन किया है. आप यहां विद्या ग्रहण करने लगे, जिससे आपको जानेमें विलम्ब हो गया. पढ़कर आने पर भी आपका जाना [१]आवश्यक कार्य होनेसे हो नहीं सकता था. अतः नन्दादिको सान्त्वनाकेलिए उद्धवजीको भेजते हैं, इसका निरूपण करते हैं. जिनकी सान्त्वना करानी है, वे वही तीन प्रकारके हैं १.वे हैं, जिनको प्रकटरूपसे संदेश कहा जा सकता है, नन्द-यशोदा आदि. २. मित्र बने हुए गोप, जिनको संदेश, जो भेजा जावे, उसमें रहस्यविषय प्रकट न हो. अतः वे अल्प गोप्य हैं. ३. गोपीजन, जिनको अति गोपनीय रहस्य, संदेशमें कहलाना है, अतः वैसे कार्यकेलिए दूत निपुण 'चतुर' होना चाहिए. वैसे उद्धवजी हैं, यों जानकर उनको भेजनेकेलिए उनके गुणोंका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'वृष्णीनां प्रवरो' श्लोकमें प्रकट करते हैं.

१. कृष्णको मथुराके निवासियोंके उद्धारका कार्य आवश्यक था, यदि गोकुल जावे तो वहांके अर्थात् गोकुलके निवासियोंकी दशा देखकर, वहीं रुकना पड़े तो यह उद्धारका कार्य रुक जावे, अतः उद्धवको भेजना योग्य समझा.

श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षाद् उद्धवो बुद्धिसत्तमः।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि वृष्णियोंके श्रेष्ठ मन्त्री, श्रीकृष्णचन्द्रके प्यारे सखा, बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धिवाले उद्धवजी हैं।।१।।

व्याख्यार्थः जो श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुआ है, वही सर्व कर्मोमें प्रशंसनीय

होता है. उनमें भी यदि वह अपने गोत्रमें उत्पन्न हुआ हो, तो वह दौत्यकर्म(दूतका काम) करनेमें स्वरूपसे भी योग्य जानना चाहिये. दौत्यकर्ममें सहकार करनेकी योग्यतावाला होना आवश्यक है. वह योग्यता भी इसमें है, कारण कि यादवोंका मन्त्री है, अतः वह गोप्य मन्त्रणाको प्रकट नहीं करेगा. वैसे गुणवाले होनेसे जो सुनाने योग्य समझेगा, वही कहेगा, अयोग्य प्रकट नहीं करेगा. यदि यों है तो भगवान् जो गुह्य सन्देश इसको कहेंगे, वे भी नहीं बतायेगा, इस भ्रमको मिटानेकेलिये कहते हैं कि कृष्णका प्रेमी अत्यन्त प्यारा सखा है, जो रुचिकर धर्मवाला न हो तो बहुत प्यारा न हो, यह अत्यन्त प्यारा है, जिससे इसमें वैसे रुचिकर धर्म हैं, जिनके कारण इसको गोप्य भी कहा जा सकता है. फिर अन्य विशेषता इसमें यह है कि गुरु है, अर्थात् पितृव्य है. इसलिये गुरुको रहस्यकी बात नहीं बताई जा सकती है, किन्तु यह गुरु होनेके साथ सखा भी है, इसलिये रहस्य बतानेमें कुछ आपत्ति नहीं है. सखामें भी यह भगवान्के समानशील व्यसनवाला सखा है. इतने गुण होने पर भी यदि नीति न जानता हो, तो देश, काल तथा प्रकरण आदिके अनुकूल कहनेकी बुद्धि न होगी, जिससे यथार्थ कहे तो भी उसका परिणाम कुछ न निकलेगा. इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहा है कि 'बृहस्पति'का शिष्य है, जिससे बृहस्पतिनीति प्रतिष्ठित है, यह उद्धव बृहस्पतिसे ग्रन्थ द्वारा पढ़कर नीतिज्ञ नहीं हुआ है, किन्तु 'साक्षात्' अर्थात् प्रत्यक्षमें बृहस्पतिजीसे नीतिशिक्षा प्राप्त की है, तथा 'उद्धव' उत्सवात्मक है. वह भी कैसा, दूर गये बन्धुके आगमनकी हर्षित सूचना देनेवाला, तो परम्परासे उत्सवका कारण है, किन्तु यह स्वयं साक्षात् 'उत्सव' है, अर्थात् आनन्दको उत्पन्न करनेवाला है. इसको देखकर ही भगवान्के दर्शनके समान प्रसन्न होते हैं. इतना सब होते हुवे भी जो गोप्य कार्य कहता है, जिसको समझनेकी सामर्थ्यवाला दूत होना चाहिये, इस पर कहते हैं कि 'बुद्धिसत्तमः' अत्यन्त बुद्धिमान् है. जिससे कार्य सिद्धि हो जाती है, तो भी अपने-आप एवं [1]छायासे भी गोकुलवासियोंका दुःख दूर करनेमें समर्थ है, इसलिये उद्धवको 'बुद्धिसत्तमः' कहा गया है ।।१।।

१.उद्धव, भगवान्की छाया ही है, अतः भगवान्सदृश है-लेखकार.

आभासार्थ:इस प्रकार दूतके गुणोंको कहकर वैसे दूतको 'तमाह' श्लोकमें भगवान् आज्ञा करने लगे:

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ।।२।।

श्लोकार्थ : शरणागतोंकी आर्ति हरनेवाले भगवान्ने हाथसे अपने प्यारे एकांत भक्त उद्धवजीका हाथ पकड़कर एकान्तमें इस प्रकार कहा ।।२।।

व्याख्यार्थ: उद्धवके गुणोंसे भगवान्ने निश्चय किया कि उससे यह कार्य पूर्ण हो सकेगा, अतः पूर्ण निरुद्ध व्रजवासियोंको ज्ञान देनेकेलिये और अपने न जा सकनेके कारण अपने [१]प्रेष्ठ(अत्यन्त प्रिय) अर्थात् अपने समान उद्धवजीको अपना प्रतिनिधिकर भेजना चाहिये. यह पुरुष है, स्त्रियोंमें विक्रिया पैदा होगी, इस भ्रमको मिटानेकेलिए कहते हैं कि यह [२]'भक्त' है. यह भक्त है, इसमें काम न भी हो, किन्तु स्त्रियोंमें तो काम होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'एकान्तिन' स्त्रियोंके साथ एकान्तमें बैठने योग्य है, अर्थात् एकान्तमें स्त्रियां भी बैठी हो तो यह ऐसा भक्त है, जिससे दोनोंमें कामकी इच्छा उत्पन्न न होगी. भगवान् उद्धवजीको एकान्तमें जहां कोई भी न देखें, वहां हाथमें हाथ लेकर कहने लगे. इस प्रकार आग्रहपूर्वक कहनेका क्या कारण है? इस पर कहते हैं कि भगवान् शरणागतोंकी आर्त्तिको हरण करनेवाले हैं. गोकुलवासी भगवान्के शरण आये हुवे हैं, उनकी आर्त्ति हरण करनी चाहिये, आर्तिको हरण करना भगवान्का सहज स्वाभाविक धर्म है, जिसका त्याग भगवान् कभी नहीं करते हैं ।।२।।

१.उद्धवको 'प्रेष्ठ' कहनेका तात्पर्य है कि वह अन्तरङ्ग ज्ञान देनेके योग्य है, इसलिये ज्ञान देनेकेलिए अपने प्रियको भेजते हैं, वह कार्य सिद्ध कर सकेगा–लेखकार.
२.भक्त काम रहित होते हैं.

आभासार्थ : 'गच्छोद्धव'से लेकर चार श्लोकोंसे भगवान्के वाक्य कहते हैं :

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगार्धिं मत्सन्देशैर्विमोचय ।।३।।

श्लोकार्थ : हे उद्धव! हे सौम्य! आप व्रजमें जाओ, मेरे माता–पिताको प्रसन्न करो और गोपियोंको जो मेरे वियोगका सन्ताप है, उनका वह सन्ताप, मेरे सन्देशोंसे शांत करो ।।३।।

प्रमाणं च प्रमेयं च उपपत्तिश्च बाधकम् ।
चत्वारोत्रैव वक्तव्या अन्यथा प्रेषणं न हि ।।का.१।।

कारिकार्थ : [१]प्रमाण, [२]प्रमेय, [३]उपपत्ति, और बाधक[४] ये चार यहां ही कहने चाहिए. यदि न कहे जावें, तो भेजना ही व्यर्थ है ।।१।।

१. प्रथम श्लोकमें 'व्रजं गच्छ'(व्रजमें जाओ), यह आज्ञा भगवान्ने की है, अतः वेदरूप होनेसे 'प्रमाण' है.

२. द्वितीय श्लोकमें 'ता मन्मनस्का', गोपियोंका स्वरूप, यह 'प्रमेय' है.

३. तृतीय श्लोकमें 'मयि ताः', यह उपपत्ति है, भेजनेमें हेतु है.

४. चतुर्थ श्लोकमें 'धारयन्त्यति', यदि न भेजा जावे तो बाधक हो, क्योंकि वे दुःखी हैं.

व्याख्यार्थ: पहिले श्लोकमें आज्ञा करते हैं, हे उद्धव! व्रजमें जाओ. उद्धवजीको 'सौम्य' विशेषण देकर यह सूचित किया कि दूसरा कोई इस कार्य करनेके योग्य नहीं है. जाकर वहां क्या करना है? वह बताते हैं. यशोदा और नन्द, जिनको हम दोनोंने माता-पिता माना है, अतः जिससे वे प्रसन्न हों, वैसा कर्म करो. वे उस कामसे ऐसे प्रसन्न होवें मानो हम उनसे आकर मिले हैं. यह सन्देश तो प्रकट है, अब गुप्त सन्देश देते हैं 'मेरे वियोगसे उनको, जो विरह-आधि सता रही है, उस मनकी पीड़ाको, मैंने जो पत्रमें सन्देश लिखे हैं, वे वहां प्रकट करनेसे मिटाओ, 'आधि'अर्थात् मनकी पीड़ाने उनको ग्रस लिया है. वह ग्रसना, जैसे मिट जावे, वैसा उपाय करो ।।३।।

आभासार्थ : गोपियोंमें कौनसी विशेषता है? उसको बतानेकेलिए उनका स्वरूप 'ता मन्मनस्का' श्लोकमें कहते है. वह स्वरूप आप, मेरे कहनेसे स्वरूपबल द्वारा समझ सकेंगे:

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ।।४।।

श्लोकार्थ : उनका मन मुझमें है, प्राण भी मुझमें है, मेरे लिए देहधर्म छोड़ दिए है, तथा लोकधर्म एवं वेदधर्मको भी त्याग दिया है, वैसी गोपियां हैं, जिनको मैं सर्व प्रकार पालता हूं ।।४।।

व्याख्यार्थ: यह तो सिद्ध ही है कि प्राणियोंकी सर्व साधारण आत्मा मेरी ही है. यह जानते हुवे भी उसको उस प्रकारसे आदरसे देखते नहीं, कारण कि देह, इन्द्रियां, मन उत्पन्न होते ही अन्य(लौकिक सम्बन्धवालों)के परायण हो गये हैं. वे जब मेरे परायण बनें, तब सङ्घात मेरे होते हैं. इन्होंने मेरे परायण किये हैं, जिनको स्पष्टकर कहते हैं कि उनका मन, प्राण और इन्द्रियां मेरेमें हैं. तात्पर्य यह

है कि वे मेरेलिये जीती हैं, मेरे रहते हुवे जीती हैं, सब इन्द्रियोंको मेरे सम्बन्धकी करती हैं, देह भी मेरी कर रखी हैं, इसलिये सर्व देहधर्म मेरेलिये ही त्याग दिये हैं. जब तक देहधर्म, देहके ही उपयोगमें आते रहते हैं, तब तक देह भगवदर्थ हो नहीं सकती है, अतः देहधर्म, छोड़ने योग्य है. यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उनके त्यागसे देहका निर्वाह कैसे चलेगा? क्योंकि जिन्होंने लौकिक, [१]वैदिक आदि सर्वधर्म मेरेलिये छोड़ दिये हैं, उनका पालन-पोषण इसी प्रकार करता हूं. जैसे मेरे हाथमें धरी हुई वस्तुको कोई भी नहीं छीन सकता या बिगाड़ सकता है अर्थात् मैं उनकी ऐसी रक्षा करता हूं कि जिससे उनको किसी प्रकारका दुःख न हो, अतः इनको मेरे विरहके सिवाय अन्य कोई दुःख नहीं है. इसकेलिये आप जाकर वह विरहदुःख मेरे सन्देशोंसे मिटा दो ।।४।।

१.वैदिकधर्म कहनेका भाव है कि इन्होंने आत्मारामत्व और व्यापकत्व आदि धर्म छोड़ दिये हैं-प्रकाश.

आभासार्थ : भक्तिमार्गमें विरह ही फलको सिद्ध करनेवाला पुरुषार्थ है, तब उसका निराकरण क्यों किया जाता है? जिसके उत्तरमें 'मयि ता' श्लोक कहते हैं:

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।।५।।

श्लोकार्थ : हे अङ्ग! गोकुलकी स्त्रियोंका, प्यारेसे प्यारा मैं, दूर बैठा हूं, अतः वे विरहके मारे उत्कण्ठित होती हुई दीन बन गई हैं, ऐसी अवस्थामें मेरा स्मरण करते हुए मूर्च्छित हो जाती हैं ।।५।।

व्याख्यार्थ: वे क्षण-क्षणमें मूर्च्छित हो जाती हैं और विह्वल तथा दीन हो रही हैं, अतः उनके प्राणोंकी रक्षा करनी चाहिये, तथा उनकी दीनता निवारण करनी चाहिये. ऐसा ज्ञान व मनका व्यापार भी नहीं है, जो प्राणोंका घात कर सके, प्राणोंके घात होने पर ही मूर्च्छा होती है, ऐसा न होते हुवे भी मूर्च्छा क्यों होती है? उसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि विचार तथा चतुराईसे शून्य, गोकुलकी स्त्रियोंका प्रेमियोंमें भी अति प्रियोसे श्रेष्ठ, मैं जो प्राणप्रिय दूर बैठा हूं. उसके स्मरण करते ही मूर्च्छित होती हैं. तात्पर्य यह है कि उनकी मूर्च्छाका कारण मेरा स्मरण है. उद्धवजीको 'अङ्ग' विशेषण देनेका हेतु यह है कि उनको, जिनके पास(जहां) भेजना है, उनमें मेरा प्रेम है, जिससे वहां स्नेह ही

भेजना चाहिये, इसलिये 'अङ्ग' विशेषणसे बताते हैं कि उद्धवजी आप भी मेरे स्नेही हैं, अतः आपको भेजना ही योग्य तथा आवश्यक है. विरहमें जो स्मरण होने पर मूर्च्छा होती है, जिससे मरण हो या न हो, यह कोई निश्चय नहीं है. जैसे महान् भयसे, अति क्रूरके दर्शनसे, पुत्रादि प्रियके चले जानेके श्रवणसे, प्राण निकल जाते हैं या नहीं भी निकलते हैं, वैसे उनके प्राण भी मेरे वहां जानेकी सम्भावना न जान, मेरे होते हुवे भी मेरे स्मरणसे कदाचित् प्राण निकल भी जाये. यों भी नहीं समझना चाहिये, कि जिसका दर्शन हुआ है, उसके विरहमें स्मरणसे मूर्च्छा होने पर यों न होगा, अर्थात् प्राण नहीं निकलेंगे. यह भगवान्की स्मृति महान् प्रहार जैसी होती है, क्योंकि भगवान्की प्राप्तिकी सम्भावना न रहनेसे यह होता है. भगवान् प्यारे हैं, इसलिये स्मृति अवश्य होगी. अतः भगवान्का न पधारना इसका कोई उपाय न देखनेसे निरन्तर मूर्च्छा ही होती है.

जिस पदार्थका प्रथम अनुभव किया है, वह पदार्थ अब प्रत्यक्ष नहीं है, जिसको 'विरह' कहते हैं. अर्थात् गोकुलकी स्त्रियोंसे भगवत्स्वरूपके आनन्दका अनुभव किया है. वह अब नहीं है, अतः उनको विरह है. जिससे उनको महती उत्कण्ठा है, उससे वे कातर हैं और दीन हो गई हैं. मेरे स्मरणसे मूर्च्छित होती हैं, मेरे धर्मोंका स्मरण करती हैं, तब वे उससे कातर बन जाती हैं(डर जाती हैं). मेरा सन्देश इन दोनोंका निवारण करेगा ।।५।।

आभासार्थ : इस प्रकार मूर्च्छा होती है तो जीवित होनेकी आशा कैसे? इसके उत्तरमें 'धारयन्ति' श्लोक कहते हैं:

धारयन्त्यतिकृष्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ।।६।।

श्लोकार्थ : वे(गोपीजन) मुझमें ही आत्मावाली होनेसे, मेरे आगमनके संदेशोंके भरोसेसे ही अति कष्टसे प्राणोंको धारण कर रही हैं ।।६।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें 'प्रायः' शब्द है, जिसका आशय कहते हैं कि बहुत तो मेरे विरहमें मर गई हैं. शेष जैसे-तैसे केवल प्राणोंको धारण कर रही हैं. उनकी देह, इन्द्रियां और अन्तःकरण तो घबराये हुवे हैं. इसमें कौनसी हेतुपूर्वक युक्ति है? युक्ति तो कुछ भी प्रसिद्ध नहीं है, वास्तवमें तो मरण ही योग्य है. यदि जीवन है, तो कोई न कोई साधन किया जायेगा, यह अप्रसिद्ध होनेसे ही 'कथञ्चन' कहा है. अर्थात् भगवान्के प्रमेयबलसे अथवा भगवान्की इच्छासे ही जैसे-तैसे

कुछ गोपियां प्राणोंको धारण कर रही हैं, उनका दुःख तो प्रमेयबल भी नहीं मिटा सकता है, किन्तु वह प्रमेयबल धारण करानेवाला होकर रहा है, जिससे किसी तरह कठिनाईसे प्राणोंको धारण कर रही हैं. उनका दुःख तो प्रमेयबल भी नहीं मिटा सकता है, किन्तु वह प्रमेयबल धारण करानेवाला होकर रहा है, जिससे किसी तरह कठिनाईसे प्राणोंको धारण कर रही हैं. जब यों है, तो सन्देश भेजनेसे क्या होगा? भगवान् पायेंगे, इतना मेरा सन्देश ही उनके जीवन अर्थात् प्राण बचानेका साधन है. वह साधन यदि पुराना हो जायेगा, तो अवश्य मरण ही होगा, अतः यों न होवे, इसकेलिये दूसरा उपाय करना चाहिये. वह उपाय, पत्रमें स्पष्ट होगा अर्थात् पत्र पढ़कर वे उस उपायको समझ जायेंगी, जिससे उनका दुःख दूर होगा तथा प्राण भी नहीं जायेंगे. स्त्रियोंके पास और उसमें भी फिर गुप्तसन्देश कहना, वैसे कार्यकेलिये पुरुष कैसे भेजे जाते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे गोपियां मेरी हैं, तुझमें तो मेरा सन्देह नहीं है और वे भी जो मेरी हैं और मेरी होनेसे उनका मन दूसरेमें कभी नहीं जाता है, कारण कि मेरे सम्बन्धका यह ही सामर्थ्य है. ये मेरी जो हैं, वे गोपोंकी स्त्रियां हैं. गोप अत्यन्त कामी होते हैं, जिससे वे सदैव स्त्रियोंको कङ्कणकी तरह दिन-रात चारों तरफ घेराकर बैठते हैं. नित्य स्त्रियोंको सुख देते हैं. वैसे गोपोंको भी त्यागकर जो मेरे पास आई हैं, वे दूसरोंके पास कभी जानेकी इच्छा भी न करेंगी. इस प्रकारकी शङ्का भी उदय नहीं होती है. ठीक है, वे वैसी हैं, किन्तु मेरी ही उनमें अन्यथाबुद्धि हो जावे, तो फिर मेरी कैसी गति होगी? जिसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मैं ही जिनकी आत्मा हूं, वैसी वे हैं. अर्थात् वे मेरा ही रूप है, अतः उनमें मेरी ही बुद्धि होगी अर्थात् उनको तूं मेरा ही रूप देखेगा, इसलिये तुम पुरुष हो और वहां जाते हो तो कोई चिन्ता नहीं है ।।६।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्ने उद्धवजीको युक्तिपूर्वक व्रज जानेकी आज्ञा दी, आज्ञानुसार उद्धवजीने कार्य किया, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'इत्युक्त' श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुरादृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ।।७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा-हे महाराज! भगवान्ने उद्धवजीको

इस प्रकार कहा. उद्धवजीने स्वामीकी आज्ञाको आदरपूर्वक मान लिया. तदनुसार रथमें बैठकर नन्दके गोकुलको रवाने हुए।।७।।

व्याख्यार्थ: श्रीशुकदेवजीने परीक्षितको हे राजन्! यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि सेवकोंको ईश्वरकी आज्ञा अवश्य माननी चाहिये. वह(उद्धवजी) [१]उत्सवरूप हैं, जहां भी जाते हैं, वहां उत्सव होता है. 'भर्ता' कहते हैं स्वामीको. यह पद देकर उद्धवजीका पतिव्रतधर्म सिद्ध किया है और उससे यह बताया है कि जिससे उद्धवजी [२]निन्दा, [३]अस्तुति, [४]लोकातिक्रम और [५]परलोककी बाधा आदिकी परवाह न कर, स्वामीका सन्देश लेकर गोकुल गये. उसमें भी ऐसे आनन्द और आदरके साथ गये कि जैसे किसीको कोई परम पुरुषार्थकी ही प्राप्ति हुई हो. भगवत्स्मरणसे विकलताके कारण मार्गमें जाते हुवे कोई रुकावट हो जाये तो वहां पहुंच न सकूंगा, इसीलिये रथमें गये ।।७।।

१.सबका विस्मरण होकर आनन्द ही आनन्द हो.

२.महान् होकर साधारण(दूत) कार्य करे, तो यज्ञ निन्दा करेंगे.

३.अस्तुति–यह काम उद्धवजीके योग्य नहीं है, इस प्रकार 'अस्तुति'.

४.लोकातिक्रम–यह उद्धव भी वैसा ही है, इस प्रकार लोकका किया हुआ.

५.परलोक बाद–लोक भगवान्में दोषोंका आरोपण करे, तो उन दोषोंको सुनना, परलोकमें रुकावट होए तथा आदि पदसे यह भक्तिमार्गमें बाधा करे. यह सर्व उद्धवजी ध्यानमें नहीं लाए, क्योंकि भगवान् स्वामी हैं, इसलिये उनकी आज्ञामें आदर होनेसे उद्धवजी गोकुल गये, ये आशय 'भर्ता' पदके हैं –'लेख'

आभासार्थ : जानेके दिन ही संदेश कहना अशक्य है और प्रथम नन्दजीको कहना अति अशक्य है. उनको भगवत्स्मरणसे विशेष विरह दुःख होगा, इसलिए सन्ध्याके समय गोकुल गए, जिसका वर्णन 'प्राप्तो' श्लोकमें करते हैं:

प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः निविशतां पशूनां खुररेणुभिः ।।८।।

श्लोकार्थ : सूर्यास्त होते ही श्रीमान् उद्धवजी नन्दजीके व्रजमें पहुंचे. उस समय पीछे आते हुए पशुओंके खुरोंकी रजसे उनका रथ आच्छादित हो गया था ।।८।।

व्याख्यार्थ: नन्दके ही [१]व्रजमें पहुंचे, विशेष आकारके [२]कालके कारण

वैसी शङ्का हो सकती थी कि कोई अतिथि(अभ्यागत) आया है, किन्तु वह उसरूप(अतिथिरूप)में नहीं है, इसलिये श्लोकमें 'श्रीमान्' विशेषण दिया है अर्थात् वह आनेवाला सर्वसम्पत्ति युक्त है. जिससे सुन्दर वेशभूषा धारण किये हुवे हैं. सूर्यके अस्त होते हुवे वहां पहुंचे. 'विभावसु' शब्दका अक्षरार्थ होता है, 'विशेष प्रकाश ही जिस पदार्थका धन है', वह विभावसु है. अतः इस अर्थसे सूर्य वा अग्निका ग्रहण किया जा सकता है, इससे यह बताया है कि गोकुलवासी अपने-अपने लौकिक और [२]वैदिक कार्यमें लगे हुवे हैं. अतः उद्धवजीने बताया है, कि इस समय पहुंचनेके कारण मेरे आनेका ज्ञान किसीको भी न हुआ और विशेषतया इसलिये भी ज्ञान नहीं हुआ, जो मेरा रथ व्रजमें आते हुवे पशुओंके खुरोंकी रजसे आच्छादित हो गया था. व्रजमें आनेके समय पशु, वेगसे आते हैं, जिससे खुरोंसे रज जोरसे उड़ती है, उस रजसे रथको ढक दिया था ।।८।।

१.लेखकार कहते हैं कि सन्ध्या समय होनेसे नन्दके व्रजमें जाना ही उचित था, कारण कि उस समय गोपियां मिलती नहीं, क्योंकि भगवान्के आनेका समय है.

२.प्रकाशकार कहते हैं कि 'विशेष आकारके कालके' कहनेका आशय है कि भगवान्के आनेका समय था.

३.लेखकार कहते हैं कि सूर्यास्तके समय लोग अपने कार्यमें व्यग्र होते हैं. यदि 'विभावसु' शब्द अग्निवाचक है, तो उस समय अग्निहोत्री वैदिककर्ममें व्यग्र रहते हैं.

आभासार्थ : व्रजमें भगवान्के प्रकट न रहनेसे ऐश्वर्य [१]गुणके सिवाय शेष पांच गुण हैं, जिनसे गोकुलका पांच प्रकारसे वर्णन करते हैं. वीर्य काममें स्थित है, अतः 'वासितार्थ' श्लोकसे पशुओंकी कामलीला कहते हैं:

१. लेखकार कहते हैं कि गोकुलमें भगवान्, भक्तोंके हृदयमें विराजते हैं, इसलिए वहां ऐश्वर्य गुण प्रकट नहीं है.

वासितार्थेऽभियुद्ध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ।।९।।
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ।।१०।।

श्लोकार्थ : रजवाली गायोंकेलिए मदोन्मत्त बैल आपसमें लड़ते हुए नाद कर रहे हैं. दूधसे भरजानेके कारण भारी हुए थनोंके भारसे चलनेमें असमर्थ होते हुए भी गाय अपने बछड़ोंको न देख, उनकेलिए दौड़ रही हैं. इधर-उधर कूदते-

फांदते गायोंके सफेद बछड़ोंसे शोभित और गौओंके दोहनके शब्दकी ध्वनिसे तथा वेणुकी ध्वनिसे शोभित हैं ।।९-१०।।

व्याख्यार्थ: मदोन्मत्त बैल नाद करते हैं, जिससे पितर भी तृप्त होते हैं यों प्रसिद्धि है. वह नाद जय होनेसे करते हैं, अतः युद्धका वर्णन करते हैं. जिस प्रकार ऋतुकालमें स्त्री भोगयोग्य होती है, वैसे भोगयोग्य अर्थात् रजवाली गौ, स्वल्प होती हैं, बैल बहुत होते हैं, इस कारण परस्पर लड़ते हैं. इस प्रकार बैलोंका वर्णन कर गायोंका वर्णन करते हैं. ताजा व्याई हुई बछड़ेवाली गायें बछड़ोंको न देखकर उनसे मिलनेकेलिये इधर-उधर दौड़ती हैं और ध्वनि करती हैं, जिससे व्रज नादित हो रहा है. यद्यपि थनोंमें भरे दूधके भारसे दौड़ना अशक्य सा है तो भी बछड़ोंमें प्रेम होनेसे दौड़ रही हैं. स्त्री(गाय) और पुरुष((वृष)साण्ड) दोनोंका वर्णन करनेसे 'वीर्य' गुणका वर्णन किया है.

बछड़ों सहित अन्य स्थलोंका भी उल्लङ्घन करनेवाले बछड़ोंसे व्रज सुशोभित हो रहा है. बछड़ोंकी तरफ दौड़ती गौओंसे शोभित, उनका भी उल्लङ्घन करनेवाले अन्य बछड़ोंसे गोकुल सुशोभित है. जहां तहां वैसी शोभा कहनेसे 'श्री'गुणका वर्णन किया है. गौओंके सफेद बछड़ोंसे विशेष शोभा हो रही है. जिस गोकुलमें चारों तरफ गौओंके दोहनकी ध्वनि सुनी जाती है और वेणुका मधुर अव्यक्त स्वर सुननेमें आता हैं, जिनसे गोकुल सुशोभित है. स्वरूपसे जो शोभा है, वह धन तथा 'श्री'का कार्य है. वीणा आदि वादनकी भांति वेणुका वादन भी 'श्री'का कार्य ही है. यहां 'च'का आशय है कि यहां वीणा आदि वाद्य भी शोभाजनक बजते हैं ।।९-१०।।

१.लेख: यह 'वृषोत्सर्ग' प्रकरणमें कहा है. यह कामलीला, धर्मसे विरुद्ध नहीं है, क्योंकि धर्मानुकूल काम विभूतीरूप है, जैसे कहा है कि 'धर्माऽविरुद्ध'.

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ।।११।।

श्लोकार्थ : सुन्दर वस्त्र और आभूषणोंसे सुसज्जित गोपियां तथा गोप, राम और कृष्णके माङ्गलिक चरित्र गाते थे, जिससे भी गोकुल नगरी शोभावाली हो रही थी ।।११।।

व्याख्यार्थ: बलराम और श्रीकृष्णके शुभ कर्म अर्थात् जो-जो कौतुक लीलाएं उन्होंने की हैं, वे सब शुभ हैं, कारण कि गोकुलवासियोंको ये आनन्द

देनेवाली हैं. गोकुलको छोड़, मथुरा गये, यह भी कर्म है, तो भी अर्थात् जानेसे वियोग हुआ है, किन्तु वह कर्म जब गोपियां गाती हैं, तब परम आनन्द देता है और वह गान यदि स्त्रियां गाती हैं, तो [१]यशरूप हो जाता है. यदि स्त्रियां नहीं गावें, तो भगवद्गुणगान करना यह शास्त्रकी आज्ञा है, अतः वह धर्मरूप ही होता है. गोप और गोपियां, जो गुणगान करती हैं, वे कैसे रूपसे करती हैं? जिसका वर्णन करते हैं कि गोप–गोपी दोनोंने अपनेको सुन्दर वस्त्र तथा अलङ्कारोंसे अलङ्कृतकर, फिर प्रेमसे भगवत् लीलाओंका गान करते थे. इस प्रकार गोकुल पांच प्रकारसे मण्डित हो रहा था, जिस समय कि उद्धवजी पधारे थे ।।११।।

१.लेख: स्त्रियां गाती हैं, तो यशरूप होता है और पुरुष तो गुणगान धर्मबुद्धिसे भी करते हैं. अर्थात् स्त्रियां धर्म समझकर नहीं गाती हैं, अतः वह यशरूप ही होता है– अनुवादक.

आभासार्थ : ज्ञानकेलिए धर्मको कहते हैं. ज्ञान वह उपयोगी(भक्तिमें उपयोगी) है, जो प्रवृत्ति स्वभाववाला हो, जिसका वर्णन 'अग्न्यर्का' श्लोकमें करते हैं:

अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ।।१२।।

श्लोकार्थ : गोकुलमें अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितर और देवताओंका सम्मान हो रहा है तथा धूप, दीप, माला आदिसे गोपोंके घर मनोहर हो गए हैं ।।१२।।

व्याख्यार्थ: अग्निहोत्र आदिसे अग्निका पूजन हो रहा है. सन्ध्यावन्दन आदिसे सूर्य पूजे जाते हैं. अतिथियोंकी पूजा हो रही है, व्रत तथा दानके समय गौ पूजी जाती है. इस प्रकार ब्राह्मण भी पूजे जाते हैं. पितर और देवोंकी पूजा किसी निमित्त होने पर होती है. इससे सिद्ध होता है कि गोकुलमें श्रौत और स्मार्त दोनों धर्म होते हैं. देवता, हवि और मन्त्र ये तीन श्रौतधर्ममें निरूपित हैं. पितर तथा देवता, स्मार्तकर्म, जो श्राद्ध और होमे है, उसमें आते हैं. वहां तान्त्रिकधर्म भी है, जिसका निरूपण करते कहते हैं कि पूजनमें धूप, दीप, पुष्प आदि लाये जाते हैं, जिससे गोपोंके घर मनोहर लगते हैं. साधारणरीतिसे गोपोंके घर सुन्दर नहीं होते हैं, अतः वहां इस प्रकार धार्मिक प्रस्तावोंके होनेसे वे गोपगृह भी सबके मनको रञ्जन करनेवाले हुवे हैं ।।१२।।

आभासार्थ : वैराग्यका निरूपण करते हुए कहते हैं कि घरमें उद्वेग होने पर जो बाहर निकल आता है, उसको वहां महान् आनन्दकी प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन 'सर्वतः' श्लोकमें करते हैं:

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ।।१३।।

श्लोकार्थ : चारों तरफ फूल खिले हैं, जिनमें वैसे वन हैं, जिन वनोंमें पक्षी कूज रहे हैं और भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं और कमलोंके वनमें हंस और कारण्डव पक्षी व्याप्त हो रहे हैं, जिससे वह शोभित है ।।१३।।

व्याख्यार्थ: चारों तरफ फूलोंसे युक्त वन हैं. यहां 'वन' शब्दसे अधिक उपवनवाला और जलप्राय वन कहा है. वनके पुष्प बहुत सुन्दर तथा गन्धवाले हैं. जिनकी पुष्टिमें कहते हैं कि उनके गन्धके रस जाननेवाले पक्षी वहां कलरव करते हैं तथा भ्रमर गूञ्ज रहे हैं. जलके स्थानोंकी विशेषता दिखानेकेलिये कहते हैं कि हंस और कारण्डव पक्षी वहां सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं. मुख्य पद्मसे, पद्मखण्डोंसे और पद्मसमूहोंसे वन सुशोभित हैं ।।१३।।

आभासार्थ : इस प्रकार व्रजका वर्णन किया, जैसे व्रजमें गए हुए उद्धवजीका पूजादिसे सत्कार किया, उसका वर्णन 'तमागतं' श्लोकमें करते हैं:

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ।।१४।।
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः ।।१५।।

श्लोकार्थ : नन्दजी श्रीकृष्णके अनुचर तथा प्रिय उद्धवजीको आते देख, उनके सामने आए तथा प्रसन्न होकर उनका आलिङ्गन किया, अनन्तर वासुदेव मेरे घर पधारे हैं, इस बुद्धिसे उनका पूजन किया. सुन्दर व्यंजन खिलाए, पश्चात् सुखपूर्वक पलङ्ग पर बैठाया. पांव दाबनेसे जब उनकी थकावट दूर हुई, तब उनसे पूछने लगे ।।१४-१५ ।।

व्याख्यार्थ: नन्दजी उद्धवजीके आते समय उनके आदरार्थ (स्वागत केलिये) पास गये. उसके दो कारण हैं, एक वे श्रीकृष्णके अनुचर (दास,भक्त) हैं और दूसरे उनके प्रिय मित्र हैं, अतः नन्दजीने उनके आनेकी प्रसन्नता प्रकट करनेसे यह सूचित किया कि मेरेलिये पधारे हैं, जिसने समानता जानकर

आलिङ्गन किया. उनकी पूजा वासुदेवकी बुद्धिसे करने लगे, कारण कि भगवान्के सेवकमें भगवद्बुद्धि करनी चाहिये, इस शास्त्रीय सिद्धान्तको नन्दजी जानते हैं, जैसा कि कहा है(यो यच्छ्रद्धः स एव सः) जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है, उसकेलिये वह वैसा ही हो जाता है, इसलिये उद्धवजीमें नन्दरायने कृष्णबुद्धि की, तो उसकेलिये वह कृष्ण ही हो गया, अतः पूजा की ।।१४।।

पूजाके बाद सुन्दर अन्नादिसे बनाये पक्वानोंका भोजन कराया. किसीकी राय है कि उद्धवजी दूसरी जाति अर्थात् क्षत्रिय थे और नन्दजी वैश्य थे, इसलिये दूधकी बनी वस्तुओंसे भोजन करवाया था. पश्चात् कोमल आस्तरण (बिछौना) किये हुवे पलङ्ग पर बैठाया, जिससे यह सिद्ध हुआ कि नन्दजीने उद्धवजीका आदर राजाओंके समान किया है. अनन्तर स्वयं नन्दजीने अथवा दूसरेके द्वारा पांव दबाकर उनकी थकावट दूर की, इत्यादि प्रकारसे सत्कारकर पीछे कुशल पूछने लगे. उसका कुशल तो स्वामिके कुशल पूछनेमें ही पूछा माना जावेंगा. भगवान्की कुशलता पूछनेके पहले अपने मित्र वसुदेवका कुशल पूछते हैं. यह भावार्थ 'परि' शब्दका है, यदि केवल भगवान्की कुशल ही पूछनी होती तो श्लोकमें 'अपृच्छत्' कहते किन्तु 'परि' शब्दसे उनके सम्बन्धियोंकी भी कुशल पूछनी आवश्यक है ।।१५।।

आभासार्थ : वही 'कच्चिदङ्ग' श्लोकसे कहते हैं, अर्थात् वसुदेवजीकी कुशल पूछते हैं:

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ।।१६।।

श्लोकार्थ : हे परम प्रिय! हे महाभाग! हमारे मित्र शूरसेनका पुत्र वसुदेव वहां रहता है, वह बन्धनसे छूट, पुत्र आदि बांधवोंके साथ कुशल तो है? ।।१६।।

व्याख्यार्थ: नन्दजी कहते हैं कि उद्धवजी! आप श्रकृिष्णके परम प्यारे मित्र हो और भगवान्के भक्त हो, अतः भाग्यवान् हो. बताइये, हमारे मित्र शूरसेनके पुत्र वसुदेवजी, पुत्र आदिसे युक्त बन्धनसे छूटनेके बाद बान्धवोंके साथ कुशल तो हैं? यों कहनेसे रोहिणी आदि वसुदेवजीके यहां गईं हैं, यह बताया है. अन्य स्थानों पर जो पुत्र आदि सम्बन्धी थे वे भी आ गये हैं, अतः उनकी भी कुशल पूछी है. वसुदेव अपना मित्र है, अतः यहां पुत्रकी स्थापना करके और कन्याको ले जानेसे मनकी चिन्ता दूरकर मुझे परमानन्द दिया है. वसुदेव शूरका

पुत्र है, इसलिये ही उसका महत्त्व है. बन्धनसे 'मुक्त' हुवे इसका पुनः कहना भी समस्त चिन्ताकी निवृत्तिकेलिये है ।।१६।।

आभासार्थ : इसके अनन्तर भगवान्की कुशल पूछनेसे प्रथम प्रतीत होनेवाले दोषका निवारण 'दिष्ट्या कंस' श्लोकसे करते हैं:

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगाः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ।।१७।।

श्लोकार्थ : प्रसन्नता है कि पापी कंस अपने भाईयोंके साथ अपने पापसे ही नाश हुआ, जो धर्मात्मा यादवोंसे सदा वैर रखता था ।।१७।।

व्याख्यार्थ: कंस, जो भाईयोंके साथ मरा, वह प्रसन्नता है. वह रोगके समान था, इससे नष्ट होना कठिन था. इन्द्र आदिसे भी, जिसका मारना अशक्य था. भगवान्ने मामाको मारा. श्लोकमें कंसका विशेषण 'पापः' देकर बताया है कि वह पापी होनेसे मरा है. भगवान् तो काकतालीयन्यायवत् मारक हुवे हैं. साधारण पापी नहीं था, किन्तु महान् पापी था, क्योंकि साधु स्वभाववाले, धर्मात्मा और यादवोंका शत्रु था, अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा भक्ति, तीनोंका द्वेषी था. साधु कहनेसे ज्ञानमार्गका उत्कर्ष बताया, ऐसेका शत्रु था. धर्मशील पदसे कर्ममार्गकी श्रेष्ठता बताई, उसका भी द्वेषी था और यदु शब्दसे भक्तिका गौरव कहा. वैसे भक्तिका भी वैरी था, जिससे वह प्रकट हुआ कि वह समस्त सन्मार्गोंका ही शत्रु था. उत्कट पापी था, अतः उसका वध योग्य ही था, इसलिये वैसा निरूपण किया है. किसी कार्यसे किसी समय किसीसे द्वेष हो, वह अत्यन्त निन्दनीय नहीं है, किन्तु यह सदा ही सन्मार्गोंका वैरी था, जिससे निन्दनीय तथा मारणीय है ।।१७।।

आभासार्थ : इन दोषोंका परिहारकर, अब भगवान्के भक्तोंकी रक्षा, गुणोंकी उत्तमता और पराक्रम आदि गुणोंका वर्णन नौ श्लोकोंमें करते हैं. एकमें दोषाभावका वर्णन किया, इस प्रकार दश श्लोकोंसे गुणातीतके साथ कुशल कहा है. उनमें प्रथम कहते हैं कि हम निरन्तर स्मरण कर रहे हैं क्योंकि यहां उनके स्मरण करानेवाले बहुत हैं. वह याद करते हैं या नहीं? क्योंकि वहां कोई भी ऐसा नहीं जो हमारी याद करावे, इसलिए पूछते हैं और उसका विवरण 'अपि स्मरति' श्लोकसे करते हैं:

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।

गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ।।१८।।

श्लोकार्थ : भला कभी कृष्ण हमको याद करते हैं? तथा माता, सुहृत्, सखा, गोप, आप ही जिसके नाथ हैं, वैसे व्रज, गौ, वृन्दावन और गोवर्द्धन पर्वत, उनको भी याद करते हैं ।।१८।।

व्याख्यार्थ: यहां 'अपि' शब्दका अर्थ 'सम्भावना'में है, कि शायद कृष्ण हमको याद करते हैं? 'कृष्ण' यह नाम स्नेहसे ग्रहण किया है. कृष्ण स्मरण करते हैं? यों इसीलिये पूछा जाता है कि वहां कोई ऐसा नहीं है, जो हमारा स्मरण करावे. स्मरण करानेवालेके सिवाय स्मरण नहीं होता है. यों कहकर फिर यहां बालोंके साथ श्रीकृष्णका तो सम्बन्ध है, वह बताते हैं. जैसे कि माता यहां है, यह सम्बन्ध तो स्मारक है. सदृश, अदृष्ट और चिन्ता आदिकी वस्तुऐं स्मारक होती हैं. उनमेसें यहां सदृशका अभाव है. अदृष्ट भगवान्में होता नहीं है. शेष, चिन्ता यहां स्मारक हो सकती है, कृष्ण हमारी याद करे, उसके आठ हेतु है. वे इस प्रकार दिखाये जाते हैं, १.माता यशोदा, २.हम, पहले अपनेको कहा और बहुवचन कहकर सर्वकी अपेक्षा कह दी, अर्थात् सबकी तरफसे मैं कह रहा हूं, इसलिये बहुवचन दिया है.३.सुहृद्(सम्बन्धी–उपनन्द आदि), ४.सखा–गोप, ५.व्रज (रहनेका स्थान), ६.गौ, ७.वृन्दावन और ८.गोवर्द्धन पर्वत. व्रजके कहनेसे सर्व व्रजवासीका भाव प्रकट किया है. उसके स्मरणमें यह विशेष हेतु हैं कि आप उसके स्वामी हैं. गायोंके स्मरणमें मुख्य कारण यह है कि उनके पालक आप हैं. वृन्दावन क्रीड़ाका स्थान है और गोवर्द्धन गिरिविशेष लीलाओंका आधार(स्थान) है. ये सब कृष्णके चिन्ताके पदार्थ हैं, इसलिये ये स्मारक हैं. अतः कदाचित् वे याद करते होंगे, इसलिये 'अपि' सम्भावनामें दिया है ।।१८।।

१.'दिष्ट्या कंसो हतः' श्लोकमें दोषाभावका वर्णन है.

आभासार्थ : उद्धवजीने कहा कि याद करते हैं, इस पर यह श्लोक कहकर पूछते हैं कि 'अप्यायास्यति' इस श्लोकसे:

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : भला कृष्ण एक बार भी स्वजनोंको देखनेकेलिए आवेंगे? जो आवेंगे तो आपके सुन्दर नासिकावाले तथा सुन्दर, स्मित(मन्दहास्य) एवं नेत्रोंवाले मुखारविन्दको देखेंगे ।।१९।।

व्याख्यार्थ: जो जिसको याद करता है, उसको उसकी अभिलाषा होती है. जिससे स्मरण करानेवाला उसके पास जाता है, अतः यहां भी ऐसी सम्भावना है, अर्थात् आवेंगे, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि यहां गुणभाव(यहां गायोंको चराते हैं) है. वहां तो राज्य है, इसलिये कैसे आना होगा? यहां भी राज्य है, क्योंकि समस्त देवोंसे यहां आपको 'इन्द्र' पदवी दी है. जिससे आप 'गोविन्द' कहलाते हैं. इसके अलावा यहां स्वजन रहते हैं, उनको देखना चाहिये. यद्यपि उन्हें कई बार आना चाहिये, अन्यथा एक बार भी आयेंगे तो सही, इस प्रकार नन्दजीने अत्यन्त अभिलाषा प्रकट की है. आवेंगे, ऐसा उत्तर मिलनेकी आज्ञासे अपने मनके भाव प्रकट करते हैं कि जब पधारेंगे तब उनके मुखारविन्दके दर्शन होंगे.

ईश्वरकी प्रेरणा तथा आज्ञाके अभावसे गमनकी सम्भावना नहीं दीखती है. कारण कि वे निरोध किये हुवे है. आगमन ही निरोधका ज्ञापक है, जो निरुद्ध हैं, उनको भगवदिच्छानुसार ही सब कुछ करना चाहिये. 'सुनस' शब्दसे भगवान्की सुन्दरताका वर्णन किया है. 'सुस्मितेक्षणम्' शब्दसे सर्व कृपा आदि भाव बताये हैं, वैसे मुखारविन्दका अधिक प्रेमसे नित्य देखनेके कारण कामित्(कामनासे प्राप्त वस्तु)के समान वे हो गये[१] हैं ।।१९।।

१.लेखकार 'नित्य' शब्दका भाव प्रकट करते हैं कि 'मुखारविन्द'में निरीक्षित भी प्राप्त ही है.

आभासार्थ: यहां स्मरण करानेवाले बहुत हैं, अतः हमको तो उनका सदैव स्मरण होता रहता है. यह बतानेकेलिए भगवान्ने लीलाएं कर, जो-जो उपकार किए उनको 'दावाग्नेः' आदि श्लोकोंसे कहते हैं:

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ।।२०।।

श्लोकार्थ: देखो महात्मा कृष्णने दावानल, वायु सहित वर्षा, अरिष्टासुर, सुदर्शन सर्प और अन्य अनेक दुरत्यय मृत्युसे हमारी रक्षा की है ।।२०।।

व्याख्यार्थ: नन्दजीने जो देखे, बहुतकर उनकी गणना करते हैं. कालीयह्रद पर दावाग्निसे, गोवर्द्धनके उठानेके समय, अरिष्ट, सुदर्शन सर्प और 'च' शब्दसे अन्य जो भी सुने हैं वे भी ग्रहणकर लिये जायें. दूसरे 'च' शब्दसे वरुण

आदिके उपद्रवसे. विशेष क्या कहें, जो भी मृत्यु दुरत्यय(टाले नहीं जा सकने-वाले) है, अथवा कंस और दावानल आदि मृत्यु कर्ता हैं, उन सर्व संकटोसे, महात्मा कृष्णने अपने फलरूप तथा साधनरूपसे रक्षा की है. आप हमारी आत्मा ही हैं, उपकारकी अपेक्षा नहीं की है तथा महान् हैं, जिससे बहुत उपकार किये हैं. महात्मा शब्दके पूर्व 'सु' शब्दका भाव प्रकट करते हुवे कहते हैं कि प्रार्थना करनेके सिवाय भी सर्व प्रकार हित ही करते हैं, इसलिये आप उत्तम हैं ।।२०।।

आभासार्थ : जब इस प्रकार उन्होंने उपकार किये हैं, तब क्यों नहीं आप वहां जाते हैं? यों शंका हो तो उसका उत्तर 'स्मरतां' श्लोकमें देते हैं:

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ।।२१।।

श्लोकार्थ : हम श्रीकृष्णका पराक्रम, लीलासे कटाक्ष सहित देखना, हंसना तथा भाषण आदिका स्मरण करते हुए क्रियामात्र करना भूल जाते हैं, अतः नहीं जा सकते हैं ।।२१।।

व्याख्यार्थ: कृष्णके किये हुवे पराक्रमोंको केवल याद करते हुवे भी हमारी सर्व क्रियाऐं शिथिल हो जाती हैं. भगवान्के पास जानेकेलिये शिथिलता न हो तो प्रेमसे जाना हो सकता है. मनमें यह विचार होता है, कि भगवान् हमारे हैं, वहां क्यों रहते हैं? चलकर वहांसे ले आवें, किन्तु इस प्रकार विचार करते आपके पराक्रमोंका जब स्मरण आता है, तब विचार आता है कि भगवान्ने तो इतना उपकार किया है, किन्तु हमने क्या किया है? हम कौन है? और यह हमारी कैसी धृष्टता है, इस प्रकारके विचारोंसे शिथिलता आ जाती है. हम वहां जाकर उनको अपने सुखकेलिये ले आवें. यदि आप यों कहो तो भी वहां जाना निरर्थक है, क्योंकि कृष्ण तो सदानन्दरूप होनेसे स्मरणमात्र करनेसे ही सुखदान कर देते हैं. अतः दोनों प्रकार गमनका बाध होता है. यदि कहो कि इन्द्रियोंको सुख हो, तदर्थ वहां जाकर दर्शन करना चाहिये, तो यह कहना भी तत्त्ववाला नहीं है. कारण कि उनकी लीलासे जो कटाक्ष द्वारा ईक्षण है, उसके स्मरणसे ही इन्द्रियोंको आनन्द प्राप्त हो जाता है.

यदि बुद्धिसे भगवान्के दृष्टिकी भावना की जाये, तो इससे चक्षुको आनन्द प्राप्त हो जाता है. भगवान् लीला कर रहे हैं, इस भावनासे देखा जाये तो उस लीलाके दर्शनसे प्राण तृप्त हो जाते हैं. उस लीलामें जब भगवान्

अपाङ्गों(कटाक्षों)से देख रहे हैं और वैसे दर्शन होते हैं, तब तो धृष्टता दूर हो जाती है और सर्व ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है. आपका हास्य मोहित करता है. आपका भाषण श्रोत्र आदिको सुख देता है, अतः सर्व प्रकारके अर्थ, प्रयत्नसे ही पूर्णकर हमको दूर रखना चाहते हैं. जिससे हममें गमनकी समर्थता नहीं रहती है. श्लोकमें 'च' इसलिये दिया है कि यह सब भगवान्का ही चरित्र(लीला) है. हे अङ्ग! यह सम्बोधन इसलिये है कि यह जो कुछ कहा जाता है वह [१]प्रतारणा केलिये नहीं कहा जाता है, किन्तु यह सत्य ही है. देह, मन, लौकिक और वैदिक सम्बन्धवाली क्रियाएं हैं. उन सर्वके उद्योग करनेमें उनका स्मरण आवश्यक है. स्मरण होनेसे गमन असम्भव है, क्योंकि उससे सर्वथा आनन्द प्राप्ति होने पर जानेकी शक्ति ही नहीं रहती है ।।२१।।

१.मथुरा जानेकी ढिठाई-ईश्वरकी भांति अपने घरमें ही लीला रसका अनुभव लेना-लेखकार.

आभासार्थ : हम क्षण-क्षणमें मुक्त हो जाते हैं, जिसका वर्णन 'सरिच्छैल वनोद्देशान्' श्लोकमें करते हैं:

सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ।।२२।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णके चरण चिह्नोंसे अलंकृत नदी, पर्वत और वनके प्रदेश एवं जो उनके क्रीड़ाके स्थल हैं, उनको जब हम देखते हैं, तब हमारा मन तद्रूप हो जाता ।।२२।।

व्याख्यार्थ: जहां-जहां भगवान्ने अपना सामर्थ्य स्थापित किया है, उसके दर्शनसे ही मनमें भगवदावेश हो जाता है अर्थात् मन तद्रूप हो जाता है, जिससे निपट हो जानेका अभाव हो जाता है. प्रभाववाले स्थान कहते हैं, गोवर्द्धन आदि पर्वत, वृन्दावन आदि वनोंकी भूमि. इनमें मुकुन्द भगवान्ने चरणों द्वारा, अपना प्रभाव स्थापित किया है. जिन स्थानोंको पादोंसे प्रभावित करनेकी इच्छा नहीं थी, वे भी पदारविन्दोंसे विभूषित हो गये, क्योंकि केवल खेलते-खेलते वहां चरण धरे गये, अतः श्लोकमें क्रीडास्थान भी कहे हैं. ये सब निकट हैं, अतः दर्शन आवश्यक है. अर्थात् दर्शन स्वतः भी हो ही जाते हैं, वह दर्शन ही मनके तद्रूप होनेमें हेतु है ।।२२।।

आभासार्थ : जब विपरीत बुद्धि भी दृढ है, तब राम-कृष्णके सामर्थ्य

को आपने कैसे जान लिया ? जिसका उत्तर 'मन्ये कृष्णं' श्लोकमें देते हैं:

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ।।२३।।

श्लोकार्थ : गर्गाचार्यजीके वचनानुसार मैं मानता हूं कि सुरोंमें उत्तम राम और कृष्ण देवताओंके बड़े कार्य करनेकेलिए यहां पधारे हैं ।।२३।।

व्याख्यार्थ: महान् होनेसे तथा वस्तुकी सामर्थ्यसे मन तद्रूप हो जाता है, वैसा सुना गया है तो भी कभी असम्भावनासे वैसी प्रतीतिको मन नहीं ग्रहण करता है, किन्तु नन्दजी कहते हैं कि मुझे तो अनुभव है, अतः मेरा मन प्रतीतिको ग्रहण करता है. इसलिये मैं मानता हूं कि राम और कृष्ण दोनों सर्व देवोंसे श्रेष्ठ हैं. इसलिये दो बार 'च' दिये हैं, यदि वे सर्व, ब्रह्मा आदि देवोंसे भी उत्तम हैं, तो उनके यहां आनेका क्या कारण है ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि देवताओंके महान् कार्य सिद्ध करनेकेलिये यहां स्वयं ही आये हैं, न कि उत्पन्न हुवे हैं. आपके आये बिना देवोंका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था. यदि कहो कि यह आपका तर्क ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रमाणके बिना कैसे निर्णय किया जावे ? इस पर कहते हैं कि प्रमाण है, गर्गाचार्यने जैसा कहा है वैसा मैं भी मानता हूं, अतः गर्गाचार्यके वचन प्रमाण और मेरा अनुभव, दोनोंसे, सिद्ध है कि ये सकल देवोंमें उत्तम हैं, इनका माहात्म्यज्ञान योग्य ही है ।।२३।।

आभासार्थ : सामर्थ्यसे भी उसका निश्चय किया जाता है, जिसका वर्णन 'कंस' श्लोकसे लेकर तीन श्लोकोंमें करते हैं:

कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ।।२४।।

श्लोकार्थ : जैसे सिंह पशुओंको मारता है, वैसे ही उन्होंने दसहजार हाथियोंके बलवाले कंसको तथा दो मल्ल एवं कुवलयापीड हस्तीको लीलासे ही मारा है ।।२४।।

व्याख्यार्थ: सात्त्विकी, राजसी और तामसी लीलाएं क्रमसे कही. अब सामर्थ्य बताते हैं. जिस कंसमें दशहजार हाथियोंका बल है, वैसे कंसको, वैसे चाणूर और मुष्टिक मल्ल भी दशहजार हाथियों समान बलवाले थे, उनको, एवं दशहजार हाथियोंके समान बलवाला एक कुवलयापीड ँहस्ती था, जिसको भी, इन सबमें चालीसहजार हाथियोंका बल था, जिनको भी, लीलासे ही नष्ट कर

दिया, यों तो नहीं कि मन्त्र आदिके बलसे नष्ट किया? इस शङ्काके निवारण केलिये दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सिंह, पशुओंको स्वभावसे ही नष्ट कर देता है अर्थात् सिंहमें वैसी शक्ति स्वभावसे ही है. उसी प्रकार भगवान्में भी स्वभावसे उससे अनन्त गुणा सामर्थ्य है. अतः मन्त्र आदिसे वध नहीं, किन्तु स्वाभाविक शक्तिके कारण लीलासे वध किया है, यह बताया है. सिंहका गज ही विरोधी होता है, गौ आदि पशु नहीं ।।२४।।

१.यह आशय 'तथा' शब्दका है, नहीं तो 'तथा' शब्द निरर्थक हो जाता –सुबोधिनी.

आभासार्थ : राजसी लीलाका वर्णन 'तालत्रयं' श्लोकसे करते हैं:

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ।।२५।।

श्लोकार्थ : तीन सौ हाथ लम्बे, तीन ताल वृक्षके समान लम्बे, अनम्र तथा विस्तारवाले धनुषको जैसे हाथी गन्नेको तोड़ता है, वैसे ही एक हाथसे तोड़ दिया और एक हाथसे सात दिन तक गोवर्द्धन गिरिको धारण किया है ।।२५।।

व्याख्यार्थ: तीन सौ हाथ विस्तारवाले, तीन ताल वृक्षके समान, अनम्र तथा महान् दृढ धनुषको एक लकड़ी समझकर, जैसे हस्तिराज गन्नेको तोड़ देता वैसे ही एक ही हाथसे तोड़ दिया, जैसे कहा कि 'यथेक्षुदण्डं मदकरी' (मस्त हाथी जैसे गन्नेके दण्डको) इसके एक वाक्यतासे सिद्धकर दिखाई है, तथा गन्नेके दृष्टान्तसे यह भी सिद्ध किया कि भगवान्को यों तोड़नेमें कुछ भी परिश्रम नहीं हुआ है. एक हाथसे इसका सम्बन्ध आगेसे भी है, अतः कहा है कि 'सात दिन तक गोवर्द्धनगिरि'को भी एक हाथसे धारण किया है ।।२५।।

आभासार्थ : तामसी लीलाका वर्णन 'प्रलम्ब' इस श्लोकसे करते हैं:

प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुराऽसुरजितो हता येनेह लीलया ।।२६।।

श्लोकार्थ : देव तथा असुरोंको जीतने वाले, प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बक आदि दैत्योंको, जिसने लीलासे मारा है ।।२६।।

व्याख्यार्थ: यहां क्रम कहनेकी इच्छा नहीं समझी है. आदि शब्द कहकर जिनके नाम नहीं लिये गये हैं. वे वत्सादि सब दैत्य ऐसे हैं, जिनको मनुष्य मार नहीं सकते हैं. इतना ही नहीं किन्तु इन्होंने सुर और असुरोंको भी जीत लिया है. वैसोंको भी हमारे सामने लीलासे मारा, अतः वैसी सामर्थ्यके कारण ये देवोंमें

उत्तम हैं, वैसा निर्णय है ।।२६।।

आभासार्थ : इस प्रकार प्रेमीके गुणोंके वर्णन करनेसे जो होता है, वह नन्दजीको भी हुआ, जिसका वर्णन 'इति संस्मृत्य' श्लोकमें करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ।।२७।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि श्रीकृष्णचन्द्रमें प्रेमासक्त बुद्धिवाले नन्दजी इस प्रकार स्मरण करते-करते बहुत उत्कण्ठासे प्रेम बढ़ जानेसे विह्वल हो गए, जिससे चुप हो गए अर्थात् आगे कुछ भी नहीं कह सके ।।२७।।

व्याख्यार्थ: यह भाव उद्धवजीको भी मालूम नहीं कराया किन्तु 'संस्मृत्य' इन दो पदोंको कहकर भी श्रीशुकदेवजीने यह बताया है कि भगवान् नन्दजीको याद करते हैं, अतः नन्दजीको भी उनके स्मरणकी अभिलाषा हुई है. जिससे नन्दरायजी उत्तमाधिकारी हैं. यदि उत्तमाधिकारी नन्दजी न होते तो श्लोकमें 'संस्मृत्य-संस्मृत्य'के स्थान पर 'उक्त्वा-उक्त्वा' कहते, जहां स्मरणके अनन्तर कहनेकी सामर्थ्य न रहे. बुद्धिका अनुराग तथा उत्कण्ठा हो, वहां बोलना बन्द हो जाता है. स्मरण तथा तूष्णीभावके मध्यके समयमें दो दूसरे भाव उत्पन्न हो जाते हैं. वे दो भाव कहते हैं. (१)श्रीकृष्णमें प्रेमासक्त बुद्धि और (२) मिलनेकी चाहना. चित्तसे स्मरण, बुद्धिसे अनुराग और मनसे उत्कण्ठा, और मन, वाणीका पूर्वरूप हैं. वैसी दशामें अनुरक्त बुद्धि तथा उत्कण्ठासे शब्दकी उत्पत्तिमें रुकावट उत्पन्न हो गई, जिससे नन्दरायजी बोल न सके. इस प्रकार प्रतिबन्ध होनेसे पुरुषार्थकी फल सिद्धि तो नहीं हुई? इस शङ्काका समाधान करनेकेलिये कहते हैं कि अनुराग और उत्कण्ठाने स्वतन्त्र कार्य किया, जिससे प्रेम उत्पन्न हुआ और प्रेमसे नन्दरायजी विह्वल हो गये. अर्थात् प्रेमानन्दरूपमें मग्न हो गये. इस प्रकार पुरुषार्थरूप फलकी सिद्धि हो गई ।।२७।।

आभासार्थ : यशोदाजी भी वैसी ही हुईं, जिसका वर्णन 'यशोदा' श्लोकमें कहते हैं:

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवस्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ।।२८।।

श्लोकार्थ : यशोदाजीने ज्यों नन्दवर्णित पुत्रके चरित्र सुने, त्यों उनके

आंसू बहने लगे और स्नेहसे स्तनोंसे दूध टपकने लगा ।।२८।।

व्याख्यार्थ: नन्द द्वारा वर्णित पुत्रके चरित्रोंको सुननेसे और स्वयं स्मरण करनेसे यशोदाजीके अन्तःकरणमें प्रेम उमड़ आया. जिससे नेत्रोंमेंसे आंसूं बहने लगे एवं विरहसे व्याकुल हो गईं. उस प्रेमके कारण अन्तःकरणमें भगवदावेशसे एवं दृढ प्रेमसे स्तनोंसे दूध टपकने लगा. जिस प्रकार नन्दजीमें आवेश और विरह था, उसी प्रकार इनमें भी दोनों कहे हैं ।।२८।।

आभासार्थ : यशोदा और नन्दजी दोनोंका भगवान्में परम प्रेमरूप अनुरागका वर्णन किया, किन्तु यह अनुराग लौकिक था. भगवान्की इच्छा इस अनुरागको ज्ञानसे अलौकिक बनानेकी थी. इसलिए उद्धवजीको भेजा, अलौकिक करनेकेलिए जो उपयोगी है, वह सर्व कहा, जिसका क्रमशः वर्णन करते हुए 'तयोरित्थं' श्लोकमें उद्धवजी, नन्द-यशोदाजीके स्नेहका अभिनन्दन करते हैं:

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ।।२९।।

श्लोकार्थ : नन्द और यशोदाजीका भगवान् श्रीकृष्णमें इस प्रकारका प्रेम देख, उद्धवजी हर्षसे नन्दजीको कहने लगे ।।२९।।

व्याख्यार्थ: भगवान्में प्रेम दोनोंका है, तो भी नन्दजीका नाम प्रथम इसलिये दिया है कि भक्तिमें नन्दजीकी [१]मुख्यता है. भक्तिसे जो सम्बन्ध होता है वह सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है. लौकिक नहीं होता है, इससे यशोदाजीमें कुछ विशेषता नहीं है. जब सदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुवे, तब नन्द-यशोदाजी दोनों सर्व कार्य छोड़, सर्वभावसे भगवान्को ही प्रेम करने लगे, अतः उद्धवजी इसका अभिनन्दन करते नन्दजीको कहने लगे, क्योंकि उद्धवजीने सोचा कि यशोदाजी कदाचित् लज्जित हो जाये, अतः नन्दको कहना ही युक्त है. उद्धवजी उत्सवरूप है, उनके आने पर किसी प्रकार शोकका अंश भी न रहना चाहिये, इसलिये श्लोकमें 'मुदा' पद दिया है. अर्थात् 'आनन्द'से कहने लगे, अथवा 'मुदा'का भावार्थ यह भी है कि भगवद्भक्तोंके दर्शन तथा उनसे सम्भाषण करनेमें मैं भी कृतार्थ बनूंगा।२९।।

१.प्रकाश-वर नन्दने मांगा था, इसलिये नन्द मुख्य है, जिससे समासमें नियमानुसार यशोदाका नाम पहले चाहिये, तो भी पीछे इसलिये दिया है कि भक्तोंमें नन्दजीको

वर लेनेसे मुख्यता है.

आभासार्थ : स्नेहका अभिनन्दन कर, अब विषयकी अलौकिकताका बोध कराते हैं, जिससे माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सर्वसे अधिक स्नेह होता है, जिसका वर्णन 'युवां' श्लोकसे उद्धवजी करते हैं:

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणोऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ।।३०।।

श्लोकार्थ : उद्धवजीने कहा कि हे मान देनेवाले! आप दोनों निश्चय ही सब प्राणियोंमें सराहने योग्य हैं, क्योंकि समस्त जगत्के गुरु नारायणमें आपने ऐसी दृढ़ अनुरागवाली भक्ति की है ।।३०।।

व्याख्यार्थ: प्रथम उनको अभिनन्दन देते हुवे कहते हैं कि इस पृथ्वी पर जितने देहधारी हैं, उनमेंसे आप ही दोनों अतीव बखानके योग्य हैं. जो सत्कर्म करते हैं, वे बखाने जाते हैं. उससे भी जो ज्ञानी हैं, वे विशेष बखाने जाते हैं. भक्तिमें भी परम प्रेम, अत्यन्त बखानके पात्र हैं. प्रमाणसे प्रमेयबल अधिक है, जिससे स्वतन्त्र भक्तिकी अपेक्षासे भी यह प्रमेयभक्ति रसाल अर्थात् रसवती है. इसलिये श्लोकमें 'नूनं' (निश्चय) पद दिया है. नन्दजीको 'मानद' सम्बोधन देकर यह बताया है कि आप मुझे मान देते हो, इसलिये जो मैं कह रहा हूं, वह सत्य समझ, स्वीकार करो. नन्दजी कह दें कि यह अतिशय स्नेह पुत्रमें है, इसलिये क्यों इतनी प्रशंसा कर रहे हो? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आपका यह स्नेह जिसमें है, वे मूलपुरुष नारायण हैं. यहां श्लोकमें जो नारायण शब्द है, वह 'पुरुषोत्तम वाचक' है, इसलिये उसका विशेषण 'अखिलगुरौ' दिया है. जिसका भावार्थ है कि वह प्रमाणरूप भी है. सर्व वेदोंको कहनेवाले नारायण पुरुषोत्तम ही हैं. सर्वशास्त्रोंके अर्थरूप और प्रमेय बलवाले पुरुषोत्तममें आपने जिस कारणसे ऐसी बुद्धि की है, अतः आप अत्यन्त ही सबसे विशेष अत्यधिक बखाननेके योग्य हैं. नन्दजीने कृष्णचन्द्रको उत्कट कोटिकी सम्भावनासे देवोंमें उत्तम जाना ही है, इससे नन्दजीको असम्भावना तो कभी न होगी, इसलिये उद्धवजीने पुरुषोत्तमत्वका ज्ञान कराया है ।।३०।।

आभासार्थ : ऊपर जो वर्णन किया गया है, जिससे अधिक कोई विषय नहीं है तथा भक्तिसे अधिक अन्य कोई कर्तव्य नहीं है, जो कहा जाय. अब

उद्धवजी यह कहते हैं कि भगवान्‌से अधिक कोई अन्य महान् नहीं है, जिसका वर्णन 'एतौ हि' श्लोकमें उनके स्वरूपका वर्णन करते हैं और 'यस्मिञ्जनः' श्लोकसे धर्मकी उत्कर्षताका वर्णन करते हैं:

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ।।३१।।

श्लोकार्थ : ये राम और कृष्ण दोनों जगत्‌के बीज तथा योनिरूप हैं तथा प्रधान एवं पुरुष भी ये ही हैं. भूतोमें प्रविष्ट होकर विलक्षण ज्ञानके ईश हैं, तदपि ये दोनों पुराणपुरुष हैं ।।३१।।

व्याख्यार्थ: भगवान्‌का माहात्म्य दो प्रकारसे जाना है. एक धर्मीके उत्कर्षसे, दूसरा धर्मके उत्कर्षस. उनमें प्रथम धर्मी(स्वरूप)के उत्कर्षका वर्णन करते हैं. नन्द-यशोदाजीने एक ही जाने, कारण कि राम भी आवेशी होनेसे वही हैं. यों जतानेकेलिये दोनोंको एक ही करके जाना. लौकिक पुत्रत्वादि सम्बन्धकी यहां गणना न कर, दोनोंको समानरूप समझ, कृष्ण और राम कहे हैं. ये दोनों निश्चय जगत्‌के समवायी तथा निमित्तकारण हैं. बीज समवायीकारण है, उसमें भगवान् सामर्थ्यसे सजातीयपनको प्राप्त हुवे. भूमिके अवयव पुष्ट होकर बढते हैं. योनि(निमित्तकारण) भी सजातीय होनी चाहिये. विजातीय योनि होगी तो वृद्धि न होगी. यदि उत्पन्न हो भी जाये तो वह बीजके योग्य नहीं होती है. ये दोनों प्रत्यक्ष कारण हैं. दूसरे(अप्रत्यक्ष), जल और अन्न आदि पोषण आदिके साधनरूप हैं. यदि विश्वमें एक प्रकारसे होवे तो यह जो विश्वमें आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है, वह नहीं होगा. इस कारणसे भगवान् उभयविध(बीज तथा योनि अर्थात् समवायी और निमित्तकारण) होते हैं. लोकमें तो दोनों(आविर्भाव तथा तिरोभाव)को सिद्ध करनेवाले दूसरे भी पदार्थ खोजे जाते हैं वा माने जाते हैं. यहां(सृष्टिमें) तो भगवान् ही, अर्थात् भगवान् एक ही, उस प्रयोजनकेलिये वैसे(बीज और योनिरूप) हुवे हैं. इसलिये दूसरे सहकारोकी अपेक्षा नहीं है. इसलिये ही ब्रह्म प्रथम प्रकृति-पुरुषरूपसे प्रकटे हैं. यों समझनेसे युक्ति ब्रह्ममें ही बन सकती है. ब्रह्मवादमें तो वह ही सर्व शक्तिमान् है. क्रमसे प्रकट हूंगा, इस इच्छासे प्रथम सृष्टिमें वैसा प्रकटका, अथवा क्षय एवं वृद्धिकी उस सृष्टिमें अपेक्षा न कर, सृष्टि प्रकट की, किन्तु पश्चात् लोकमें बहुत उपकारोंकी सिद्धिकेलिये ही एक-एकका बहुप्रकारसे उपयोग हो, इसलिये शक्तिसमूहका

विभागकर, बीज तथा योनि आदि भावसे वस्तुओंकी कल्पनाकर, स्थापना की है, इतना ही विशेष. दोनों प्रकारसे भी, दो प्रकार छिपे हुवे हैं, यों मानना चाहिये, यह अनुभवसे सिद्ध है, उसी प्रकार यहां भी मोक्ष, सृष्टि आदि चतुर्विध पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेकेलिये 'सर्वस्यापि सर्व मा भवतु' सबको भी सर्व न हो, इस इच्छासे अपनी शक्तिका विभागकर, मोक्ष तथा भक्तिके आप स्वयं बीज(समवायीकारण) बने और रामरूपसे योनि(निमित्त कारण) हुवे. सृष्टि आदिमें उससे विपरीत है, दोनोंने ही योनि-बीजभावसे सर्वलोकके हितार्थ अवतार लिया है. अतः एकसे ही हित होगा, यों मान लेनेमें कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न होगा, इसलिये ही सर्वत्र अभ्युदय(उन्नति)के फलोंमें रामकी प्रधानता है. भगवान्का केवल सहभाव है. कहीं-कहीं इस प्रकार रामकी प्रधानता है, यों रामका नाम प्रथम कहकर बताया है. साक्षात् बड़ी शक्ति तो श्रीकृष्ण ही है, इसलिये कहीं भी रामका सहभाव मिला, यों नहीं कहा है. निःश्रेयस(कल्याण, निःश्रेयसका अर्थ भक्ति भी है)में तो रामका सहभाव जो कहा है, वह साधारण-तया दोनोंकी समानता दिखानेकेलिये है. यों सब जगह विचार करना चाहिये, अतः भगवान्का जगत्कारणत्व तथा मोक्षदातापन निरूपण करते हुवे इस प्रकार निरूपण करते हैं. 'हि' शब्दसे यह युक्ति कही जाती है कि ये दोनों विश्वके बीज और योनि हैं. उसके नाम राम और मुकुन्द कहकर यह बताया कि ये अभ्युदय और निःश्रेयसरूप फल हैं. यों कहनेसे यह दिखाया है कि ये दोनों भक्तिसे प्रकट हो गये हैं. जिससे, 'द्रष्टुम् एष्यामः' जो कहा था वह सत्य है. दो रूपसे क्यों प्रकटे हैं? इस शङ्काका निवारण करते हुवे दृष्टान्तकी तरह दो स्वरूप बताते हैं. ये दो स्वरूप इसलिये प्रकट हैं, जो एक पुरुष दूसरा प्रधानरूप हैं. प्रकृत (स्वाभाविक) विषयमें विशेष कहते हैं कि वे सर्वमें अनुस्यूत होकर(मिलकर), काल ही है. लक्षण, जिसका वैसे अभ्युदयके स्वामी हैं, इसी प्रकार मोक्ष साधक ज्ञान भी प्रपञ्चके ज्ञानसे विलक्षण है, उसके. तथा 'च'से भक्तिके भी ईश हैं, अर्थात् ये दोनों इसलिये ही प्रकटे हैं, जो यों है तो ब्रह्म भगवान् कार्यरूप हुवे, जिसके प्रयोजक ये दो प्रकट हुवे, वैसी शङ्काके निरास(मिटाने)केलिये दोनों सनातन हैं, इस प्रकार प्रकट हुवे, ये दोनों पूर्वसे ही सिद्ध हैं कारण कि भगवान् अनन्तमूर्त्ति हैं ।।३१।।

आभासार्थ : इस 'यस्मिञ्जनः' श्लोकमें धर्मसे उत्कर्ष कहते हैं:

यस्मिन् जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ।।३२।।

श्लोकार्थ : मनुष्य प्राण त्यागनेके समय क्षणमात्र भी अपना शुद्ध मन जिसमें रखकर कर्माशयको त्याग, शीघ्र ही अर्क(सूर्य) समान वर्णवाला ब्रह्मरूप हो, तो परम गतिको पाता है ।।३२।।

व्याख्यार्थः यद्यपि भगवान्के अनेक धर्म हैं, उनका माहात्म्य भी भगवान्का ही माहात्म्य है, कारण कि धर्म, तथा धर्मीमें अभेद है. शास्त्रसिद्ध यह सिद्धान्त है कि भगवान् ही धर्मरूप होते हैं. सिद्ध हुवे धर्मोको छोड़कर, प्रमाणके बलसे अथवा भावनासे मनमें जिस स्वरूपकी कल्पना, साधक करता है, वह भगवद्रूप सब साधक भक्तोंके स्वाधीन हो जाता है. यों मानकर, उसका माहात्म्य कहते हैं, प्राणी जिस मानसी मूर्त्तिमें प्राण त्यागके समय क्षणमात्र भी, शुद्ध मनको स्थिर करता है, तो कर्मवासनाको क्षयकर, उत्तमगतिको पाता है. मानसीमूर्त्तिमें मन स्थिर करनेवालेको दूसरे साधनोंकी अपेक्षा नहीं है. जन अर्थात् साधारण कोई भी प्राणी हो, ब्राह्मण हो वा ऋषि हो, जिसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, उसमें भी प्राण निकलनेके समय, जब कि सब इन्द्रियां विकल हो जाती हैं, अचेत होनेसे अशुद्ध अवस्था हो जाती है, उस समय एक क्षण चित्तको उसमें स्थिरकर, न कि बहुत समय तक तथा देह वा वाणी, योगकी भी(उस समय) आवश्यकता नहीं है. वह भी रूप फलको देनेवाला है, इसलिये कहा है कि 'विशुद्ध' केवल मन शुद्ध भाववाला हो. उससे बीजरूप सङ्घात(लिङ्गशरीर)को नष्टकर, स्वत्वका अभिमान त्यागनेसे, वह मानो मर गया अथवा जल गया, उसकी तरह, उस कारणरूप सङ्घातको भस्मकर उत्तरोत्तर जानेमें दूसरे साधनकी भी अपेक्षा नहीं है. इससे ही परागतिको स्वरूपसे ही पा लेता है. वहां भी सायुज्य मुक्तिकेलिये जीव भावसे नहीं जाता है, किन्तु ब्रह्मरूप होकर जाता है. जैसा कि कहा है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्म बनकर ब्रह्मको प्राप्त करता है, ऐसी गति होती है. श्लोकमें अर्कवर्णः कहा है, जिसका भाव बताते हैं कि उस समय सर्व भगवद्धर्मोंको भी स्फूर्ति होती है, जिससे उसका वर्ण सूर्यवत् प्रकाशवाला हो जाता है, जिससे यह भी बताया है, कि सर्वज्ञान आदि साधनोंसे क्रमसे जो पुरुषार्थ सिद्ध होता है, वह इसको एक बार करनेसे ही हो जाता है, इस प्रकार भगवद्धर्मोंका माहात्म्य कहा है ।।३२।।

आभासार्थ : इस प्रकारके भगवत्स्वरूपमें जिन्होंने सर्व प्रकारके बाहर तथा भीतरके साधनोंसे सर्वदा सर्वभावसे मन धारण किया है, उनके फल प्राप्तिके विषयमें कहना ही क्या है ? जिसका वर्णन 'तस्मिन्' श्लोकमें करते हैं :

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ।।३३।।

श्लोकार्थ : उन सर्वके आत्मा, कारण रूप और कारणसे जिन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया है, ऐसे नारायण भगवान्में आप दोनोंने निरन्तर भाव स्थापन किया है. हे महात्मन्! अब आपको कौनसा कृत्य शेष रहा ? अर्थात् कोई नहीं ।।३३।।

व्याख्यार्थ: जिस प्रकारके स्वरूपकी उपासना की जाती है, वही स्वरूप चिन्तन तथा [१]ध्यानमें रहता है. जिससे यह चिन्तक एक ध्यान करनेवाला उसका ही रूप बन जाता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है. भगवान् तो सर्व फलरूप हैं ही, जब सर्वफलरूप भगवान्की प्राप्ति हो गई तब शेष कुछ पानेकेलिये नहीं बचता है, कारण कि समस्तोंकी आत्मा तथा हेतु है. श्रुति कहती है, कि 'सर्वस्य आत्मा भवति, सर्वमस्यान्नं भवति' आप सर्वकी आत्मा हैं और सब इनका अन्न है, जिससे आप फल[२] सिद्ध होते हैं और विशेष कहते हैं कि [३-४]विकारे भी कारण आत्मा है. यह बतानेकेलिये ही 'नारायण' नाम दिया है. यह पुरुष[५] नारायण है, किन्तु समस्तोंका उद्धार करना है, इस कारणकेलिये आपने मनुष्यका कपट[६] रूप भी धारण किया है, रसरूपके धारण करनेसे फलकी आवश्यकता प्रकटकी है, बहुत करके यों होगा. इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'जो समस्त लोकोंके दुःखोंको मिटानेमें लगे हुवे हैं, क्या वह दासके दुःख दूर करनेमें समर्थ नहीं है ? दासोंके दुःख दूर करनेमें समर्थ है, यह सिद्धान्त है. आप उसमें 'सदैव' भाव रखते हो, भाव शब्दसे [७]रसपनको हटा दिया है, क्यों पुत्र होते हुवे भी देवपनकी प्रतीति हो रही है, तो भी फल प्राप्तिमें स्वरूपकी योग्यता भी चाहिये, जैसे मर्यादामें ब्राह्मणोंकी ही मुक्ति होती है, किन्तु पुष्टि(अनुग्रह) में वा वैकुण्ठोंमें पक्षी आदि रूपपन होता है. उस पक्षी आदि रूप पनकी निवृत्तिके वास्ते कहते हैं कि हे महात्मन् भगवान् यहां पधारे हैं, इससे निश्चय होता है कि आप महान् आत्मा हैं. आपको पक्षी आदि रूपकी प्राप्ति न होगी, अतः आप दोनोंकेलिये शेष कुछ कर्तव्य नहीं रहा है, इसलिये यह अवस्था ही पुरुषार्थ है, यों उद्धवजीने बताया है ।।३३।।

१.प्रकाश–लौकिक विषयके चिन्तनको लोकमें 'चिन्त्य' कहते हैं. योगमें ध्यानको चिन्त्य कहते है. भ्रमरी ध्यान करते हुवे वह रूप हो जाती है, यह प्रत्यक्ष लोकमें देखा जाता है.

२.श्रुतिमें कहा हुआ फल, ३.विकृत फलमें,

४.लेख: 'अखिल' शब्दसे व्यष्टिरूप प्रपञ्च कहा है और विकार शब्दसे समष्टिरूप विराट् कहा है, अर्थात् विराट्का तथा जीव मात्रका हेतु यह नारायण ही है.

५.मोक्ष तथा भक्तिका बीजरूप,

६.लेखकार कहते हैं कि यदि आप मनुष्यरूप धारण न करते तो सेवा नहीं हो सकती. जिसके बिना फलकी प्राप्ति न होती, फलकी आवश्यकता होनेसे ही आपने यह रूप धारण किया है. पुत्रमें देवत्वकी प्रतीति न होवे केवल पुत्रकी प्रतीति हो तो भी 'भाव' पद रसत्वकी निवृत्तिकेलिये कहा? क्योंकि 'रतिर्देवादिविषया भावः' इसमें आदि शब्दसे देव मुनि, गुरु, नृप और पुत्र आदिमें जो रति है, वह भाव है, अतः यहां पुत्रमें रतिको भाव बतानेकेलिये रसका निवारण किया है.

७.रस समानतामें होता है. यहां पुत्रमें देवत्व असमानता है, इसलिये रसको हटाकर भाव कहा है 'प्रकाश'

आभासार्थ : इस प्रकार विषय तथा साधनका अभिनन्दनकर, अब लौकिक रीतिसे खेद मिटानेकेलिए 'आगमिष्यति' श्लोकमें कहते हैं :

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ।।३४।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णचन्द्र थोड़े समयमें व्रजमें पधारेंगे, यादवोंके तथा भगवद् भक्तोंके पति यहां आकर माता–पिताका प्रिय करेंगे ।।३४ ।।

व्याख्यार्थ: थोड़े हि दिनोंमें व्रजमें पधारेंगे कारण कि आप अच्युत हैं, जिससे धर्म तथा स्वरूपसे आपकी कभी च्युति नहीं होती है. यदि न आवें तो, जो वाक्य आनेके कहे हैं, उनसे च्युत हो जावेंगे, अतः आवेंगे. किन्हींका मत है, कि आऊंगा यह भगवान्का कहना [१]लौकिकी भाषा है. दूसरे कहते हैं कि यों कहना शास्त्रार्थसे है. भगवान् अपने कहे हुवे वचनोंके आग्रहसे और भगवदीयोंके कहे हुवे 'कुरून् मधून् वा पित्रोः' इस विशेष वचनसे तथा 'गतांश्चिरायितान्' इत्यादि वचनोंका विरोध भी न हो, तदर्थ नन्दको [२]देखने केलिये पधारे ही हैं, किन्तु ऐसे पधारे हैं, जैसे गोपियोंको सुधि न हुई. यों अर्थसे जाना जाता है कि आर्थिकमें विरोध न आये इसलिये इसी अर्थको बतानेकेलिये कहते हैं कि भगवान् पधारकर

माता-पिताका प्रिय करेंगे. जिस प्रकार आनेसे उनको प्रिय अर्थात् आनन्द हो उसी प्रकार आकर कार्य करेंगे. अर्थात् भगवान् इस प्रकार पधारेंगे जैसे माताको प्रतीति हो कि आये हैं, जिससे वे प्रसन्न हों अपनी अभिलाषा पूर्ण करें, इस भांति करनेको आपमें सामर्थ्य है, क्योंकि 'भगवान्' षड्गुण सम्पन्न हैं. ऐसे गुप्त आनेका कारण कहते हैं कि ये 'सात्वतां पतिः' यादव और भगवद्भक्तोंके स्वामी हैं. यादवोंके पति होनेके अनुरोधसे और भक्तिमार्गके आग्रहसे आवेंगे. कहनेका[३] भाव यह है कि 'प्रीतिमावह' वाक्यसे यों कहा जाता है, नहीं तो शास्त्रार्थ मात्र हो जाता ।।३४।।

१.प्रकाशकार कहते हैं कि लौकिक भाषा होनेसे 'अच्युत' नाममें बाधा नहीं आती है, यह किन्हींका मत है.

टि.२ इस पर श्री हरिरायजी विवेचन कर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वियोग दो प्रकारसे होता है. एक धर्मी स्वरूपसे वियोग और दूसरा धर्म स्वरूपसे वियोग. इनमेंसे धर्मीरूप वियोग आगे पानेवाले अध्यायमें स्वामिनीओंको कहेंगे. इस अध्यायमें धर्मरूप कहा जाता है. इसमें स्वरूपकी रक्षाकेलिये संयोगात्मक धर्मीरूपका पधारना आवश्यक है. यदि इस रूपसे न पधारे तो वियोगसे देहादिका अन्यथाभाव हो जावे(जल जावे), जैसे अग्निके सम्बन्धसे काष्ट आदि पदार्थ जल जाते हैं, परन्तु यहां स्वरूपसे ही पधारे हैं नहीं कि धर्मसे इसलिये दर्शन नहीं हुए हैं, स्वामिनीओंको तो अलौकिक सामर्थ्य दान देकर उनके देह आदि विप्रयोग रूप बना दिये हैं, जिसको धर्मीरूप वियोग कहते हैं इस प्रकार धर्मीरूप वियोग होनेसे देहादिके वियोगसे जलना अशक्य है. जैसे अग्निसे अग्निका जलना असंभव है, इस कारणसे स्वामिनियोंकी प्रतीतिमें भगवान् नहीं पधारे हैं. यदि संयोगात्माक प्रभु पधारे तो विरुद्ध फल हो जाए कारण कि स्वामिनियोंको विप्रयोग होनेसे यदि पुनः सम्बन्ध होगा, तो सर्व दाह होगा. यह आगेके अध्यायमें कहेंगे . पूर्वा पर प्रसंगको देखकर इस प्रकार व्याख्याकी है.

३.लेखकार कहते हैं कि प्रकट रूपसे नहीं पधारे, जिसका हेतु कहा और प्रकटमें पधारे, जिसका भी कारण कहा हैं. यदि बिल्कुल न पधारते तो भक्त-रक्षा नहीं होती, जिससे भक्ति मार्गकी प्रवृत्ति रुक जाती, यों करनेका यह भाव है.

आभासार्थ : भगवान् यहां इस प्रकार पधारेंगे, इसकी आवश्यकतामें क्या प्रमाण है ? इस पर 'हत्वा' यह श्लोक प्रमाणमें कहते हैं :

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ।।३५।।

श्लोकार्थ : सर्व यादवोंके(भक्तोंके) वैरी कंसको रङ्गभूमिके मध्यमें मार आपके पास आकर जो कृष्णने आपको कहा, वह सत्य करेंगे ।।३५ ।।

व्याख्यार्थ: कंसको मारकर, भगवान्ने आपके स्थान पर आकर जो आपको कहा है, वह सत्य ही करेंगे. कंस किसी भी बहानेसे मारनेके योग्य था, इसलिये यहां आनेका तब तक परोक्षवादसे भी कहा है. अतः गोपिकाओंको आनेका कहना तो शास्त्रार्थपनसे भी हो सकता है. कंसके मारनेके पश्चात् तो कोई प्रयोजन नहीं रहा है. परोक्ष कहनेका कोई निमित्तकारण नहीं है. कापट्य होने पर ही कंसको जल्दी मारा. यदि वह कंसमें न होता तो आक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको न मारते. उसका वध तो शीघ्र करना चाहिये, कारण कि वह संकल भक्तोंका वैरी है. प्रथम मारनेका कारण कहते हैं कि 'रङ्गमध्ये' यह स्थल क्रीड़ाका है, क्रीड़ा स्थानमें वध नहीं होता है, किन्तु क्रीड़ा होती है, इसलिये वहां कंसका वध भी वध नहीं है, किन्तु एक वध क्रीड़ा है. वह क्रीड़ासे वध भी उपरोक्त कपट तथा भक्तोंसे शत्रुताके कारणसे हुआ है. वहां भी आपके पास आकर अनुरोधसे कहा, वह कहने वाले निरपेक्ष फलरूप श्रीकृष्ण हैं. इससे यह बताया कि इस विषयमें हेतुवादका[१] प्रयोजन नहीं है. वह अपना वचन सत्य करते हैं, 'करोति' यह वर्तमान कालकी क्रिया देकर यह बताया है कि सभी वे आये हुवे हैं. समीपमें वर्तमान कालका प्रयोग होता है, अतः 'आगमिष्यति' आवेंगे यह भी विरुद्ध नहीं है ।।३५।।

१.तर्क आदिसे बहस अथवा कपटसे कहना.

आभासार्थ : जैसे अब आए हुए नहीं दीखते हैं, उसी तरह फिर भी आये हुए दीखेंगे नहीं, तो फिर आनेसे एवं सत्य वाक्यसे क्या लाभ ? ऐसी शंका हो तो उसको 'मा खिद्यत' दो श्लोकोंसे मिटाते हैं :

मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ।।३६।।
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासतोऽपि वा ।।३७।।

श्लोकार्थ : हे बड़े भागवाले! आप खेद मत करो. कृष्णको अपने पास जल्दी देखोगे, क्योंकि काष्ठमें अग्निके समान वे सर्व भूतोंमें विराजते हैं. वे अहन्ता रहित सम दृष्टिवाले हैं, उनको न कोई प्यारा है, न कोई बुरा है, न उत्तम है, न अधम है, और न कोई विषम है ।।३६-३७ ।।

व्याख्यार्थ: भगवान् दर्शन देंगे वा नहीं, इस प्रकार खेद मत करो. आपका स्वरूप ही दर्शन देनेमें हेतु है, क्योंकि आप महान् भाग्यवाले प्रतीत हो रहे हैं, और अनुमानसे भी जाना जाता है कि आप भाग्यशाली हो, इसलिये अवश्य दर्शन देंगे. उसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है. योग और ज्ञानादिसे जैसे दर्शन होते हैं, वैसे नहीं होंगे, किन्तु आपके पास आकर दर्शन देंगे. यहां रामका नाम न लेकर केवल कृष्ण ही इसीलिये कहा है कि सर्व मनुष्य भगवान्के दर्शनकी ही इच्छा करते हैं. उसका प्रादुर्भाव सर्वत्र ही सुगम है, कारण कि जिसके दर्शनकी आपको इच्छा है वे सर्व प्राणिमात्रके हृदयमें विराजमान् हैं. यदि वे उनमें भीतर विराजमान् नहीं हैं तो ये प्राणी कैसे उत्पन्न हुवे? यदि कहो कि अन्न आदिसे, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि [१]आधारके सिवाय किसी पदार्थकी स्थिति नहीं, अतः अन्नादिकी क्रियाकी स्थिति भी उस अन्तर्हृदयमें स्थित हुवे पर है. अतः सूत्रकी अपेक्षासे भी सर्वत्र ही आधारपनसे रहते हैं. कहां रहते हैं? इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहते हैं कि हृदयके भीतर रहते हैं. यह विशेष कहना प्रतीतिकेलिये ही है. जीव अथवा आसन्यकी [२]व्यावृत्ति केलिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे काष्ठमें अग्नि रहती है, पृथ्वीसे घड़ा बनता है और लकड़ी भी पृथ्वीकी पैदाइश है, दोनों पृथ्वीसे उत्पन्न होते हैं, तो भी घड़ा जलमें डूबता है और लकड़ी पानी पर तैरती रहती है. यह इसलिये कि दोनों उत्पन्न होते समय समान अंश ग्रहण नहीं करते हैं, अतः जाना जाता है कि वे अग्न्यात्मक हैं और जलसे पुष्ट होते हैं. दोनोंमें अन्तर करानेवाली माया ही सूक्ष्म पृथ्वीके अवयवरूप है. दोनोंके नष्ट होने पर भस्म हो जाते हैं जितनी राख है उतने रूपमें वे अवयव हैं. भस्म हो जानेसे प्रथम काष्ठ है, दूसरा घड़ा है, यों कहा जाता है, अतः वे अधिकांशमें उस प्रकारके अंश हैं. विशेष अंश तेजका ही है, इसलिये यहां जलके स्थान पर 'आसन्य' है, पृथ्व्यंशके स्थान पर 'जीव' लिया है, इसी प्रकार सर्वत्र भगवान् सर्वचेतन पदार्थोंमें विद्यमान रहते हैं और खड़ा होने, चलने आदि क्रिया कराते हैं, जिससे समझा जाता है कि भगवान् भीतर हैं. काष्ठमें जो अग्नि है, वह मथनेसे प्रकट होती है. वैसे ही भगवान् हृदयस्थ योग आदिसे प्रकट ही हैं, [३]अन्यथा वे प्रकट नहीं होते ।।३६-३७।।

१.लेख: 'आधारव्यतिरेकेण' पङ्क्तिका स्पष्टीकरण करते हुवे कहते हैं 'अन्नाद् भूतानि जायन्ते' अन्नसे भूत उत्पन्न होते हैं, इस सिद्धान्तमें भी अन्न आदिसे जनन आदि क्रिया होती है, वह बिना आधारके नहीं है, अन्नसे उत्पन्न होनेमें भी उत्पन्न

होना धर्म है, जिससे यह सिद्ध ही है कि धर्मसे प्रथम धर्मी होगा ही, अतः वह धर्मीका ही कारणत्व है, वह धर्मी भगवान् सर्वत्र सर्वदा ही सिद्ध है, जनन आदि धर्मोंका वह आधार है.

प्रकाश: 'आधारव्यतिरेकेण' पङ्क्ति कहनेका आशय बताते हैं कि भगवान्के अभावमें भूतोंका अभाव कैसे व क्यों होगा? इस शङ्काके उत्तरमें यह पङ्क्ति आचार्यश्रीने कही है, जिसका आशय है कि बिना आधारके कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती है, अतः अन्नका भी आधार होना चाहिये वह शास्त्र प्रमाणानुसार 'भगवान्' है, जो सर्वके भीतर विराजमान् है, इसलिये कहा है कि ''ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'' इत्यादिसे इस विषयको समझाया है, विशेष प्रकाश देखिये.

२.निवारण, ३.दूसरे उपायसे.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्का प्राकट्य सुलभ होते हुए भी दुर्लभ है. यों कहनेके लिए लौकिकको दिखानेवाले सर्व सम्बन्धोंका निवारण 'न माता' इस श्लोकमें करते हैं:

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चैव न देहो जन्म एव वा।।३८।।

श्लोकार्थ : उनके न माता, न पिता, न भार्या, न पुत्रादि, न अपना, न पराया, न देह और न जन्म है ।।३८।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार कहनेसे यह सिद्ध करते हैं कि इनमें डाह भी नहीं है. जिससे भगवान् कृष्णको कोई उपालम्भ(उलाहना) भी नहीं दे सकता है. कारण कि उनका किसीसे भी किसी प्रकारका सम्बन्ध भी नहीं है, जिसको स्पष्टकर बताते हैं. उस सर्वान्तर्यामी कृष्णकी, जो यशोदा आदि माताएं प्रसिद्ध हैं, वे भी माताएं नहीं हैं. वैसे ही नन्द आदि पिता भी पिता नहीं है, सीता आदि स्त्रियां नहीं हैं. कुश आदि पुत्र नहीं हैं. आदि शब्दसे गद आदि भाई भी नहीं है. अपने व पराये(शत्रु) भी कोई नहीं है. 'च'से यह बताया है कि उदासीन भी नहीं है. 'एव' शब्दसे इस विषयका निश्चितरूपसे निर्णय किया है, जिसकेलिये इनको अपेक्षा होती है. वह 'देह' ही नहीं है. उस देहका कारण जन्म है, वह जन्म भी नहीं है. श्लोकमें 'एव' पूर्वकी भांति निश्चयवाचक है. 'वा' शब्द अनादर वाचक है. इससे जिसकी कुछ भी सम्भावना दीखती है, उसका भी निषेध कर दिया है ।।३८।।

आभासार्थ : कर्मोंके होते जन्मका अभाव नहीं होता है कर्म तो प्रसिद्ध

हैं ही, फिर जन्म अभाव कैसे कहते हो? जिसका उत्तर 'न चास्य कर्म' श्लोकमें देते हैं.

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ।।३९।।

श्लोकार्थ : इनका कोई भी वैसा कर्म नहीं है, जिससे जन्म लेवे, तो भी लोकमें केवल भक्तोंकी रक्षाके वास्ते प्रकट होते हैं, यह प्रकट होना उनकी क्रीड़ा है, वह क्रीड़ा ऊंच-नीच और मित्रयोनिमें प्रकट होकर करते हैं ।।३९ ।।

व्याख्यार्थ: अन्तर्यामी, निर्लेप तथा अग्निकी भांति सर्वदाहक भगवान्का वैसा कोई कर्म नहीं है, जिससे देव, पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि रूपोंमें उन कर्मोंके अनुसार जन्म लेवे. वहां भी 'वा' शब्द अनादरमें कहा है. जन्म लेते हुवे भी उनको कुछ कर्तव्य नहीं होता है, कारण कि उनको कर्मके अभावसे कर्म बन्धन नहीं है. यदि यों हैं, तो इतना करते क्यों है? इसका उत्तर देते हैं कि क्रीड़ाकेलिये. यह सकल भगवद्भाव क्रीड़ाकेलिये है. उस क्रीड़ासे भक्तोंकी रक्षा स्वतः हो जाती है. जैसे सूर्य उदयसे अन्धकार आप ही नष्ट हो जाता है. अन्धकार नाश करनेकेलिये सूर्यको कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है. दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि राजा क्रीड़ाकेलिये भी आते हैं तो चोरोंका भय स्वतः मिट जाता है. इस प्रकार भगवान् भी क्रीडार्थ पधारते हैं, तब स्वयं भक्तोंकी रक्षा हो ही जाती है. तदर्थ भगवान्को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि भगवान्का उद्देश तो क्रीड़ा है, किन्तु लोक स्वयं वैसी कल्पना करते हैं कि भगवान् सर्व समर्थ होनेसे यों करते हैं ।।३९।।

आभासार्थ : यह भी अङ्गीकार करके कहा जाता है, किन्तु दूसरे मतमें यह भी नहीं है. प्रथम जो कहा है, उसमें हेतु सहित युक्ति बतानेकेलिए 'सत्त्वं रजः' श्लोक कहते हैं :

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ।।४०।।

श्लोकार्थ : आप निर्गुण हैं, तो भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंको धारण करते है. अक्रीड़क होते हुए भी क्रीड़ा करते हुए गुणोंसे जगत्को रचते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं ।।४०।।

व्याख्यार्थ: स्वयं निर्गुण ही मूलभूत इन गुणोंसे क्रीड़ा करते हुवे इनको धारण करते हैं. इन गुणोंके धारण करनेका विशेष प्रयोजन बताते हैं कि इन गुणोंसे

जगत्की रचना करते हैं और उसका संहार भी करते हैं ।।४०।।

आभासार्थ : भगवान् अज हैं, अतः आप स्वरूपसे जन्म नहीं लेते हैं. यदि अज न होते तो स्वरूपसे कार्यरूप जन्म अवश्य होता. जब [१]आत्मसृष्टि नहीं होती है, तब सृष्टि [२]गुणोंसे ही होती है. उस सृष्टिमें जीवोंमें भी औपाधिक भेद होनेसे वहां भी आत्माका कर्तृत्व नहीं है, यह निरूपण करते हुए कहते हैं कि अन्तःकरणके अध्याससे ही कर्तापन है, स्वतः नहीं है. यो दृष्टान्तसे सिद्ध करते हुए कैमुतिक न्यायसे भगवान्के कर्तृत्वका निषेध 'यथा भ्रमरिका दृष्ट्या' श्लोकसे करते हैं.

१. भगवान् ही सृष्टिरूप हैं. 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' श्रुतिः

२. इस सिद्धान्तमें जगत् गुणात्मक है, अर्थात् सत्त्वादि गुणोंसे बननेके कारण गुणरूप है. श्रौत सिद्धान्तानुसार ब्रह्मसे उत्पन्न होनेसे ब्रह्मरूप जगत् माना जाता है, वह यहां नहीं है. जीवका ब्रह्मसे अभेद है, अतः जीवके कर्तापनका निषेध करनेसे ब्रह्मके कर्तापनका भी निषेध किया है.

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ।।४१।।

श्लोकार्थ : जैसे घूमते हुए पुरुषको अपनी फिरती दृष्टिसे पृथ्वी फिरती हुई दीखती है, इस प्रकार चित्तके कर्तापनकी बुद्धिसे अध्यासके कारण आत्मा भी अपनेको कर्ता समझती है ।।४१।।

व्याख्यार्थ: जो पुरुष स्वयं आंधीकी भांति फिरता है, उसकी दृष्टि भी फिरती रहती है. जिस फिरती हुई दृष्टिसे वह पुरुष पृथ्वीको फिरती हुई देखता है. वास्तवमें पृथ्वी नहीं फिरती है, किन्तु दृष्टि ही फिर रही है. यदि यों नहीं होता तो थोड़े समयके अनन्तर[१] भी पृथ्वी घूमती हुई देखनेमें आवे. एवं [२]अन्योंको भी पृथ्वी घूमती नजर आवे. वैसा नहीं होता है, इस प्रकार जब चित्तमें अहङ्कार उत्पन्न होता है, तब उसकी प्रेरणासे चित्तमें कर्तापन आता है. अतः प्राप्त और अप्राप्तके विवेकसे अहङ्कार ही कर्ता है. उसमें जीवकी अहंबुद्धि होनेसे जीव भी कर्ता माना जाता है, न कि 'वह' वास्तविक कर्ता है. इस प्रकार कितने 'ही' दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक भावसे एकता सिद्ध करते हैं. सचमुचमें तो ये दो दृष्टान्त अन्दर और बाहरके भेद समझानेवाले हैं. यदि यों न मानोंगे तो 'इव' शब्दकी कोई सङ्गति न बनेगी. दृष्टान्त और विषयमें अन्यथाबुद्धि होगी, एवं दार्ष्टान्त और कर्तामें भी

सामञ्जस्य न होगा और अर्थ उपयोगवाला न होगा. जब ये दृष्टान्त भगवान्में घटित हो सकते हैं, तब प्रासङ्गिकतासे उनकी योजना करनी उचित नहीं है. उसमें भगवान् ब्रह्मरूप हैं, स्वयं जैसे हैं, वैसे ही प्रकट हुवे हैं, क्योंकि उनके स्वरूप, गुण और क्रिया नित्य ही हैं, किन्तु उनको, पुरुषकी [३]दृष्टि क्रमसे ग्रहण करती है और वह ग्रहण करनेवाली दृष्टि अपने धर्मको उनमें जोड़ती है. जिस कारणसे ब्रह्मरूप ही वहां प्राकृत सम्बन्धी दीखनेमें आते हैं, जिससे वैसी कल्पना करते हैं. इस कल्पनासे ये धर्म भगवान्में नहीं हो जाते हैं, केवल अपने भ्रमसे ही सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान्में [४]प्राकृतपनकी प्रतीति होती है और विशेष कहते हैं कि साङ्ख्यके मतके स्मृति आदि शास्त्रमें आत्माका चित्तमें अध्यास होनेसे आत्मा चित्तके कर्तापनसे अपनेको कर्ता समझती है. वैसे भगवान्में अपने सम्बन्धके आरोपसे वैसा भाव प्रतीत होता है. वास्तवमें भगवान् वैसे नहीं हैं, वे तो पूर्णरूपसे सर्वत्र व्यापक हैं. परिच्छिन्न दृष्टिसे उन उन पदार्थोंमें अभिव्यक्ति (प्राकट्य)से सूर्यकी तरह[५] सम्बद्ध हो वैसे ही दीखते हैं. अथवा अपने धर्मके आरोपसे मनुष्य यों मानते हैं. वास्तवमें तो इन नेत्रोंसे दर्शन भी नहीं देते हैं, अतः वे पूर्ण परमानन्द हैं, तो भी परिच्छेद करनेवाला दृष्टिसे अथवा उनकी इच्छासे कहीं दीखते हैं, कहीं नहीं दीखते हैं, जैसे अब मथुरावासी दर्शन कर रहे हैं, आप नहीं करते हैं, अथवा जैसे हम यहां भी देख रहे हैं, किन्तु आप कहते हैं कि भगवान् यहां नहीं हैं, मथुरामें ही हैं, यह आपका भ्रम है, इससे यह भ्रम मिटाकर निश्चय कर लो कि भगवान् सर्वत्र हैं. साक्षात्कार दर्शन तो उनकी इच्छासे होंगे ।।४१।।

१.दृष्टिका फिरना जब बन्द हो जावे तब. २.जिनकी दृष्टि घूमती नहीं हैं.

३.यदि भगवान्की बाल्य, पौगण्ड आदि लीलाएं नित्य हैं तो सर्वदा क्यों नहीं दीखती हैं? इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहा है कि क्रमसे ग्रहण करती हैं, ज्यों-ज्यों भगवत्कृपा आदिसे येग्यता आती है त्यों-त्यों दर्शन होते हैं.

४.जिस प्रकार फिरनेवालेकी फिरती हुई दृष्टिसे भूमि फिरती हुई उसको प्रतीत होता है, वैसे ही मनुष्यको लौकिकदृष्टि भगवान्में लौकिक प्राकृतधर्म देखती है वास्तवमें भगवान्में प्राकृतधर्म नहीं है.

५.जैसे जुदे-जुदे स्थानोंमें स्थित पुरुष, वृक्षकी आड़ होनेसे सूर्यको परिच्छिन्न दृष्टिसे देखते हैं, वैसे लौकिक दृष्टिवाले पुरुष भगवान्को भी उसी प्रकार देखते हैं.

आभासार्थ : हम लोगोंने इतने समय तक उनको पुत्र समझा है, अब कैसे माने कि वह हमारा पुत्र नहीं है और यों भी कैसे माने कि हम सब भ्रान्त थे ? इस शंकाका उत्तर 'युवयोरेव' श्लोकमें देते है :

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ।।४२।।

श्लोकार्थ : ये भगवान् श्रीकृष्ण आप ही के पुत्र नहीं हैं, ये ईश्वर हैं, अतः सबके पिता, माता, पुत्र और आत्मा भी हैं ।।४२।।

व्याख्यार्थ: जो भगवान् लीलासे आपके पुत्र हुवे हैं, आपके इस कथनको मान लेते हैं, तो भी ये आपके ही पुत्र हैं. दूसरेके नहीं हैं, यह बात नहीं है, कारण कि ये तो सर्वके आत्मज आदि हैं, क्योंकि ये सर्वकी आत्मा हैं, अतः यदि उनके पुत्रत्व आकारसे वहां प्रकट न होवे अथवा आदिदैविक प्रकारसे प्रकट न होवे तो संसारमें प्राणियोंको आनन्दकी प्राप्ति ही न होवे, आनन्ददाता तो आप ही हैं, जैसा कि श्रुतिमें भी कहा है ''को ह्येवान्त्यकः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'' जिससे ये हरि होनेसे अकारण ही सर्व दुःख हर्ता हैं, भगवान् होनेसे समर्थ हैं. समर्थ होकर यदि दुःख दूर न करें तो अयोग्य कार्य होवे, अतः योग्यता प्रकट दिखानेकेलिये ही सबोंके पुत्र आत्मा, पिता, माता और जीव तथा ईश्वर अर्थात् अन्तर्यामी हैं. इतने रूपवाले जो भगवान् हैं, वे सबके हैं, इसमें क्या बड़ी बात है कि जिसने अपनेको आपका पुत्र कहकर प्रसिद्ध किया ।।४२।।

आभासार्थ : यद्यपि भगवान् वैसेके वैसे हैं तो भी सर्वको वैसी प्रतीति नहीं है, जैसी हमको हुई है, यह प्रतीति भगवान्ने लीलासे ही कराई है, अतः पुत्र हमारे ही हैं, न कि सबके, यदि यों नन्दजी कहें तो उसके उत्तरमें 'दृष्टं श्रुतं' श्लोकमें कहते हैं :

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरं न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ।।४३।।

श्लोकार्थ : जो देखने व सुननेमें आया है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, स्थावर, जङ्गम, बड़ी, छोटी कोई भी वस्तु जो कहनेमें आती है, वह भगवान् बिना अन्य नहीं है, वे ही सर्वरूप और सबके परमार्थरूप हैं ।।४३।।

व्याख्यार्थ: भगवान् सर्वमें ही सर्वरूप होकर वैसा जनाते हैं. यों होने पर भी यदि कोई नहीं मानते हैं तो उनके अभाग्य हैं. आपको भी भ्रमसे नहीं मानना

चाहिये, किन्तु वे सर्वरूप हैं, यों मानकर, पुत्रत्व भी मानना चाहिये, न कि केवल पुत्रपन ही मान बैठो. आपने यदि परिच्छिन्न दृष्टिसे इतना(पुत्ररूप) ही ग्रहण किया है, तो भी उसमें अन्यथाबुद्धि(मनुष्य बुद्धि) नहीं करनी. प्रत्यक्षमें आपने लौकिक देख लिया, श्रुति आदि शास्त्रसे उनका अलौकिक सुन लिया, अतः भगवान् ही लौकिक तथा अलौकिक हैं. [१]भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालसे आप [२]परिच्छेद्य भी हो सकते हैं, अतः कालसे जो परिच्छिन्न होता है वह भी भगवान् ही है. इससे यह बताया है कि भगवान् परिच्छेद्य तथा अपरिच्छेद्य होनेसे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं. परिच्छिन्नमें जो अवान्तर भेद हैं, वे भी भगवान् ही हैं. स्थावर और जङ्गम उसमें भी तिनके और मेरुके भाव, रेत और ब्रह्माण्डके भाव तथा मच्छर और ब्रह्मा इत्यादि भी भगवान् ही हैं. बड़े और छोटे भी भगवान् ही हैं. इस प्रकार चार भेदसे आप भगवान् चतुर्मूति आप ही हैं, क्योंकि आप अच्युत न होवे तो किसी प्रकार भी परिच्छेद होनेसे च्युत हो जावे, अतः अच्युतके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, किन्तु वही पूर्ण अच्युत हैं. इसलिये भगवान् विभक्त भी नहीं हैं और कोई वस्तु उनसे भिन्न भी नहीं है. नन्द प्रथमाधिकारी है, इसलिये आधिदैविक प्रकारसे विश्वास उत्पन्न करनेकेलिये भगवान् सर्वरूप हैं. यों कहा जा सकता है कि वह परमार्थरूप है. भगवान् आधिदैविक होनेसे परमार्थ हैं, आध्यात्मिक होनेसे अर्थरूप हैं. भौतिक तो अर्थरूप नहीं है, इस कारणसे ही ब्रह्मवादसे आधिदैविकवाद जो पूर्वमीमांसासे सिद्ध है, वह कुछ हीन है. उससे आध्यात्मिकरूप भेदवाद अधम है. उससे भी मायावाद बहुत अधम है, कारण कि मायावादमें मायाधीन कर्तृत्व होनेसे सब मायारूप हैं और पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओंसे यह सिद्धान्त विरुद्ध है, मुक्ति तो प्रमेयबलसे होती है।।४३।।

१.भगवान् जैसे अब, जिस-जिस प्रकारसे सर्व हो जाते हैं, वैसे पूर्व ही स्वतः सिद्ध थे, वे इन्द्रियादिके अधिष्ठानादियोंके नियामक होनेसे आधिदैविक हैं. इस आधिदैविकको मुख्य न कहनेका तात्पर्य यह है कि वह अन्योंसे उत्कृष्ट हैं, और आध्यात्मिकको अपरमार्थ कहनेका भावार्थ हैं कि पिघले हुवे घृतके समान यह आध्यात्मिकरूप हैं, वह रूप भगवान्में ही 'उस रूपके' विद्यमान होनेसे आध्यात्मिक कहलाता है, भौतिक अनर्थरूप इसलिये है कि वह आध्यात्मिक है, इस प्रकार मानने पर कारण यह है कि ये उपरोक्त प्रकारके रूप होनेसे पूर्ण ब्रह्मरूपत्व नहीं है (विशेष प्रकाशमें देखिये). २.विभागवाले, मापवाले.

आभासार्थ : इस प्रकार वार्तालाप करते हुए नन्दका उपदेश तथा रात्रि, दोनोंकी समाप्ति हो गई, जिसका वर्णन 'एवं निशा' श्लोकमें करते हैं :

एवं निशा सा ब्रूवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ।।४४।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि हे राजन्! नन्दरायजी और भगवान्के अनुचर उद्धवजीके वार्तालाप करते हुए सारी रात बीत गई, गोपियां उठकर, दीपक जगाकर और वस्तुका पूजन कर दही मथने लगीं ।।४४ ।।

व्याख्यार्थ: जिस रात्रिके प्रारम्भमें उद्धवजी आये थे, वह रात्रि इस प्रकार वार्तालाप करते हुवे समाप्त हो गई, स्त्रीके साथ भी भगवद्गुणोंकी चर्चा करते हुवे रात्रि व्यतीत हो जाती है, इस भ्रमके मिटानेकेलिये कहते हैं, कि नहि, यह रात्रि तो नन्दजी भी भगवद्भक्त है और उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रके सेवक हैं, उन दोनोंकी भगवत्सम्बन्धी चर्चा होते हुए रात्रि समाप्त हो गई. नन्दजी भगवद्भक्त हैं, अतः उनको भगवान्के चरित्रोंके सिवाय अन्य वार्ता सुननेमें रुचि नहीं है तथा उद्धवजी श्रीकृष्णके सेवक हैं. वे भी जिसके कार्य करनेकेलिये आये हैं, उसकी ही वार्ता करेंगे. जिससे कार्य सम्पूर्ण सिद्ध होवे, अतः भगवान्की ही कथा करते हैं. राजन् यह सम्बोधन देनेका भावार्थ यह है कि परीक्षितको सावधान किया जाता है कि आप इस विषयको जानते हैं, रात्रि समाप्त हुई, इसमें प्रमाण क्या है? जिसके प्रमाणमें कहते हैं कि गोपियां अच्छी प्रकारसे जागृत होकर उठी हैं, यों नहीं है रात्रिमें ही किसी कारणसे उठी हैं, उठकर दीपक जलाये, बहुत दीपक जलनेसे गोपियां अधिक सम्पत्तिवाली हैं. दीपोंके बहुवचन देनेसे यह भी बताया, कि भगवान्की मङ्गल आर्ति भी गोपियोंने की है, गोपियोंने कुलधर्मके अनुसार देहली आदिका भी अच्छी प्रकारसे पूजन आदि किया है, अथवा यह पूजन इसलिये भक्ति प्रेमसे किया है कि भगवान् यहां स्थित है. प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी तैयारी हुई, दहीका प्रातः कालमें बिलोड़न किया जाता है, अतः प्रातःकालमें दही मथने लगीं. जिससे यह निश्चयसे प्रमाणित हो गया कि रात्रिकी समाप्ति होकर प्रातः काल हो गया है. गौओंका दोहन लौकिकमें तीन वार होता है, वैदिकरीतिसे दो वार. कोई कहते हैं कि वैदिकरीतिसे भी तीन वार होता है, इससे यह उद्धवजी गोपियोंको सन्तोष करानेकेलिये आये हैं. उनके आनन्दमय चरित्रसे वे(उद्धवजी) प्रसन्न हुवे हैं. जैसे नन्दजीके आतिथ्यसे प्रसन्न हुवे थे, इस

प्रकार गोपियोंके किये हुवे आतिथ्यका निरूपण किया ।।४४।।

आभासार्थ : यद्यपि गोपियोंके स्वरूपकी स्थितिसे ही उद्धवजी प्रसन्न हो गये हैं, तो भी उनके उत्कर्षका वर्णन 'ता दीपदीप्तैः' श्लोकसे करते हैं :

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विष्यत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ।।४५।।

श्लोकार्थ : दीपोंके प्रकाशसे, चमकती हुई मणियोंसे, गोपियां सुशोभित हो रही थीं और अनेक कङ्कणों वाली भुजाओंसे रज्जूको खींचती थीं, जिससे उनके नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल हिल रहे थे. उन हिल रहे हार तथा कुण्डलोंकी कान्तिसे तथा कुंकुमसे हुई लालासके कारण जिनके मुख विशेष शोभा दे रहे हैं, वैसी गोपीजन थीं ।।४५।।

व्याख्यार्थ: दीपोंके प्रकाशसे, चमकती हुई मणियोंके प्रतिबिम्बसे गोपियां विशेष झलक रहीं थीं, जिससे उनकी स्वरूपसे भी कान्ति हो रही थी, इससे यह दिखाया, कि उनमें भगवान्की सेवा करनेकी योग्यता है, अथवा गोविन्दके गुणगानकी योग्यता है. इस प्रकार स्वरूपका वर्णनकर अब कार्यमें लगी हुई हैं तो भी उनमें शोभाकी अधिकता है, जिसका वर्णन करते हैं. जिन भुजाओंसे दधि मन्थन करते हुवे रज्जुओंको खींच रही हैं उन भुजाओंमें कङ्कणोंकी मालाएं पहनी हुई हैं. वे कङ्कण स्थूल देखनेमें आते हैं. उसका कारण कहते हैं कि भगवद्विरहसे गोपियां दुर्बल हो गई हैं, जिससे कङ्कण स्थूल प्रतीत होते हैं. नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल सब हिल रहे थे, हिलते हुवे कुण्डलोंकी चमक, कपोलों पर पड़ रही थी, जिससे कपोल लालाईसे सुशोभित हो रहे थे, अथवा कुङ्कुमलेप किये हुवे मुखवाली गोपियां द्विगुणी शोभा पा रही थीं. इस प्रकार उनके सर्वाङ्गोंमें सुन्दरता तथा आभरणोंकी उत्तमताका वर्णन किया है ।।४५।।

आभासार्थ : इसी भांति स्वरूपसे भगवान्के योग्य आतिथ्यको कहकर अब भगवद्गुणगान परायण होनेसे भी आतिथ्यकी योग्यता 'उद्गायतीनां' श्लोकमें कहते हैं :

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ।।४६।।

श्लोकार्थ : भगवान्के गुणोंका गान करती हुई व्रजाङ्गनाओंकी ध्वनि स्वर्गको छूने लगीं वह ध्वनि दहीके मन्थनकी ध्वनिसे मिली हुई थी, जिससे

दिशाओंके अमङ्गल नष्ट हो गए ।।४६ ।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें 'अरविन्दलोचनं' पद देकर यह भाव बताया है कि गोपियोंके धर्मसे जो ज्ञान होता है, वह नहीं करती हैं, किन्तु धर्मीका गान करती हैं, कारण कि वे कमलनयन कोटिकन्दर्पोंसे भी सुन्दर हैं. इस गानमें भगवान्के ब्रह्मत्व आदि गुण क्यों नहीं कहते हैं? इस पर कहते हैं, कि ये गानेवाली व्रजकी स्त्रियां हैं, इनको भगवान्ने अपने सौन्दर्यसे ही वश किया है, इसलिये इनको ब्रह्मत्व आदिसे क्या लेन देन है? उस कोटिकन्दर्पलावण्यवाले ही परायणमें हेतु देते हैं कि उनके अङ्ग सर्व प्रकार प्रशस्त (प्रशंसनीय) हैं. यदि उनके परायण, ये न बनें तो इनके प्रशंसनीय अङ्गोंकी व्यर्थता हो जाये, इनको लौकिक अथवा वैदिककी कुछ अपेक्षा नहीं है, जिससे इनकी ध्वनि स्वर्गतक पहुंच गयी है, कारण कि यह गान, [१]कार्य और कारणसे युक्त है. कारणमें अधिकता होनेसे लोकका परित्याग सिद्ध किया है, लोकके विद्वेषसे गान अस्वर्ग्य होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उस ध्वनिका स्वर्गसे सम्बन्ध हो गया है, तो फिर ध्वनिके फल स्वर्गमें पहुंचे इसमें सन्देह कैसा? उससे ही कृतार्थता हो गई है, इससे वैदिककी भी अपेक्षा नहीं, यह बता दिया. वे गोपियां भगवदीय हैं, अतः उनको स्वर्गकी कोई अपेक्षा नहीं है. वाचनिक और कायिक कर्मोंका स्वर्गसे सम्बन्ध सिद्ध करनेकेलिये, दधिके मन्थनवाले शब्दसे उस शब्दका मिलाप कहा है. मूलमें 'च' शब्द कहा है, जिसका आशय कहते हैं, कि कङ्कणोंके रणात्कार शब्दसे भी वह ध्वनि मिश्रित हुई है. भगवदीय गुणोंके सम्बन्धी भी, गोपी और गायोंके सम्बन्धीकी चाहना करते हैं, इस प्रकार भगवान्की भांति भगवान्के गुण भी उनकी अपेक्षा रखते हैं, यों इनका महत्त्व बताया है. सर्वधर्म त्यागसे भी इनको पाप लगेगा, तो फिर उनके वर्णनसे आतिथ्य तथा माहात्म्य कैसे कहा जाता है? जिसकी [२]ध्वनि दिशाओंका अमङ्गल मिटाती है, वह उनके सम्बन्धियोंका अमङ्गल नष्टकर देवे, इसमें कहना ही क्या है ।।४६।।

१.प्रकाशकार कहते हैं कि स्वर्गका स्पर्श यह कार्य है और भगवान्में आसक्ति कारण है

२.लेखकार कहते हैं कि भगवान्को गानेवाली व्रजाङ्गनाओंके गानकी कारणभूत ध्वनि भी आत्मसुख देनेवाली है तथा गान करनेसे ध्वनिका स्वर्गको स्पर्श हुआ, यों न कहकर गानेवालियोंकी ध्वनिका स्पर्श हुआ. यों कहनेका तात्पर्य यह है कि उनके स्वभावसे ही ध्वनिने स्वर्गका स्पर्श किया है, यह गान, स्पर्शकी कामनासे नहीं किया

है, अतः जाना जाता है, व्रजाङ्गनाओंको वैदिकफलकी भी इच्छा नहीं थी. लौकिककी निरपेक्षता पहले कही, वैदिककी अब कही, यह आशय 'च' शब्द देनेका है, गान वाचनिक है, मथन कायिक है, इन दोनों कर्मोंका सम्बन्ध आत्मसुख से है, मानसी सेवा तो भगवदानन्द उत्पन्न करनेवाली है.

भगवदीय गुणोंका सम्बन्धी जो गान है वह कर्ता है, गोपियां सम्बन्धी ध्वनिरूप वस्तु, कर्म है और गौओंका सम्बन्धी दधिमन्थन, कर्म है, इस प्रकार भगवद्गुण, स्वामिनियोंकी ध्वनि तथा दधिमन्थनकी अपेक्षावाले हैं, अतः दधि मन्थनके समय(भगवद्गुण) ध्वनिसे गाये जाते हैं.

आभासार्थ : इस प्रकार उनकी जब तक जाननेकी इच्छा थी तब तक उद्धवजी(गोपियोंकी दशा जाननेकेलिए.) छिपे रहे थे, यह बतानेकेलिए 'भगवत्युदिते' श्लोकमें जिज्ञासाके प्रकार कहते हैं :

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ।।४७।।

श्लोकार्थ : भगवान् सूर्यके उदय होते ही व्रजके द्वार पर सोनेसे मंढा रथ देख व्रजभक्त आपसमें पूछने लगे कि यह रथ किसका है? ।।४७।।

व्याख्यार्थ: जो बात कहनेकी है उसमें जिसका उपयोग न हो, वैसी कथा कहनी चाहिये. जिससे उद्धवजीके प्रातःकालके कृत्यका वर्णन नहीं किया है. सूर्यको भगवान् विशेषण इसलिये दिया है, कि उस दिनका सूर्य, भगवान्का स्मरण करानेवाला हुआ. जिससे गोपियां तथा उद्धवजीको परम पुरुषार्थ देनेवाला हुआ. नन्दका व्रज राजगृहके समान पृथक् ही है, अतः उसके द्वार पर ही रथ स्थापन किया. यहां ही रथ खड़ा देखा, रथको मुख्यतया स्त्रियोंने देखा, विशेष क्या कहें? सर्व ही इस हालसे अनजान थे. वे सर्व परस्पर विचारते हुवे कहने लगे कि यह रथ नन्द आदि अथवा उनके सम्बन्धियोंका तो नहीं है? कारण कि सुवर्णसे चारों तरफ अलङ्कृत है, यह निश्चयकर पूछने लगे कि यह रथ किसका है? 'च' शब्दका भाव है कि पूछने लगे तथा विचार करने लगे ।।४७।।

आभासार्थ : विचार करने और पूछताछ करनेके पश्चात् इस सिद्धान्त पर आये, कि यह रथ किसी नगरमें रहनेवाले राजकीय सम्बन्धीका होना चाहिए, कदाचित् जो पहले यहांका स्वाद ले गया है, वह अक्रूर ही पुनः आया होगा, यों सम्भावना(अनुमान) करने लगे, जिसका वर्णन 'अक्रूर' इस श्लोकमें करते हैं :

अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।

येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ।।४८।।

श्लोकार्थ : क्या अक्रूर तो नहीं आ गया है? जो कंसके कार्यको साधनेवाला है, जो कमलनयन श्रीकृष्णको मधुपुरी ले गया है ।।४८।।

व्याख्यार्थ: यह भूभाग, अक्रूरने ही देखा है, इसलिये बहुतकर वह ही आया है. उनके आनेका अब तो कोई प्रयोजन नहीं है, इस विचारके आनेसे कहते हैं कि यह कल्पना वा अनुमान है. मथुरासे यहां आनेके योग्य वसुदेव आदिके मौजूद होते हुवे अक्रूरकी कल्पना क्यों करते हो? इस पर कहते हैं कि हमारा अनुमान इसलिये है कि जो प्रथम कंसका कार्य सिद्ध कर गया था, यह कहना तो उसकी विपरीतता दिखानेकेलिये है, किन्तु वास्तवमें तो अक्रूरने यहांसे कृष्णको ले जाकर, कंसका परम पुरुषार्थ–मोक्ष–सिद्ध किया है, इससे आपको उसमें कौनसा दोष नजर आया? उस दोषको स्पष्टकर कहते हैं, कि जो श्रीकृष्ण फलरूप हैं और कमल लोचन होनेसे फलका साधन ऐहिकफलरूप अर्थात् अब भी हमको आनन्द देनेवाले हैं, वैसे श्रीकृष्णको ले जाकर हमको आनन्दसे वञ्चित किया है ।।४८।।

आभासार्थ : जो द्वेषी अपना कार्य पूरा कर गया, वह फिर क्यों आवेगा? इसके उत्तरमें 'किं साधयिष्यत्यस्माभिः' यह श्लोक कहती हैं :

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ।।४९।।

श्लोकार्थ : क्या अपने मरे हुए स्वामीका छुटकारा हमारे मांससे करना चाहता है, जिसकेलिए हमको लेने आया है? यों स्त्रियोंके कहते हुए उद्धवजी अपना नित्यकर्म कर आ गए ।।४९ ।।

व्याख्यार्थ: कदाचित् बहुतकर, हम गोपियोंको लेने आया है, हमको वहां लेजाकर मरे हुवे कंसका छुटकारा करेगा. वह अपने स्वार्थ सिद्धिकेलिये कृष्णको ले गया, किन्तु उससे न अपना पुरुषार्थ सिद्ध किया, और हमारा पुरुषार्थ भी नाश कर दिया, जिससे मनुष्योंने इसकी निन्दा की है, उसको मिटानेकेलिये श्रीकृष्णको यहां लानेमें असमर्थ होनेसे, हमको ही वहां ले जावेगा, जिससे वह निन्दा मिटायेगा और स्वामीकी गति भी करेगा. दूसरी कहने लगी, कि कंस दैत्य था. इससे उसको रुधिर तथा मांस प्रिय था, अतः उसको मनुष्य मांस देना हैं, वह हमसे लेता है, जो इस मनोरथसे आया है, तो जैसे प्रथम मनोरथ

निष्फल हुआ, वैसे यह भी होगा. भगवान् इसकी ही बलि चढ़ायेंगे, यह भ्रान्त होकर आया है, इस प्रकार हास्यसे कहने लगीं कि यहां आकर क्या सिद्ध करेगा? कुछ नहीं. यह विशेषरूपसे कहना स्त्रियोंका ही है, इस प्रकार कहकर पूर्वभावको समाप्त करता है. यों स्त्रियोंके कहते हुवे ही उद्धवजी आ गये. यदि क्षण भी विलम्ब करते तो गोपियां शाप दे देतीं. गोपियोंके शापके भयसे आ गये, इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहते हैं कि भयसे शीघ्र नहीं आये हैं, किन्तु अपना सारा दिनका कृत्यकर्म सम्पूर्ण कर आये हैं. प्रातःकाल ही सर्व आह्निक कर लिया, कारण कि आगे बहुत कार्य करने हैं, जिससे आह्निककेलिये समय न मिलेगा. आप स्वयं 'उद्धव' उत्सवरूप हैं, इसलिये उनको कोई भय नहीं, एक सन्देश नन्दरायजीको दे दिया, अब दूसरा सन्देश गोपियोंको 'मद्वियोगाधिं' इस श्लोकसे ४४ अध्यायमें देंगे, इसलिये पूर्वकी समाप्ति की है ।।४९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्धके अध्याय ४३,
राजस–प्रमेय अवान्तर प्रकरणके चतुर्थ अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा
विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय ४४

उद्धवजी तथा गोपियों की बातचीत(भ्रमरगीत)

चतुश्चत्वारिंशेध्याये गोपीनां ज्ञानदेशतः ।
निरोधं सम्यगेवाह पूर्वस्माच्च विशेषतः ।।का.१।।

कारिकार्थ : ४४ वें अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानके संदेश द्वारा गोपियोंका पूर्वसे भी विशेष निरोध सिद्ध किया है ।।१ ।।

याते कृष्णे लोकरीत्या नैकट्याभावतः स्फुटम् ।
न निरुद्धा इति प्रायः सर्वेषां च भवेन्मतिः ।।का.२।।

कारिकार्थ : भगवान् लोकरीतिसे मथुरा पधार गए, अतः अब गोकुल(व्रज)में न होनेसे उनके(गोपियोंके) निकट नहीं हैं. इसलिए अधिकतर सबकी राय वैसी हो गई है कि गोपियोंका निरोध नहीं हुआ है ।।२ ।।

सेवकेनोपदेशेन प्रीत्या चैव निरोधतः ।
ज्ञानेनापि निरुद्धास्ता आत्मत्वेनैव सर्वथा ।।का.३।।

कारिकार्थ : इस प्रकारके(गोपियोंका निरोध नहीं हुआ है) भ्रमका निवारण करते हैं कि भगवान्ने इनके निरोधको सेवक द्वारा उपदेश देकर प्रीतिसे, निरोधसे, ज्ञानसे तथा अपनी आत्मीयतासे पुनः विशेष दृढ़ किया है ।।३ ।।

वस्तुनो निश्चयः पूर्वमुपालम्भस्तथैव च ।
व्याजोक्त्या दोषगणना निर्दोषो वर्ण्यते पुरा ।।का.४।।

कारिकार्थ : गोपियोंने प्रथम यह निश्चय कर लिया कि यह भगवान्का दूत है, अतः इसको उपालम्भ(उलाहना) भी जरूर देना चाहिए. अतः भ्रमरके बहानेसे दोष कह बताए. पश्चात् दोषोंका निवारण किया है ।।४ ।।

अन्यथा ज्ञानसन्देशो व्यर्थः स्यादिति निश्चयः ।
बीजं भक्तिस्ततः स्तोत्रं उपदेशस्तथैव च ।।का.५।।

कारिकार्थ : यदि निर्दोष न कहें तो ज्ञानका सन्देश जो भगवान्ने भेजा है, वह निष्फल हो जायेगा. यह निश्चय जान ही निर्दोषताका वर्णन किया है. यों करनेका बीज(मूलकारण) गोपियोंका भगवान्में प्रेम है, इसी कारणसे स्तुतिकी है, पुनः उपदेश हुआ है ।।५ ।।

ततो दोषनिवृत्या च पूर्वस्नेहो निरूप्यते ।

ज्ञानस्य च फलं चैव कृतार्थत्वं ततस्तथा ।।का.६।।

कारिकार्थ : पीछे दोष निवृत्ति कही है. दोष निवृत्तिके बाद पूर्व स्नेहका वर्णन किया है, जिसके अनन्तर ज्ञानका फल कहकर उद्धवजीने अपनी कृतार्थताका वर्णन किया है ।।६।।

सप्तधा विनिरुद्धास्ता गुणैर्भगवतापि च ।।का.६।।

कारिकार्थ : इस प्रकार छः गुणोंसे तथा भगवान्से वे सात प्रकारसे विशेष निरुद्ध हुईं ।।६।।

आभासार्थ : गोपियोंने यह निश्चय किया कि प्रथम उद्धवजी उलाहनेके योग्य हैं, उनको उलाहना देनेका निश्चय किया. 'तं वीक्ष्य' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें श्रीशुकदेवजी उसका वर्णन करते हैं:

श्रीशुकः उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि श्रीकृष्णके अनुचर जिनकी लंबी भुजाएं हैं, नवीन कमलसदृश नेत्र हैं, शोभायमान मुखारविन्द है, पीताम्बर पहिने हुए हैं, कमलमाला धारण किए हुए हैं; वैसे उनको देख गोपियां कहने लगीं ।।१।।

आकृतिर्निश्चयश्चैव चेष्टया तु विशेषतः ।
स्वार्थमेव ततो ज्ञात्वा मानाद्दोषद्वयं ततः ।।का.१।।

कारिकार्थ : उनकी आकृतिसे तथा विशेष रूपसे, चेष्टासे निश्चय किया कि यह भगवान्का सेवक है. अपने कार्यकेलिए ही भगवान्ने भेजा है. यों समझनेसे मान हुआ, जिससे उनमें दो दोष आए ।।१ ।।

व्याख्यार्थ: वहां प्रथम गोपियोंने उद्धवजीकी आकृति आदि भगवान्के समान देखी, जिससे उनको मान हुआ. अब उद्धवजीके स्वरूपका वर्णन करती हैं. आकृतिसे जाना जाता है, कि यह कृष्णका अनुचर है. यों समझ अच्छी तरह देखने लगी. स्त्रियां होकर पुरुषको अच्छी तरह अर्थात् ध्यान देकर क्यों देखने लगीं? इस शङ्काको मिटाते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि महान् आत्माओंका चित्त कभी भी अधर्मका कार्य नहीं करता है, इसलिये 'उद्धव' वा 'पुरुष' न कहकर 'कृष्णानुचरं' कृष्णका अनुचर कहा है. सचमुच ही कृष्णका अनुचर है, तो भी बड़ेको भूषित देखकर स्त्रियोंको लज्जा होती है, तो भी व्रजकी स्त्रियां हैं

इसलिये भगवान्का अनुचर जान देखने लगीं. भगवान्के अनुचरकी भगवत् समानता छः विशेषणोंसे वर्णन करती हैं. जिससे यह दिखाती हैं कि इनमें भगवत्व है. स्त्रियां काम प्रधान होती हैं, इसलिये उनके उपयोगी छः गुण कहने चाहिये:

१.लम्बी बाहुवाले हैं, उनके अवयव भगवान्की स्मृति करानेवाले हैं. लम्बी बाहु कहनेसे क्रिया शक्ति तथा आलिङ्गन करनेके योग्य हैं, यह सूचित किया.

२.नव कमल जैसे नेत्रवाले हैं, जिससे यह बताया कि इनमें ताप नाश करनेवाली ज्ञान शक्ति तथा कामको जगाने वाली शक्ति है.

इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति कहकर अब माया शक्तिको कहती हैं.

३.इनने पीताम्बर धारण किया है. कारण, रस खुला नहीं रहता है. पीतवर्ण श्याम पर विशेष शोभा देता है. इससे यह बताया कि भगवान्का वा उनके अनुचरका भी श्याम वर्ण है. इसलिये सर्वत्र उसका वर्णन है.

४.चतुर्थ विशेषण 'कमलोंकी' माला धारण किये हैं, जिससे कीर्त्तिमत्व बताते हैं.

५.पांचवां विशेषण 'जिनका मुख चमक रहा है' जिससे 'श्री'का निरूपण किया.

६.छठा विशेषण 'मणियोंसे उज्ज्वल कुण्डल धारण किये हैं'? जिनसे वैराग्यका निरूपण किया है. अर्थात् इन कुण्डलोंसे यह बताया है, कि वैराग्यकी भांति सर्वा भरणोंसे शास्त्रीय कान्तिका प्रकाश हो रहा है ।।१।।

आभासार्थ : इस प्रकार स्वरूपका वर्णनकर यह भगवान्का सेवक है, यह जान लिया. जिससे उसका वर्णन 'शुचिस्मितः' श्लोकमें करती है:

शुचिस्मितः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेशभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ।।२।।

श्लोकार्थ : यह सुन्दर रूपवान् पुरुष भगवान् सदृश बाना बनाए और वैसे अलंकार धारण किए कहांसे आया और कौन है? ऐसे विचारकर उसे भगवान्के चरणकमलोंका आश्रित जान उत्सुक हो उसको चारों तरफसे गोपियोंने घेर लिया ।।२ ।।

व्याख्यार्थ: छल तथा लोभसे रहित शुद्ध मन्द हास्यवाले यह कौन हैं? वैसा गोकुलमें तो कोई भी नहीं देखा. अथवा अक्रूर है, इस विचारसे यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह कौन है? अपनेमेंसे ही कोई अच्छी तरह देखकर पहचान सके तो वह महान् आत्मा समझी जायेगी. वह सुना देवे, मानो यों कहती हुई ही

गोपियां कहने लगीं, कि इसमें जो धर्म दीख रहे हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं, कैसे? एक तरफ यह निष्काम दीख रहा है और दूसरी तरफ इसका दर्शन सुन्दर है, जो दर्शन स्त्रियोंको प्रिय है. अतः विरुद्ध धर्माश्रयी होनेसे यह भगवदीय समझा जाता है. इसका केवल स्वभाव तथा आकृति ही भगवान्की नहीं है, किन्तु वेश और आभूषण आदि भगवान्के ही हैं, न कि भगवान्के समान हैं. यह कहांसे आया? इसकी जैसी उपमा दी है, उसमें तो आश्चर्य नहीं है. क्या भगवान्ने आभूषण पहनाकर इसको भेजा है? अथवा उन भगवद् रसका अभिनय करनेकेलिये नटकी तरह नट बनकर तो नहीं आया है. अथवा यों तो नहीं है कि भगवान् स्वयंरूप बदलकर पधारे हैं? बहुत कारण होनेसे 'कुतः' यह प्रश्नवाचक अव्यय दिया है. जिससे विशेष जिज्ञासा बताई 'स्म' यह अव्यय प्रसिद्ध अर्थमें कहा है. सबने उनको घेर लिया और सबने घेरा जिसका क्या प्रयोजन था? गोपियोंका स्वभाव ही भगवान्में उत्सुकतावाला है. यह कृष्णका स्मरण करानेवाला है, अतः उसको घेर लिया है. ये भगवान्की स्त्रियां हैं, इसलिये इनकी कालादि रक्षा कर रहे हैं तब उनके विद्यमान होते हुए उसके पास कैसे गईं? इस शङ्काके उत्तरमें कहा है कि यह भगवान्के चरणोंका आश्रित है, जिससे भक्तिमार्गका अनुयायी है, उसमें भी शास्त्रानुसारी भक्ति मार्ग(स्नेह-प्रेम) करनेवाला है ।।२।।

आभासार्थ : इस प्रकार जब संदिग्ध गोपीजनोंने ही उसको घेर लिया तब उसको विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ जिसका वर्णन 'तं प्रश्रयेणावनताः'में किया है:

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ।।३।।

श्लोकार्थ : विनयसे नम्र गोपीजनोंने लज्जा सहित हास्य देखना तथा मधुर वचन आदिसे अच्छी तरहसे सत्कारकर, एकान्तमें आसनपर बिठाकर; उन्हें लक्ष्मीपतिका सन्देशा लानेवाला जानकर पूछा ।।३ ।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजीको महान् पुरुष देख गोपियां विशेष नम्रतावाली हुईं, जिससे सुनकर आसन आदि देकर उनका सत्कार किया. अथवा पहले ही वस्त्र आभरण आदिसे अच्छी तरह सत्कार किया था. पश्चात् स्वामीका सेवक जानकर उनको लज्जा हुई. कारण कि गोपियोंका उद्देश्य तो काम ही है, जिससे लज्जाकी और मुस्कुराहटसे भी सत्कार किया. यदि हास न करती तो वह दृष्टि क्रूर और रुक्ष होती, जिससे सत्कारका अभाव दीखता, सत्कारकेलिये कुशल प्रश्न करने लगी.

'आदि' शब्दसे, आसन पुष्प...आदिसे सेवा भी की. सत्कार पाकर आसनपर शान्त हो उद्धवजी बैठ गये तब समझा कि ये हमारेलिये आये हैं हमारेलिये न आये होते तो हमारी की हुई पूजा ग्रहण न करते तथा साथमें मिलकर न बैठते, ये निष्काम हैं अतः भगवान्के सन्देश लानेवाले हैं. हमको ले जानेकेलिये सन्देश लाये हैं क्या? नहीं नहीं ये तो केवल हमारे मनको प्रसन्न करनेकेलिये आये हैं. यह हमने इससे समझा कि शुकदेवजीने 'रमापति' कहा है, जिससे वे अब रमाके साथ रहते हैं. अतः हमारी उपेक्षाकी है, क्योंकि हमारी अब आवश्यकता नहीं है. इस प्रकारके विचारसे गोपियोंको 'मान' उत्पन्न हुआ, जिससे एक दोष कहा है, पश्चात् जहां नन्द आदि नहीं थे, वहां एकान्तमें उनको ले जाकर, अथवा लज्जा युक्त ही कहने लगीं, क्योंकि रसकी वार्ता एकान्तमें होती है ।।३।।

आभासार्थ : उससे दूसरे दोषकी उत्पत्ति 'जानीमः' इस श्लोकसे सात श्लोकोंमें कही है:

जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ।।४।।

श्लोकार्थ : हम जानती हैं कि आप यदुपतिके पार्षद हैं, यहां स्वामीने मातापिताको प्रसन्न रखनेकेलिए आपको भेजा है, अतः आप यहां आए हैं ।।४।।

व्याख्यार्थ: गोपियां कहती हैं कि उद्धव हमको दिखाते हैं अथवा समझते हैं कि मैं गोपियोंकेलिये आया हूं, किन्तु वे उसको बदलनेकेलिये कहती हैं कि तुम दूसरे कार्यकेलिये आये हो. यदि गोपियां, अन्यकेलिए आये हो, यह सिद्ध न करें तो उलहना नहीं दे सकें, इस प्रकार कहना ही उलहनेका बीज है. अर्थात् हमारेलिये आये हैं उसका जब निषेध करें तब उलहना देवें. इससे प्रथम जो भगवान्ने हमारे साथ सम्बन्ध किया था वह तो उपाधिवाला था. अर्थात् अपने स्वार्थकी सिद्धिकेलिये किया था. मथुरा जानेसे वह स्वार्थ नहीं रहा. यदि यों न हो तो अर्थात् स्वार्थसे सम्बन्ध न होवे तो हमारा तथा उनका सम्बन्ध समान हो जावे तो उपालम्भका पात्र कौन बने? अतः भगवान्को स्वार्थी बनाकर, उनकी कृतघ्नताका दृष्टान्तोंसे समर्थन करती हैं.

इस प्रकार पांच श्लोकोंसे उनके दोषोंको दृढ़ करती हैं. वे दोष मिटाने जैसे हैं, कारण कि उनमें(गोपियोंमें) देहादिकी स्मृतिका अभाव तथा भगवान्में उनकी आसक्ति नहीं है. ये दोनों कारण दोषोंको मिटानेवाले हैं, यों कहकर यह

सिद्ध किया है कि यह जो दोषरूपी रोग शरीरमें हैं, वह साध्य है. अर्थात् मिट सकता है, इत्यादि कहकर दोषोंकेलिये उद्धवजीको जो कहना है, उसका प्रारम्भ करती हैं.

प्रथम भगवान्में महान् दोष बतानेवाली कोई तामस तामसी गोपी है. वह कहती है कि उद्धव आपका आना हमारेलिये नहीं है. जिसको सिद्ध करनेकेलिये कहती हैं कि हम जानती हैं कि आप 'यदुपति'के पार्षद हैं, वे पहले गोपी पति थे, अब 'यदुपति' बने हैं. अतः हमारा उपकार वे नहीं करेंगे और आप सभापति भी उनके पार्षद हैं अतः अतिशय चतुर हो. इससे आपके वाक्य भी आदर देनेके योग्य नहीं हैं. आप हमारे पास यहां निर्विघ्न पहुंच गये यह भी कुशलकी बात है और आप कुशल पूछनेकेलिये आये हो, किन्तु तुम भी आनन्दमें हो अतः तुम और तुम्हारा स्वामी उपालम्भके पात्र हो. यदि तुम और तुम्हारे स्वामी आनन्दमें न होवे तो उपेक्षा, दोषकेलिये न बने. इस प्रकार निर्दोष भगवान्को सदोष बनानेसे वे कदाचित् नष्ट हो जावें? इसके उत्तरमें कहती हैं कि आपको स्वामीने भेजा है, किसी प्रसङ्गसे आये हो. यों कहे तो वह झूठ हो जावे, अतः कहती हैं स्वामीने यहां गोकुलमें भेजा है. भेजनेका कारण कहती हैं कि माता-पिताके प्रिय करनेकी इच्छासे आपको भेजा है, जो सत्ता(अधिकार) मात्रसे सुख तथा आनन्द भोगते हैं. एवं ऐश्वर्य आदि उत्कर्षसे रहते हैं. वे अपना कुशल तथा ऐश्वर्य जतानेकेलिये अपने साथीको सम्बन्धियोंके पास भेजते हैं. अतः भगवान्ने आपको भेजा है. यदि आपको अलङ्कार न पहनाकर साधारण अवस्थामें भेजते तो ऐश्वर्यमें सन्देह होवे. आपके आनेसे हमको तो कोई सुख नहीं मिला है, आपका आना हमारे सुखका साधन नहीं है, इसलिये आपको हम लोगोंकेलिये नहीं भेजा है, किन्तु माता-पिता आदिकेलिये भेजा है ।।४।।

आभासार्थ : हमारे आगमनसे आपको भी सुख प्राप्त कराऊंगा. कारण स्नेह रूप सम्बन्ध जैसा नन्द आदिमें है, वैसा आपसे भी है. तब आप कैसे कहती हैं कि हमारे लिए नहीं भेजा है? इसके उत्तरमें 'अन्यथा' श्लोक कहती हैं:

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ।।५।।

श्लोकार्थ : यदि आप उनके माता-पिता आदिकेलिए नहीं आए हैं, तो आपका आना ही किस कामका? कारण कि यह स्थान तो गौओंके रहनेका व्रज

है. उसमें नन्द आदिके सिवाय दूसरा कोई आप(श्रीकृष्ण)केलिए स्मरणीय हम नहीं देखती हैं; क्योंकि बान्धवोंके स्नेहका सम्बन्ध मुनि लोग भी नहीं छोड़ सकते हैं।।५।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि हम और अन्य भी स्मरण करने योग्य हैं, किन्तु नन्दजीके पीछे, क्योंकि नन्दके व्रजमें रहते हैं, जिससे हमारा भी स्मरण नन्दजीके उत्कर्षकेलिये है. इस व्रजमें निवासकी जो हमको उपाधि लगी है, यदि वह न होवे तो हम भी स्मरणीय न बनें. अन्य प्रकारसे इस पशु निवास योग्य व्रजमें, सर्व समृद्धिसे युक्त किसी सर्वेश्वरको हम स्मरणीय नहीं समझती हैं. लोक उनका स्मरण करते हैं कि जिनको उनकी अपेक्षा होती है. यदि यों है तो नन्द भी स्मरण पात्र नहीं हैं, क्योंकि ईश्वरको उसकी भी अपेक्षा नहीं है. इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'स्नेहानुबन्धः' स्नेहका बन्धन है. जिस प्रकार अपेक्षा स्मरण करानेवाली है, वैसे ही स्नेह भी स्मरण करानेवाला है. यदि आप कहो, कि वह स्नेह भगवान्का आपमें भी है, तो कहती हैं कि जबर्दस्त स्मारक स्नेह तो बान्धवोंका ही होता है. यों भी न कहना, कि आपका स्नेह सम्बन्ध पहलेसे है, अतः दोनोंकी स्नेह मात्रकी ग्रन्थि समान है, क्योंकि एक स्नेह सहज होता है वह तो बान्धवोंमें होता है. दूसरा जो दूसरोंमें होता है, वह कृत्रिम है. अतः वह आकाङ्क्षा भी कृत्रिम है, जिस प्रकार देह त्यागनेपर ही सम्बन्धियोंके स्नेहका लोप होता है वैसे ही आकाङ्क्षाके परित्यागसे दूसरोंका स्नेह नष्ट हो जाता है किन्तु सहज बान्धवोंसे जो स्नेह होता है, वह देह रहते हुए ज्ञान आदिसे भी नष्ट नहीं होता है, तो विषयोंके नष्ट होनेसे वह(स्नेह) कैसे नाश होगा? इसलिये कहा कि ''मुनेरपि सुदुस्त्यजः'' यह स्नेह मुनि भी मुश्किलसे छोड़ सकते हैं. लौकिकसे वैदिक बलवान् है, यह जतानेकेलिये 'अपि' शब्द दिया है. 'सु' शब्दसे यह बताया है कि विवेकका नित्य स्मरण रहते हुए भी स्नेहका त्याग अशक्य है।।५।।

आभासार्थ: भगवान्का हमारे साथ नन्द आदि बान्धवोंके समान सहज स्नेह नहीं है, किन्तु औपाधिक है. वह जब वैसी ही इच्छित वस्तु मिलती है, तब आकांक्षा मिट जाती है. जिसका वर्णन 'अन्येष्वर्थकृता' श्लोकमें किया है:

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः।।६।।

श्लोकार्थ: दूसरोंके साथ जो मैत्री है, वह स्वार्थकेलिए है, अर्थात् जब

तक स्वार्थ है. जैसे पुरुष अपने काम सिद्धिकेलिए स्त्रियोंसे प्रीति करते हैं और भ्रमर भी रस चूसनेकेलिए पुष्पोंसे स्नेह करते हैं ।।६ ।।

व्याख्यार्थ: देहके सम्बन्ध रहित अन्योंसे जो मैत्री होती है, वह प्रयोजन सिद्ध करनेकेलियेकी जाती है. वह प्रयोजन देहका धर्म होनेसे धर्म्मीसे दुर्बल है और वह औपाधिक है, अतः विशेष समय भी नहीं रहती है. जैसे मजीठ आदिके औपाधिक रस होते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं, उसमें भी नटकी भांति अनुकरण ही है. अतः हममें भी भगवान्का स्नेह कभी भी स्थिर नहीं रहा है, केवल अनुकरण मात्र रहा है. जिससे अब स्मरण नहीं करते हैं. वह स्वार्थसे किया हुआ अनुकरण मात्र स्नेह था. जिसका प्रतिपादन करनेकेलिये औपाधिक धर्म दृष्टान्त देकर समझाती हैं तथा सिद्ध करती हैं. 'पुम्भिः स्त्रीषु' पुरुष स्वतन्त्र तथा सर्व समर्थ है, स्त्रियां उससे विपरीत अर्थात् परतन्त्र तथा निर्बल होती हैं. ऐसी स्त्रियोंमें यदि उनमें काम न होवे तो, वे पुरुषसे स्नेह कभी न करें. कामके पूर्त्यर्थ ही स्नेह करती हैं, यदि कामकी पूर्त्ति दूसरे प्रकारसे हो जावे तो फिर स्त्रीसे स्नेह निकल जाता है. शास्त्र भी कहता है कि जब राग(स्नेह) नष्ट हो जावे तब त्याग करो. ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन सन्यासी बन जाओ सन्यासमें भी धर्म तो रहता है. पुत्र आदि उस पितामें स्नेह आदि करते हैं. आगन्तुक धर्म भी सहजके समान है. इस प्रकार भगवान्का भी आपमें है. यदि उद्धवजी यों कह दें तो उस शङ्काको मिटानेकेलिये अन्य दृष्टान्त देती हैं. ''सुमनःसु षट्पदैरिव'' जैसे भ्रमर पुष्पोंसे प्रेमकर उसका रस चूसकर भाग जाते हैं. पुष्प सूख जाते हैं, उसकी भ्रमर परवाह नहीं करते हैं. यहां भ्रमरको 'षट्पद' इसलिये कहा है कि वह स्वार्थ सिद्धकर जल्दी भाग जाता है. इस प्रकार भगवान् भी हमारा रस लेकर भाग गये हैं. हमारी दशा क्या है ? उसका उनको विचार भी न होगा ।।६।।

आभासार्थ: दृष्टान्त सर्वत्र ही सुलभ है, उनसे तो कार्यकी सिद्धि नहीं होती है. यहां पुष्प जल्दी ही नाश हो जाते हैं और भ्रमर बहुत हैं तथा साधारण ही हैं. भगवान् एक हैं और आप असाधारण हैं, जिससे आपका दिया हुआ यह दृष्टान्त योग्य नहीं है. इस प्रकारकी शंका होनेपर कहती हैं कि औपाधिकोंकी यह व्यवस्था है यह सिद्ध करनेकेलिए दूसरे और दृष्टान्त देती हैं 'निःस्वं' इन दो श्लोकों से:

निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ।।७।।

श्लोकार्थ: जैसे वैश्या निर्धनको, प्रजा असमर्थ राजाको, विद्या पढ़नेके अनन्तर शिष्य आचार्यको और दक्षिणा मिलनेके पश्चात् ऋत्विज यजमानको छोड़ते हैं।।७।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि सर्वत्र बहुत्व और साधारणत्व उपाधि हैं ही, तो भी प्रायः यों ही देखनेमें आता है इसलिये उपाधिका सन्दिग्धपन सिद्ध करनेकेलिये अन्य दृष्टान्त कहे हैं. सर्व प्रकारसे हमारा त्याग किया है. यदि यों कहा जावे तो दोष असाध्य हो जावे. जैसे मित्राके पुत्रमें कालास सन्दिग्ध उपाधिवाली है जो उसके सिवाय दशवां भी यदि काला ही हो तो वह उपाधि शाकके खानेसे हुई है यों नहीं कहा जा सकता है. दूसरे प्रकार कालास हो सकती है, इस प्रकार बहुत्व तथा साधारणत्वमें भी उपाधि सन्दिग्धरूपवाली ही है. जो भगवान् हमको त्याग देंगे तो हममें प्रियत्वके अभावसे तथा बहुत्व होनेसे उपाधि नहीं कही जायेगी, इसमें प्रथम दिखाती है कि स्त्रियां स्वभावसे पुरुषोंके समान दुष्ट दोष युक्त नहीं हैं. यह गोपियोंका कथन ईर्ष्याके अधीन हो भगवान्को दूषित करना है, किन्तु इस पक्ष (दोष देनेवाले)को बदलनेकेलिये कहती हैं कि स्त्रियां ही वैसी हैं; जो स्वार्थ सिद्ध न होनेपर पुरुषका त्याग करती हैं. 'निःस्वं त्यजन्ति'(निर्धनका त्याग कर देती है) स्त्रियां पहले तो सर्व प्रकारके हाव भावादिसे पुरुषकी सेवा करती हैं. इस प्रकार(वैश्याकी तरह) कोई भी अपनेको दूसरेकेलिये अर्पण नहीं करता है, उसमें भी जिस किसीको धर्मकेलिये भी इस प्रकार आत्मार्पण करनेका इससे निषेध बताया है, वे लोकमें निन्दित होती हैं. इस प्रकार लोक तथा वेदमें विरोध होते हुए भी तथा सर्व लज्जा आदिका त्यागकर भी जिस किसीको सर्वभावसे भजनकर सबके पास अच्छी होना चाहती हैं अथवा सबसे उत्तम होना चाहती हैं, यह तब हो सकता जब वे अर्थ(धन)को न चाहती. वे धन केवल निर्वाहकेलिये नहीं चाहती हैं किन्तु विशेष भी चाहती हैं. इसी भांति उनका पैसोंके कारण ही जो हाव भाव स्नेह है, वह व्यर्थ ही है. केवल पैसोंके छीननेकेलिये है. जब वह स्नेह दिखानेका निमित्त जो पैसे हैं उनका अभाव हो जाता है, तब उस प्रेमीको भी छोड़ देती हैं. जो पुरुष वैसी वृत्तिवालियोंको अपना सर्वस्व भी दे देता है तो भी उस पुरुषको धन हीन देखकर कमाई करनेमें असमर्थ देख वे वेश्याएं छोड़ देती हैं. वैसा स्नेह अन्यत्र देखनेमें नहीं आता है.

ये तो समान भावसे भजन करनेवाली हैं न कि उत्कर्ष भावसे भजन

करती हैं. अतः ये त्याग कर सकती हैं, किन्तु जो उत्कर्ष भावसे सेवन करते हैं उनका तो त्याग नहीं हो सकता है. इसपर कहते हैं, लोकमें उत्कर्ष भावसे सेवन होनेपर भी त्याग किया जाता है. जैसे 'अकल्पं नृपतिं प्रजाः' जिस राजाने उत्कर्ष भावसे प्रजाकी पालनाकी है और प्रजाने भी राजाकी सर्व भावसे सेवाकी है तो भी वह राजा जब असमर्थ होता है तब उस राजाको त्याग उसका जो शत्रु अन्य राजा है उसकी प्रजा बन जाती है.

यदि प्रजा अन्यको अपना राजा स्वीकार न करे तो अन्य कोई भी राजा बन न सके, राष्ट्र अराजक रहे, किन्तु इतना प्रयास वा साहस कौन करेगा? साहसके अभावमें थोड़ा भी निमित्त हुवा तो परम्परागत राजाको भी छोड़ देती है. इससे समझा जाता है कि जिनसे देहका सम्बन्ध नहीं है, उनसे लौकिक सम्बन्ध तब तक है जब तक स्वार्थ है. यदि क्षण मात्र अर्थात् स्वल्पमें भी बाधा हुई तो उसका भजन छोड़ देते हैं. मान लो, लौकिकमें वैसे होता है, किन्तु वैदिकमें तो शास्त्र प्रामाण्य होनेसे भी यों त्याग नहीं होता होगा? इसपर कहते हैं कि 'अधीत विद्या आचार्य' विद्या पढ़ लेनेके अनन्तर शिष्य आचार्यका त्याग कर देते हैं जिस विद्यासे शिष्य सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करता है. वैसी विद्या, ग्रहणरूप स्वार्थ जब तक शिष्यका है तब तक ही [१]आचार्यकी सेवा करता है. वैसे उन आचार्यका भी भजन नहीं करते हैं. तात्पर्य यह है कि दूसरोंसे जो मैत्री है, वह मतलबकी ही है. जहां वैदिक सम्बन्ध है अर्थात् जहां आचार्यका सूतक पालना पड़ता है, वैसे व्यवहार होने तथा जो विद्या पढ़ी है उसका उपयोग अर्थ प्राप्तकर आजीविका चलानेमें होता है, अतः वैसे(आचार्य)को भी त्याग देते हैं.

यज्ञ करानेवाले ऋत्विक् ब्राह्मण, दक्षिणा मिल जानेपर शेष अर्थ एवं यजमानका त्याग करते है. कभी वैसे भी यजमान चतुर होते हैं, कर्म पूर्ण होनेपर दक्षिणा नहीं देते हैं तो वैसेका भी त्याग कर देते हैं. जिससे अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारसे समझा जाता है कि मैत्री प्रयोजनकी ही होती है.

१.'उपनीयं तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते' जो द्विज यज्ञोपवीत संस्कार कराके शिष्यको समग्र अङ्ग तथा रहस्य सहित वेद पढ़ावे, वह 'आचार्य' कहा जाता है.

आभासार्थः इस प्रकार एक श्लोकसे यह बताया कि धर्म और अर्थकी अपेक्षासे दूसरेका भजन किया जाता है. स्वाभाविक भजन देह सम्बन्धी जैसा

होता वैसे नहीं होता है. अब कामनाकेलिए लौकिक, वैदिक, प्रकृत और निषिद्ध भेदसे भी प्रवृत्त हुए उसके फलका भोगकर अनन्तर उनको छोड़ देते हैं जिसका 'खगा वीतफलं' श्लोकमें वर्णन करते हैं:

खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ।।८।।

श्लोकार्थ : पक्षी फलोंसे हीन वृक्षको, अतिथि भोजन करनेके अनन्तर उस घरको, हरिण जले हुए जङ्गलको और जार पुरुष प्रीतिमति स्त्रीको भोगनेके बाद छोड़ देता है ।।८ ।।

व्याख्यार्थ: काम दो प्रकारके हैं, एक ऊपरकी मुखादि इन्द्रियोंसे भोगा जाता है, दूसरा नीचेकी शिश्नादि इन्द्रियोंसे भोगा जाता है. उसमें क्षुधासे पीडित पक्षी फलोंसे पूर्ण पेड़पर क्षुधा निवृत्यर्थ बैठते हैं. जब उस वृक्षमेंसे फल समाप्त हो जाते हैं तब ही उसको छोड़ देते हैं. यह दृष्टान्त एक नमूनेकेलिये है. इसी प्रकार तपति बुझानेकेलिये भी पेड़का आश्रय लेते हैं. जब छाया नहीं मिलती है तो उसको छोड़ देते हैं. अपने-अपने कार्यकी वस्तु लेनेकेलिये आते हैं, वह जब नहीं मिलती है तब उसका त्याग करते हैं. इसी प्रकार अतिथि जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है, और ब्राह्मण क्षुधासे पीडित हैं वे भोजनकर तथा दूसरा भी सत्कार पाकर गृहको छोड़कर चले जाते हैं. चाहे वहां कुछ अनिष्ट भी हुआ हो तो भी ध्यान नहीं देते हैं. कदाचित् यों समझा जाये कि कोई इस प्रकार करता होगा? इस सन्देहको मिटानेकेलिये सर्वत्र बहुवचन दिया है. जिसका तात्पर्य है कि सब वैसे होते हैं. जिस जङ्गलमें हरिण पैदा हुवे बड़े हुवे उस जङ्गलको आग जब जलाने लगती है तब उस वनको थोड़े समयकेलिये उपयोग न कर सकेंगे यों समझ उसका त्याग करते हैं. चाहे यों समझते भी हैं कि यह जङ्गल पुनः पूर्वके समान हरा हो जायेगा तो भी त्याग देते हैं. सर्वत्र साधारण समझकर, असाधारण-पनसे उसका नाश भी कर चला जाता है. इस प्रकारका दृष्टान्त अब देते हैं, 'जारो भुक्त्वा' वह अपनी स्त्री नहीं है दूसरेकी है, केवल भोग्या है, स्वयं 'जार' है जैसी वह पराई है वैसे आप भी परपुरुष उपपत्ति हैं. अतः दोनों एक स्वभाववाले हैं अथवा उसका आश्रित है, वैसा भी भोगके अनन्तर उस स्त्रीको यदि कोई अन्य पीटे तो भी उसका अवहेलनाकर उसको छोड़के चला जाता है, वैसे ही यह [१]हुआ है. अथवा ये दश प्रकारके हैं, दश दृष्टान्त कहे हैं वहां सात्विक [२]आदि भाववाले व्रजभक्तोंने

वैसे दृष्टान्त कहे हैं. 'जारो भुक्त्वा' यह अन्तिम दृष्टान्त राजस तामसीने कहा है अथवा तो आठ दृष्टान्त यहां तक हैं. सर्वभावको प्राप्त तामस तामसीका स्वरूप तो 'भ्रमर'की कथामें कहेंगे. इसलिये ही वहां [३]'काचित्' शब्दसे उस अकेलीका निरूपण करेंगे ।।८।।

१.हमारी दशा वैसी हुई है.

२.ये दश दृष्टान्त इस क्रमसे समझने चाहिये. १.राजस सात्विक, २.राजस राजस, ३.तामस तामस, ४.तामस राजस, ५.निर्गुण, ६.सात्विक राजस, ७.तामस सात्विक, ८.सात्विक सात्विक, ९.सात्विक तामस, १०.राजस तामस. श्रीप्रभुचरण टिप्पण्याम्

३.'काचित्' अकेली कहनेका भाव स्पष्ट करते हैं कि 'मधुपकितव'से जो दश श्लोक कहे जायेंगे वे कहनेवाली दश भाव युक्त 'तामस तामसी' हैं उनमें तामस-तामस भाव स्थायी हैं. अन्य भाव व्यभिचारी हैं.

आभासार्थ : जो द्वेष-इर्ष्याके कारण दुष्ट(दोषयुक्त) हो गई हैं, उनको ज्ञान देकर फिर निर्दोष बना क्यों तैयार करते हैं ? इस शंकाको मिटाते हुए कहते हैं कि ये वास्तवमें निर्दोष उत्तम हैं, किन्तु विरह क्लेश बढनेके कारण असूया होनेसे, इनका वैसा स्वभाव हुआ है. जिसको दो श्लोक 'इति गोप्यो'से बताते हैं:

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ।।९।।
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ।।१०।।

श्लोकार्थ: गोपियोंके तन, मन और वाणी सर्व भगवान्में लगे हुए थे. जब कृष्णके दूत उद्धवजी व्रजमें आए, तब उसने देखा कि सर्व लोक व्यवहार त्याग श्रीकृष्णके बाल्य तथा किशोर अवस्थाके चरित्रोंको निर्लज्ज हो गा रही थीं. जिससे उनका हृदय विरहसे विह्वल हो गया था और नेत्रोंसे नीर निकल रहा था ।।९-१० ।।

व्याख्यार्थ: श्लोकके प्रारम्भमें आया हुआ 'इति' शब्द समाप्ति वाचक है, और प्रकार बतानेकेलिये है. गोपियोंमें जो असूयादि दोष कहा, जिसका फल भगवान्में आसक्ति हुई, न कि उनका दोषसे नाश हुआ, यह सिद्ध करनेकेलिये ही कहा है कि गोपियोंकी वाणी, काया और मन सर्व भगवान्में लग गये हैं. आप यों

कैसे कहते हैं ? दुष्ट ही हुई यों क्यों नहीं कहती हो ? इस प्रकारकी शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ये गोपियां हैं, वे सरल प्रकृतिकी भोली होती हैं, अतः ये कपट या विवेक नहीं जानती हैं. इसलिये खेदके वश जैसी मनकी वृत्ति हो जाती है, वैसी ही बोलती हैं, अतः वे दुष्ट नहीं हैं, श्लोकमें 'हि' शब्दसे यही तात्पर्य कहा है.

बहुत कष्टसे सर्वका सम्पूर्ण त्यागकर सर्वात्मभावसे प्रथम भगवान्के शरण गईं हैं और विशेषमें गोविन्द भगवान्को सर्व देवोंने इन(गोपियों)का ही इन्द्र बनाया है. यदि ये दुष्ट होतीं तो भगवान् इनका इन्द्र बनाना व्यर्थ हो जाता. अथवा भगवान्को दुष्टोंका स्वामीपन प्राप्त हो जावे, अतः इन वचनोंसे सिद्ध है कि इनकी वाणी आदि भगवान्में है, जिससे वे दुष्ट नहीं, किन्तु उत्तम हैं. अथवा पहले ही इनका गोविन्दमें अपने आप वाणी, मन आदि लग गये हैं. यदि ये वचन भी दोष जनक होवें तो भगवान् शास्त्रमें ही दोष समझ जावे. कारण कि ये तो भगवदीय हैं, क्योंकि इन्होंने सर्वका परित्यागकर भगवान्को ही अपनाया है. जिसका उदाहरण देते हैं कि श्रीकृष्णके दूतके आनेपर लौकिक त्याग दिया और इनकी यह दशा हो गई, तो स्वयं भगवान् पधारते तो न जाने ये क्या कर डालतीं? अन्य सर्वकी अपेक्षाका त्यागकर प्रकट हो के उद्धवजीके पास आकर बैठ गईं और विशेषमें न केवल उनके बाजुमें बैठीं, किन्तु उनके आगे भी अपने प्रीतमकी लीलाओंका गान करती थीं. जिससे यह बताया है कि हमने वाणी भी भगवान्में अर्पण कर दी है. इससे वाणी उनका ही वर्णन करती है तथा किसीके भी आगे सकुचाती नहीं हैं. वहां रोती थीं, जिससे भगवान्में अपना पूर्ण निवेदन बता दिया है. जैसे कि वहां कृष्ण भक्त दूतके पास बैठनेसे कायाका निवेदन, गानसे वाणीका निवेदन और रोदनसे अन्तःकरणका निवेदन सिद्धकर दिखा दिया. लज्जा स्त्रियोंका असाधारण स्वभाव है, उसका भी त्याग कर दिया, यह 'गतह्रियः' पदसे कहा है. जहां वैसे असाधारण धर्मका त्याग कर दिया है तो बाकी अन्य त्यागकेलिये उनको कौनसी कठिनाई होगी ? यह सब थोड़े समयकेलिये हुआ होगा, वा रहेगा. इसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, यह तो दृढ हमेशाकेलिये हैं, क्योंकि वे भगवान्की दोनों प्रकार बाल्य और किशोर अवस्थाकी लीलाओंको पुनः-पुनः स्मरणकर गाती रहती हैं. जिससे उनको पूर्वमें कही हुई जैसी तन्मय अवस्था हो गई है, क्योंकि उनका इसी प्रकारका सम्बन्ध है ।।९-१०।।

आभासार्थः इस प्रकार इस दोषको महान् मानकर बड़े जबरदस्त

प्रबन्धसे मिटाया है. उससे भी विशेष दोषका निरूपण करनेकेलिए 'काचित्' इस श्लोकसे आरम्भ करते हैं:

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ।।११।।

श्लोकार्थ: कोई एक गोपी भगवान्से हुए सङ्गमका ध्यान करती थी, उस समय मधुकरको देखकर समझने लगी कि मेरे प्यारेने मेरे पास यह दूत भेजा है, वैसी मनसे कल्पना कर यों कहने लगी ।।११ ।।

व्याख्यार्थ: यह मेरा रोग साध्य है वह आगे कहा जावेगा पश्चात् भगवान्के उपदेशका वर्णन होगा. अर्थकी सङ्गति तो यह है कि प्रथम कोई गोपी उलहना कहकर अनन्तर भगवान्में अपनी आसक्ति प्रकट करनेकेलिये अपने हृदयके भाव कहती है, क्योंकि यों नहीं कहे तो रस प्रकट हो जावे. अतः उसको छुपाने केलिये यों भाव प्रकट करती है. वह भी दूसरेको कहनेके मिषसे करती हैं, नहीं तो रस पुष्ट न होवे. अथवा उद्धवको, गोपियोंका क्या स्वरूप है, यह बतानेकेलिये भगवान्ने मधुकरको भी भेजा है. तब उसको देखकर आर्षज्ञानसे उसको भगवदीय समझकर कोई गोपी कहने लगी. जैसे उद्धवजीको यह अभिमान न होवे कि मैंने गोपियोंको उपदेश देकर भगवान्का बड़ा कार्य सिद्ध किया है. अन्यापदेश न्यायसे तो ये पद उद्धवजीमें भी घटित किये जा सकते हैं. तब दोषकी सम्भावना उसमें भी हो सकती है. दूसरे अर्थमें तो(काल पक्षमें) कोई दोषकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वहां प्रार्थना ही हुई है. मधुकर भ्रमरको कहते हैं वास्तवमें भ्रमरका यह विपरीत नाम है क्योंकि भ्रमर मधुका भक्षण करता है उसको बनाता नहीं है, 'मधुकर' पदका अर्थ मधुको करनेवाला होता है, अतः वसन्त मधुकर है, यह मधुप भी मधुकर नामसे कहा गया है. यों नहीं कहें तो पुष्प और उनके अभिमानी देवता उसको अपने पास न आने दें. प्रथम ही वह कृष्णके सङ्गमका ध्यान करती हुई खड़ी थी. इस प्रकार प्रथम भगवान्के साथ मनसे सम्बन्ध प्राप्तकर पीछे मानवाली हुई. तब समझने लगी कि भगवान्ने दूसरीको ग्रहण किया है. यों मनमें कल्पना की, किन्तु भगवान्को वह रुचिकर नहीं लगी है, अतः भगवान्ने फिर मुझे ही समझानेकेलिये इस भ्रमरको भेजा है. इस प्रकारके आर्ष ज्ञानसे कहती है कि 'प्रिय प्रस्थापितं' प्यारेने इसको भेजा है. यह प्रीतमका दूत है, यों जानकर निम्न श्लोक कहती हैं ।।११।।

१.जिस रसका ध्यान कर रही थी, उसको यदि न छुपाये तो वह रस उसको(गोपीको) अपनी क्रियावाला कर देवे. इस प्रकार प्रकट रस भोग सर्व समक्ष हो; वह अनुचित है. अतः छुपानेकेलिये वे हृदगत भाव कहने लगीं हैं टिप्पणीजीका आशय.

आभासार्थ: आदिमें मानवाली नायिका क्रोधके कारण निष्ठुर वचन कहने लगती है, यह प्रकार है. इस कारणसे तामस तामसी* अथवा उस भाववाली गोपी भ्रमरको 'मधुप' इस श्लोकमें दूषण देती है:

* श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें 'तामस तामसी' पदके तात्पर्यको समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि विप्रयोगमें अनेक व्यभिचारी भाव होते हैं. जैसे प्रलाप दीनता आदि भाव व्यभिचारी भाव हैं. वैसे प्रीतमें दोषारोपण भी एक व्यभिचारी भाव है. वैसे दोषारोपण करनेपर भी रसात्मकतामें न्यूनता नहीं होती है, किन्तु अत्युग्रभावकी उत्पत्ति होती है. वह अत्युग्रभाव रसात्मक भगवद्धर्मरूप है. जिससे वह प्रमाणादि सर्व बलोंका निरास करता है. अतः इस उग्रताके कारण ही भगवद् धर्मारूप रसात्मकताको यहां तामस कहा है. जैसे गीतामें रजोगुणादिमें परस्पर उपमर्द्य और उपमर्दका भाव कहा है. वैसे ही यहां रसशास्त्रमें(विषयमें) भी भावोंमें परस्पर उपमर्द्य और उपमर्दक भाव है. अतः उग्र भावसे रसात्मकता ही प्रकट होती है. जिससे यों कहना कि गोपी भगवान्में दोषारोपण करती है, वह युक्त नहीं है. कारण कि गोपियोंको तो भगवान्के सिवाय अन्यका स्मरण ही नहीं है. जिनको अन्यका स्मरण ही न होवे, वैसी अपने प्रियमें दोषारोपण कैसे करेंगी? अर्थात् नहीं करेंगी, इत्यादि विशेष टिप्पणी पढ़िए.

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ।।१२।।

श्लोकार्थ: गोपी कहने लगी कि हे भ्रमर! हे कपटीके मित्र! मेरे चरणोंका स्पर्श मत कर; क्योंकि तेरी दाढ़ी-मूंछ सपत्नीके कुचोंसे मर्दित भगवान्की वनमालाकी केसरसे रङ्गी हुई है, वे भगवान् उन मानवतियोंको भले प्रसन्न रखें, जिसका यादवोंकी सभामें उपहास होता है और जिसका तू दूत बनकर आया है।।१२।।

व्याख्यार्थ: सब जगह जहां भी रसका विषय होता है वहां वियोगके समयमें दूत तथा नायकको ही दोष दिया जाता है, अर्थात् उनको ही दोषी ठहराया

जाता है. जैसा कि कहा है, 'अज्ञातपीडागमा' 'अधमस्य' ये दोनोंके दूषण हैं. वैसे ही यहां भी कहा है कि 'मधुप कितवबन्धो ' अर्थात् जैसे वहां 'अज्ञात-पीड़ागमा'से दूतोंका दूषण कहा है और 'कितवबन्धो'से नायक प्रभुको दोषी ठहराया है, यह भाषा अर्थात् इसी प्रकार कहना दूसरे मतकी भाषा तथा कामशास्त्रकी अनुसारिणी है. यों कहनेसे समाधिभाषा वा भक्तिमार्गमें विरोध नहीं हैं. यद्यपि भ्रमर मधुप हो सकता है अर्थात् मकरन्दका पान करता है, किन्तु उसका अन्य अर्थ भी हो सकता है, उस अर्थसे निन्दा भी होती है, जैसे कि 'मधु'का अर्थ 'मद्य' होता है जिसका तात्पर्य है कि तू मद्यपान करनेवाला है. इसके ज्ञान होने पर भ्रमरकी निन्दा भी हो सकती है. अन्य लक्ष्य लेनेपर तो यादव सर्वपानमें आसक्त हैं. यह बात लोकमें प्रसिद्ध है जिससे निन्दा होती है. भगवान् और भगवद्भक्त इस कोटिमें नहीं आते हैं और भगवान् अनिन्दित साधारण लौकिक धर्मोंका अनुकरण करते हैं कि सर्वधर्मोंका अनुकरण करते हैं, तो जो यादव मद्यपान करते हैं. इस प्रकार साधारण यादव मात्रका यह धर्म सुननेसे अत्यन्त खेद होता है. वास्तवमें तो सरस्वती दूसरे अर्थको ही कहती है, जैसा कि भगवान् स्वामी हैं, और 'काल' दूत है तथा आपकी गोपियां श्रुतियां हैं. निश्चयसे भगवान् काल द्वारा+३ कहे जा सकते हैं तथा जाने जाते हैं. यहां 'काल' संवत्सररूप है. आदिमें वह वसन्त ऋतु होकर पालन करता है, जिससे उसको मधुप कहते हैं. अनन्तर वही काल(वञ्चनासे रस चूसकर भी) ग्रीष्मका बन्धु बनता है, जिससे वह कितव(कपटी) है. वह ग्रीष्म यदि भगवान्के सम्बन्धी वृन्दावन आदि भू प्रदेशका अथवा भगवच्चरणका स्पर्श करे तो महान् क्लेश उत्पन्न होवे, क्योंकि ग्रीष्मके स्पर्शसे उस भूमिकी शीतलता, हरियाली एवं मकरन्द आदि नष्ट हो जावे, इसलिये गोपी चरण स्पर्शका निषेध करती हैं. पहले तो भगवान् जब वृन्दावनमें बिराजते थे, तब तो ग्रीष्मके सूर्यका ताप वृन्दावन भूमिके रसको नहीं चूस सकता था. अब भगवान् इस भूमिसे दूर पधार गये हैं, अतः अब यदि चूस लेवे तो उसकेलिये निषेध करती है. अतः प्रणामकेलिये आये हुवे भ्रमर वा उद्धवजीको रोकती है. नमस्कार करनेमें क्या दोष है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहती हैं कि यह मधुप है, मकरन्द पान करनेवाला है, जिससे चरणका मकरन्द भी चूस लेगा. इसलिये निषेध करती हैं. यदि यह मकरन्द पान कर लेगा तो मकरन्दरूप सार निकल जानेसे हमारे चरण भगवान्के उपयोगी नहीं रहेंगे और

मधु तथा मादकको पीनेवाला स्पर्शके योग्य नहीं है, इसपर उद्धवजी यदि कहें कि मैं और कोई नहीं हूं, किन्तु भगवान्का दूत हूं. आपको बुलानेकेलिये भगवान्ने मुझे भेजा है और मैं तो कोई वैसा नहीं हूं जो उपेक्षक हो. भोगार्थिनी स्त्रियों, जो प्रभुके सम्भोगको चाहती हैं, वैसी अन्तरङ्ग दूतियोंकी वैसी दशा कहनी योग्य है. इसपर कहती हैं कि आपको भगवान्ने छलनेकेलिये यहां भेजा है, क्योंकि आप 'कितव बन्धु' है. वे भगवान् वञ्चक और धूर्त भी हैं. अतः किसी प्रकार जिससे फल प्राप्त न होवे वैसे मानके अपनोदन(तोडने वाला) रूप साधन करने व्यर्थ ही हैं. इसलिये कहती हैं कि चरणका स्पर्श मत करो, यों निषेध करना योग्य ही है. इस प्रकार कहनेका आशय यह है कि उद्धवजीका भी यहां सन्मान नहीं होगा. अर्थात् उद्धवजी जिस ज्ञानका उपदेश देनेकी आशासे आये हैं वह उनकी पूर्ण नहीं होगी. इसी आशयको हृदयमें रखकर गोपीने निषेध किया है. भ्रमर पक्षमें कहा है कि सौतिनके कुचोंसे मर्दित भगवान्की वनमालाकी केसरसे तेरी दाढी मूछें रङ्गी हुई हैं, इसलिये स्पर्श मत कर. अब कालके पक्षमें जिस प्रकारका भाव है, वह कहते हैं कि यहां सौतिन 'आकाश' हैं. उनके कुच 'मेघ' हैं. उनसे 'मर्दित माला' बिजुलियां हैं, और उनकी कान्ति केसर है. उसके साथमें बहनेवाली धाराऐं उनकी दाढी मूछें हैं. तूं उनसे मुझे स्पर्श मत कर. गोपी यह जो निषेध कालको कर रही है वह वर्षा पर्यन्त ही कर ही है. कारण कि वर्षाके अनन्तर आनेवाली शरद् तो हमारी हितकारिणी है. गोपी 'नः' यह बहुवचन देकर कहती है कि मुझ अकेलीकी शरद् हितकारिणी नहीं है , किन्तु सर्व गोपियोंकी है. अतः यह निषेध भी मैं सर्वकी तरफसे कर रही हूं. जो मनानेकेलिये वा मान देनेकेलिये आवे, उसको द्विष्ट(मनको दुःख देने वाला) पदार्थोंका त्यागकर आना चाहिये, न कि वे दिखाते हुए आना चाहिये. भ्रमरके जो दाढ़ी मूछोंके स्थानपर रोम हैं वे पीले हैं वह पीलास दूसरे पुष्पोंके मकरन्दकी नहीं हैं किन्तु भगवान्की मालामें स्थित पुष्पोंके मकरन्दकी ही है, क्योंकि भगवदीय अन्यत्र मकरन्द लेनेकेलिये नहीं जाते हैं. पुष्पोंके मकरन्दके अन्दर प्रवेशके अभावसे बाहर ही उसका सम्बन्ध हुआ है. अतः यह जो पीतपन है वह कुङ्कुमके सम्बन्धसे हुआ है न कि दूसरे प्रकारसे हुआ है. इस प्रकार उद्धवजीको भी भगवत्प्रसादी मालाके सूंघनेसे कुङ्कुमका सम्बन्ध हुआ है. उसकी भी दाढी मूंछें बहुतकर वैसी ही पीली लगती हैं. बार-बार मालाके सूंघनेसे श्मश्रू पीली हो जाती है. सूंघना अथवा मकरन्द पान

बाहरसे होता है. अतः यह पीलास भगवान्के अङ्गरागसे नहीं हुआ है, माला मर्दित हुई, उससे हुआ है. जिससे सम्भोग सिद्ध होता है, न कि केवल आलिङ्गन सिद्ध होता है. कारण कि आलिङ्गन मात्रसे माला इस प्रकार मर्दित नहीं होती है तथा आलिङ्गन मात्र तो अन्यके आग्रहसे भी होता है. यहां तक तो वह अत्यन्त द्वेष करने योग्य नहीं है और यह जाना जाता है कि वह श्रमित हुई है. जिससे प्रकट होता है कि यहां सौरत हुआ है, अतः मान बढनेसे काल भ्रमर और उद्धव इन तीन पक्षोंमें चरण स्पर्शका निषेध किया है.

टिप्पणी–१: टिप्पणीजीमें श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि आचार्यश्रीने इस प्रकारकी भाषाको परमत भाषा इसलिए कहा है कि वह ज्ञान जो यहां दिया जाता है वह केवल दोषारोपण दोषरूपसे न किया जावे इसलिये ही है अन्यथाज्ञानकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है. कारण कि शुद्धस्नेहात्मक पुष्टिमार्गके अनुयायीको ज्ञानमार्गका ज्ञान देना भक्तिमार्गसे अत्यन्त विरुद्ध है. अतः इसका समाधिभाषामें प्रवेश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है. यहां तो अत्युत्कट रसात्मक स्नेहभावका वर्णन हो रहा है, वह ही परमपुरुषार्थरूप है. वह ज्ञान इस परमपुरुषार्थरूप रसात्मक स्नेहभावका विघातक है. यद्यपि यहाँ ज्ञान स्वतंत्रतासे कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु केवल दोषारोपणको निवृत्त करनेकेलिए है, तो भी वह दोषारोपण भी रसात्मक होनेसे और व्यभिचारीभावके कारण वह दोषारोपण स्थिर नहीं रहता है. इसलिए यहां ज्ञानका सर्वथा उपयोग नहीं है. अब तक जो निरोध सिद्ध किया है, उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रह गई है, जिसकेलिए ज्ञानकी उपयोगिता वा आवश्यकता हो. इसलिए आचार्यश्रीने 'मतान्तर भाषा' कहा है, वह श्रेष्ठ कहा है.

इस कथनमें यह ही उपपत्ति है कि प्रीतमका संयोग अथवा वियोग होना चाहिए जिसको पुरुषार्थ कहा जाता है. रसशास्त्रका यही तत्त्व है कि वियोगदशामें प्रीतममें जो दोषकी स्फूर्ति होती है, जिसमें अपने दु.ख होनेका ज्ञान ही हेतु है. वैसा जब ज्ञान होता है, तब ही ध्यानमें आती है कि हमको सुख देनेवाला यह प्यारा प्रीतम ही है. यह प्रीतम स्वरूपसे दुःखदायी नहीं है और यह तो उत्तम तथा प्रिय है.यदि स्वरूपसे दुःखदायी समझने लगे तो उनका स्नेह उपाधिरहित न कहा जाय. इसलिए उसके समाधानकेलिए भगवान्ने आत्मत्वका बोध कराया है. ऐसा होनेपर ही भगवान्में इन(गोपियों)का और गोपियोंमें भगवान्का स्वाभाविक स्नेह

है, यह सूचित किया है. भगवान् दुःख देनेवाले हैं, यह कहना असम्भव है. जिसको विशेष स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे जीव जिस देहको अपनी समझ बैठा है उसको दुःख देनेका उत्साह नहीं करता है. वैसे ही भगवान् भी जिस जीवात्माको अधिष्ठानकर बिराजते हैं उसको दुःख देना नहीं चाहते हैं. इसलिए ही श्रुति कहती है कि ''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्'' अर्थः जिसको ही यह आत्मा(भगवान्) अपना करती है, वही उस(भगवान्)को पाता है. उसको यह आत्मा अपना तनु स्वाधीन करती है.

तात्पर्य यह है कि विप्रयोगमें अन्दरका लाभ है और संयोगमें बाहरका लाभ है. जब वे धर्म स्नेहके वश होकर प्रकट होते हैं, वे भी जो स्नेहवाले हैं उनमें प्रकट हो जाते, इससे स्नेह ही दोषस्फूर्तिका कारण है. जिससे प्रियमें तो निर्दोषत्व ही भासता है, यह तो मर्यादारीतिसे कहते हैं. सचमुच तो अति उत्कट स्नेहके कारण ही दोषकी स्फूर्ति होती है. वह भी भगवद्भाव ही है, भ्रमरूप वा दोषरूप नहीं है. रसात्मक भगवत्स्वरूप इस प्रकारका ही है. इसलिए विशेष विचारणीय कुछ नहीं है. यदि विचारा जावेगा तो रसाभाव ही सिद्ध होगा. अब हमको यों प्रतीत होता है कि ज्ञानसे भक्तिकी अधिकता भी इससे जतायी जाती है.

टिप्पणी.२: समाधिभाषा–माहात्म्यज्ञान तथा स्नेह ये दोनों सर्वत्र साथमें नहीं होते हैं. कभी साथ साथमें और कभी पृथक् भी नहीं हीते हैं. चालू प्रसङ्गमें 'काचिन्मधुकरं'से प्रारम्भकी हुई कथा वैसी नहीं है. अर्थात् इसमें स्नेह वा माहात्म्यज्ञान दोनों नहीं हैं, किन्तु कामशास्त्रके अनुरूप है, जिससे यह कथा समाधिभाषा वा भक्ति मात्रके विरुद्ध नहीं, किन्तु किसीको इसमें विरुद्धताका भाव होवे और यों भी शङ्का होवे कि विहित स्नेहके अभावसे भक्तिमार्गसे भी विरोध है. जिसके उत्तरमें दो हेतु देकर सिद्ध किया जाता है कि यहां विरोध नहीं है, कारण(१) यह मतान्तर भाषा है.(२) यह कामशास्त्रकी दृष्टिसे कहा गया.

इस विषयको इस प्रकारसे समझना चाहिये कि मर्यादामार्गीय मतसे पुष्टिमार्गीय मत पृथक् है, इसलिए यह मतान्तर है. समाधिभाषामें व्यासजीने दो प्रकारका दर्शन किया है, ''अनर्थोपशमं, साक्षाद्भक्तियोगं'', जिसका अर्थ है कि अनर्थका उपशम न करनेवाला भक्तियोग, साधनरूप होनेसे मर्यादामार्गीय है. साक्षात् 'भक्तियोग' पदसे फलरूप भक्तियोग कहा है जो पुष्टिमार्गीय है और जो इस तत्त्वको नहीं जानते हैं वा इसके अधिकारी नहीं हैं, उनकेलिए पहला साधन

भक्तिमार्ग है और ''समाधौ दृष्ट्वा स्वयं विद्वान्'' समाधिमें देखकर स्वयं जानकर जो फ़लरूप कहा है वह व्रजसीमन्तिनियोंमें फलित हुआ है, यह पुष्टिमार्गीय ही मतान्तररूप कहा है. वैसे अधिकारियोंमें ज्ञानका कथन भी वैसा ही है. कामशास्त्रके अनुसार ही भगवान्ने पहले स्वरूपानन्दका दान दिया है, इसलिये अब भी वही प्रकार कहा जाता है. अत: कोई विरोध नहीं है और वैसे तो यह समाधिभाषा ही है और यहां समाधिभाषा तथा भक्तिमार्ग दोनों हैं. जिससे यों कहनेमें किसी प्रकार विरोध नहीं है.

टिप्पणी.३: श्री प्रभुचरण टिप्पणीमें आज्ञा करते हैं कि–'काल द्वारा हि' इससे कालका दूतपन कहते हैं–शास्त्रमें जिस जिस कालमें जो जो भगवत्पूजा ध्यान स्तुति आदि करनेकी आज्ञा है उस कालमें ही वह करनेसे वह काल करनेवालेको भगवान्के पास पहुंचानेवाला होता है. सारांश यह है कि करनेके योग्य काल न हो और अकालमें ही भगवत्पूजा आदिकी जावे तो वह व्यर्थ है, क्योंकि फल प्राप्ति नहीं होगी.

आप भगवदीय हैं, यदि भगवान् यों मानतें तो फिर आपका अस्वीकार कैसे करेंगे? अथवा ना कैसे दे सकती हैं? इस शङ्काके उत्तरमें कहती हैं कि 'वह तु मधुपति' काल पक्षके सङ्ग्रहणार्थ कहती है कि 'मधुपतिः' संवत्सर काल वसन्तका सम्बन्धी है. अतः भले वह वहांकी मानवालियोंके प्रसादको वहन करे, वे मानका त्यागकर सन्तोषको पाकर कालको प्रसन्न करती है जिस कारणसे वर्णन करनेमें वसन्तके सम्बन्धसे वे महत्वको प्राप्त करती हैं. हम इससे प्रसन्न नहीं होती हैं. शरद् ऋतुमें ही भगवान्की कृपा होनेसे दो 'ग्रीष्म तथा वर्षा'का निषेध किया है. वसन्त तथा शरदमें उसकी प्रशंसा है, क्योंकि वसन्तमें भगवान्ने कालका उत्कर्ष किया है. शरद्में सर्वथा उत्कर्ष है. वसन्तमें यज्ञ, अग्निओं तथा संस्कार होते हैं. सौतिनने प्रसादरूपमें अपना कुचकुङ्कुम भगवान्को दिया है जो स्वामी होकर दासियोंकी प्रसादी लेते हैं. उनकी यादवोंकी सभामें निन्दा होती है. दूसरेका भोगा हुआ पदार्थ अन्य ग्रहण करे तो निन्दा जैसा कार्य है, किन्तु वह भोगा हुआ पदार्थ देवताके सिवाय दूसरेका भोगा हुआ हो तो निन्दनीय है. देवकी प्रसादी लेनेमें किसी प्रकारकी निन्दा नहीं है, तो भगवान्ने दासियोंकी प्रसादी कैसे ली? वे तो महान् हैं, महान्की तो विशेष निन्दा होती है? इसके उत्तरमें कहती हैं कि वे 'मधुपति' हैं अर्थात् मथुराके पति(राजा) हैं अथवा ईर्ष्यासे कहती हैं कि वे

इच्छामें आवे उतना मद्यपान करते हैं, अतः देशकी नीतिके कारण अथवा वस्तु स्वभावके कारण उनका स्वभाव ही वैसा है. जिससे दासियोंको प्रसादी ले ली है. वैसे भगवान्का प्रसाद इसने ग्रहण किया है, अतः यह भी आदरके योग्य नहीं है. इस प्रकार कहनेका भीतरी भावार्थ यह है आप यहां आकर गुप्त प्रकारसे भोग करो, हम मथुरा तो नहीं आवेंगी, क्योंकि वहां आनेपर यादव हमारी हंसी करेंगे. वहां कृष्णको यादव होनेके नाते यादवोंकी सभामें अवश्य जाना पड़ेगा. जातिवालोंकी मजाक दुःखसे सही जाती है.

यदि हमको इस प्रकार भी मथुरा ले जाया जावे जैसे यादवोंको मालूम न पड़े तो भी दूसरेसे किये हुए सम्बन्धसे जो निन्दा होगी, वह असह्य होती है. अतः हम तो यहां ही भोग होना चाहती हैं. वहां रहकर इस प्रकारका प्रसाद वह आपका(स्वामी) भले लेवें हमको उसकी गरज नहीं है. हम वहां जायें तो भी हमको प्रसादमें कुङ्कुम ही प्राप्त होगा. वह हमको नहीं चाहिये. इत्यादि कारणोंसे गोपी निषेध करती हैं और दिखाती हैं कि भगवान्के प्रशस्त धर्म ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्य धर्म अग्राह्य हैं, अतः उनकेलिये कहा है कि वे तिरस्कार करनेके योग्य हैं.

गोपी कहती हैं कि यदि उद्धवजी यों कह दें कि आपको क्या पता है कि भगवान् आपको कुङ्कुम देंगे, इसका प्रमाण क्या है? अथवा यों हो जावे कि आपके पहुंचनेपर उनका त्याग कर देवें. इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'यस्य दूतः त्वम् ईदृक्' जिसका दूत तू भी वैसा ही है, उसका सम्बन्धी तू उसका बहुत प्यारा है. आप प्यारेको जब वह कुङ्कुम ही देते हैं तो हमको भी वही देंगे. यदि इस प्रकार न होवे तो आपकी मूंछें पीली कर आपको यहां न भेजते, अतः इसको जतानेकेलिये ही आपको वैसा बनाके भेजा है. इससे गोपीने यह सर्व भाव समझ लिया है. गोपी अपने बुलानेका गुप्त कारण जो उसने समझा है वह स्पष्ट कहती है. गाढ सुरतमें वायुकी आवश्यकता होती है. मथुरा बड़ा नगर है अतः घरमें वायु आनेके मार्ग बन्द रहते हैं, इसलिये उस समय पंखेके चलानेकेलिये प्रभुको मनुष्यकी आवश्यकता है, जिसकेलिये हमको बुला रहे हैं. वहां पुरुष तो रह नहीं सकता है, हम पूर्व ही भोगी हुई हैं इसलिये हमको उनकी दासी बनाकर पंखा करानेकेलिये बुला रहे हैं. यो बनना सर्व प्रकार अशक्य है; इससे भ्रमर तथा उद्धवके पक्षमें निषेध करना योग्य ही है.

वसन्त ऋतु कृत उत्सव धर्मरूप है. यादवोंकी सभामें वह विडम्बनाके योग्य है, क्योंकि वे सर्व लौकिक प्रधान हैं. अनुकरण मात्रसे ही धर्म करेंगे, अतः कालकृत धर्म भगवत्कृत धर्मसे हीन है. इसमें प्रमाण क्या है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि मुख्य काल और भगवान्का सम्बन्धी तू दूत दोनों वैसे कलि स्वरूप श्याम हैं. उत्कृष्ट धर्मका आधार श्याम नहीं होता है, अतः हमारेलिये तीन ऋतुओंका निषेध योग्य ही है. पुष्टिमार्गमें दक्षिणायन ही श्रेष्ठ गिना गया है. कारण कि दक्षिणायनमें रात्रि बड़ी होती है और दिन छोटा होता है. उत्तरायणकी ऋतुओंका अङ्गीकार न करनेमें यह हेतु है ।।१२।।

आभासार्थ: तुम इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक भगवान्पर कैसे दोषारोपण करती हो? तथा हमपर भी? जिसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें 'सकृदधर सुधां' श्लोक कहती हैं.

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ।।१३।।

श्लोकार्थ: जैसा तू है वैसा तेरा स्वामी भी है; क्योंकि तू पुष्पोंका रस लेकर अनन्तर उनको छोड़ देता है, वैसे ही श्रीकृष्णने भी मोहित करनेवाला अपना अधरामृत एक बार पिलाकर हमें छोड़ दिया है. अतः दोनों समान हो, अरे! तब लक्ष्मीजी उनके चरणकमलकी सेवा कैसे करती हैं? इस शंकाका उत्तर देती हैं कि नारद आदिके द्वाराकी हुई भगवान्की झूठी बड़ाई सुननेसे लक्ष्मीजीका मन लग गया है, अतः सेवा कर रही हैं ।।१३ ।।

व्याख्यार्थ: जो जिससे ठगा जाता है वह उसकी निन्दा करता है. भगवान्ने तो सब प्रकारसे हमको ठगा है. वह ठगना बताती हैं, अधर सुधाको पिलाकर छोड़ गये. अधर(नीचेके होठ)की सुधा उच्छिष्ट होती है, जिसके पीनेसे हम जातिसे निकाली गई हैं. क्यों पी? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि वह मोहित करनेवाली सुधा होनेसे हमने पी है तब भगवान्का आपके ऊपर उपकार ही हुवा, क्योंकि जो केवल साधारण जल पिला दे और फिर चला जावे तो उसकी भी निन्दा नहीं की जाती है तो जो 'सुधा' पिलावे, उसकी निन्दा तो करनी ही नहीं चाहिये, उसका तो उपकार मानना चाहिये. फिर उस सुधाकी स्थिति लोभात्मक

अधरमें, वैसे स्थानमें स्थित सुधा आपको पिलाई है, तो आपका कहना ठीक है, किन्तु वह तो मद करनेवाली मोहिका है. यदि कोई लुटेरा नशा पैदा करनेवाली वस्तु जैसे लड्डू आदि खिलाता है तो वह उसका उपकार नहीं है और न उसको दानका फल मिलता है क्योंकि वह तो नशेवाली वस्तु खिलाकर अनन्तर लूट लेता है. इस प्रकार तुम्हारे मित्रने भी मादक सुधा पिलाकर हमारा सर्वस्व लूट लिया है; इसलिये वैसेकी निन्दाके सिवाय अन्य कोई सेवा नहीं होती है. यदि उनका दूत कहे कि निन्दा क्यों करती हो? दूसरे किसीसे उस मदके उतारनेकी क्रिया करवाओ, तो उसके उत्तरमें कहती है कि यह सुधा उनकी अपनी ही होनेसे साधारण नहीं है हजार उपाय करनेपर भी उसका नशा उतरनेवाला नहीं है. आपको तो नशेका कुछ फल नहीं मिला है, क्योंकि आप तो वैसीकी वैसी ही हो. जैसे पहले थी और उत्तम रसका पान भी कर लिया. इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'सकृदेव' एक ही बार पिलाई है, यदि बहुत बार पिलावे तो वह भी अन्तमें जाकर सुख देवे किन्तु तुम्हारे मित्रने तो एक बार पिलाई फिर भाग गये. वैसे भ्रमर मकरन्द ले पुष्पोंको छोड़ भाग जाता है. वे मर्दित पुष्प किसी कार्यकेलिये उपयोगी नहीं रहते हैं. भगवान्ने भी हमारी दशा वैसी ही कर दी है. इसलिये अब हममें धैर्य विवेक आदि कुछ नहीं रहा है. जिसकेलिये हमने अपना सब त्याग दिया वह हमारा सर्वस्व नाशकर अन्तमें हमें भी छोड़ गये. जब वह जा रहे थे, तब उनको क्यों नहीं पकड़ रखा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'सद्यस्तत्यजे' एकदमसे छोड़ गये, क्योंकि तुम्हारे समान है. हे भ्रमर तू भी रस चूस पुष्पोंको निरस बनाकर चला जाता है, वैसे ही तेरा मित्र भगवान् भी, किन्तु तुम्हारे मित्रमें यह विशेषता है. जो भ्रमर रस चूस जाता है जिससे पुष्पोंको पुनः रसकी प्राप्ति होती है, हमको तो रस पिलाकर चले गये, जिससे फिर रस प्राप्त ही न होवे. यह भ्रमर और भगवान्में विषमता है. वैसी अवस्थामें समाधान कैसे होगा? हमको तो भगवान् दोनों तरफसे भ्रष्ट कर गये हैं, कैसे? इसके उत्तरमें कहती हैं कि सुधा पिलाकर अपनेमें आसक्ति उत्पन्न की. अधरका सम्बन्ध कराके लोक लाज छुड़ाई, मोहसे विवेक आदिका अभाव कर दिया, जिससे ज्ञान और भक्ति तिरोहित हो गये. शेष आपका जो आश्रय रहा था, वह भी त्यागकर नष्ट कर दिया. अतः पति सेवासे पूर्व सिद्ध ये स्वर्ग आदि लोक तथा भगवान् भी न मिले; इसलिये हम जो उपालम्भ दे रही हैं. वह योग्य ही है यदि आप कहो कि तुम भगवान्की ही हो गई

हो, भगवदीय होना ही परम पुरुषार्थ है; तो फिर लोक किसका? यदि हमको भगवान्ने अपनी समझी होती तो त्यागकर नहीं जाते. भगवान् भगवदीयोंका त्याग कभी नहीं करते हैं. यदि उसको छोड़ा तो निश्चय है कि भगवदीय नहीं हैं और उनसे सम्बन्ध भी नहीं होता है. मोहके कारण केवल हमारी दृष्टि उनके पास गई है.[१] भगवान्ने मोह किसलिये उत्पन्न किया? यदि कहो कि अपने स्वार्थकेलिये तो वह सत्य नहीं है. कारण कि जो भगवान्का अपना स्वार्थ होता तो वे आपका त्याग न करते. यदि उनके गोपियोंकेलिये, तो वह भी नहीं है, क्योंकि संसारसे निवृत्ति होनेपर भी मिलनेका लाभ नहीं. यदि प्रभु न मिले तो दुःख होगा ही. दोषके अभावपर दुःखकी निवृत्ति होती है. यदि वह निवृत्ति न हुई तो समझना चाहिये कि दोषका अभाव नहीं हुआ है. इस कारणसे मोह कहना अयोग्य है. इसके उत्तरमें कहती हैं कि आपका यह कहना तब सत्य हो जबकि हम गोपियोंका मन उनमें आसक्त न होवे, इसकी पुष्टिमें कहती हैं कि यदि हमारा मन आसक्त न होवे तो हम घर चली जावें और प्रपञ्चमें निष्ठावाली होकर रहें; वह नहीं हो सका है. जिसका कारण है कि प्रभुने हमारा निरोध कर रखा है. हम चली जावें, तो निरोध व्यर्थ हो जावेगा. वह व्यर्थ न होवे अतः प्रपञ्च निवृत्तिकेलिये ही आसक्तिकी है. इस तात्पर्यके अज्ञानसे एवं दुःखके न मिटनेका दोष रहा हुआ है. वह आगे स्मरणसे मिटानेके योग्य है, इसलिये ही भगवान्ने यह उद्यम किया है.

१.लेखकार इस पङ्क्तिका आशय स्पष्ट करते हैं भगवदीयत्व तब है जब भगवत्सम्बन्ध होवे यहां सम्बन्ध तो होता ही नहीं है. क्यों नहीं होता है? जिसमें कारण बताती हैं कि सम्बन्ध दृष्टिके द्वारा होता है. हमारी दृष्टि मोहके कारण भगवान्के पास गई है; जो वहांसे लौटकर नहीं आई है. अतः दृष्टिके अभावसे दूसरा कोई दीखता नहीं है. तो अब सम्बन्ध कैसे होगा? यहां दृष्टिसे सर्व इन्द्रियां समझनी चाहिये.

यदि तुम कहो कि भगवान् तो वैसे ही हैं. लोकमें सब एक प्रकारके नहीं होते हैं, इसलिये उपालम्भ नहीं देना चाहिये. इसपर कहती हैं कि सर्व स्त्रियोंकी मूल भूत स्त्री लक्ष्मीजी चतुर हैं. वह भगवान्को वैसा समझ भी सेवती है? यदि वह भी इस प्रकार(जैसे हम ठगी गई हैं) ठगी गई हैं, तो भी किसी उपायसे भी वह फिर भी सेवा कर रही हैं. वैसे उपायका हमको भी ज्ञान हो जावे तो हम भी वैसी सेवा करें? यह कहना प्रश्नके रूपमें है, अथवा वह 'पद्मा' है जिसका अर्थ है कि पादमें रहती है, इसलिये भगवान्के चरणोंको कमल कहा है, लक्ष्मी चरणरूप

होकर रहती है, जिससे 'कमला' भी कही जाती है, इससे उसकी किसी प्रकारकी क्षति नहीं है. गोपिकाओंका भी कृष्ण सम्बन्धिकी, वृन्दावन भूमि तथा चरणसे सदा सम्बन्ध होवे तो वे भी लक्ष्मीके समान बन जावे अर्थात् वैसे ही चरणोंकी सेवा करती रहें. वैसा होनेकेलिये अन्य कोई प्रकार नहीं है, जैसा कि कहा है, देवकी सुतके पदाम्बुजमें लक्ष्मीत्व प्राप्त करनेपर यों होता है, अर्थात् अति विगाढ भावसे चरणात्मक होनेपर ही लक्ष्मी हुई, जैसे कि कहा है ''पुनश्च पद्मा सभूता'' नारायणके सौम्य रूपोंमें 'आदित्य' रूप उग्र है तथा उसका भ्रमण करनेका स्वभाव है, ऐसे रूपकी सेवा कैसे करती होगी? यह प्रश्न है अथवा उपालम्भ है, यह अवतार भी वैसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसको भी एक स्थानपर स्थिति नहीं है. लक्ष्मीका तो अवतार हुआ ही नहीं है? इस शङ्काके मिटानेकेलिये 'नु' अव्यय वितर्क(आनुमानिक विचार)में दिया है, वह तो भगवान्के बिना एक क्षण भी रहनेमें असमर्थ है, जिसमें 'पद्मा' नाम ही प्रमाण है. श्लोकमें 'परिचरति' वर्तमान कालकी क्रियासे समझा जाता है कि इस समय भी 'सेवा' कर रही है. भगवान् तो सदैव उदासीन ही हैं जिसमें कोई वाद नहीं है, तब यहां कौनसी उपपत्ति हो सकती है? वहां कहा जाता है कि यद्यपि यहां प्रमाणका बाध है तो भी कुछ प्रमाण मिलनेकी सम्भावना है, जैसे कि ''उत्तमश्लोकजल्पैः हृतचेताः''से कीर्तिमान् नारद आदि भक्तोंके स्वपक्षकी स्थापना और पर पक्षका निराकरण करनेवाली कथाऐं हैं जिनसे भगवान्के गुणानुवादकी महिमा स्थापित होती है. जिनसे लक्ष्मी भगवदासक्त होकर सेवा कर रही हैं. सामनेवालेको जो कार्य पसन्द न भी हो, किन्तु युक्ति पूर्वक यदि सिद्ध किया जाये तो उसको वह भी मान लेता है. वैसी दशामें लक्ष्मीके पक्षमें क्यों युक्ति नहीं दी जाती है? जिसके उत्तरमें कहा गया है कि लक्ष्मीसे भी भक्तोंकी कीर्ति विशेष है, अतः लोकमें प्रतिष्ठित होनेसे भक्तोंकी ही जय है, लक्ष्मीकी नहीं है; बहुत करके यों ही होगा ।।१३।।

आभासार्थः इस प्रकार भ्रमरको पादोंके स्पर्शका तथा अपने और आनेका निषेध किया अर्थात् इस तरफ न आकर दूसरी जगहोंमें भ्रमणकर. अब उसको कहती है कि अपना यह आलाप भी मत कर, जिसका वर्णन 'किमिह बहु षडङ्घ्रे' इस श्लोकमें किया है:

किमिह बहु षड्ङ्घ्रे गायसि त्वं यदूनाम्
अधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ।।१४।।

श्लोकार्थः हे भ्रमर! हमारे सामने लगातार यदुपतिके पुरातन गान क्यों कर रहे हो? हमने तो घरबार भी छोड़ दिया है, अतः श्रीकृष्णकी जो नवीन सखियां हैं; उसके आगे जाकर श्रीकृष्णके प्रसङ्गका गान करो, जिनका काम ज्वर भगवान् शान्त कर रहे हैं; वे सखियां जो आप चाहोगे, वही देंगी ।।१४ ।।

व्याख्यार्थः इस प्रकार सखी, जो भ्रमरको बोलनेका निषेध करती है, इससे उद्धवजीको भी कह रही है कि आपको जो भी आगे बोलना है वह मत बोलिये और काल गत सर्व प्रमाणोंका भी निषेध करती है, कारण कि कालगत प्रमाणोंके वर्णनसे भगवान्में जो धर्म(गुण) हैं वे आते नहीं और दोष मिटा नहीं सकते हैं, अतः काल, भ्रमर और उद्धवको साधारण रीतिसे निषेध कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि आपका कहना व्यर्थ है. हे भ्रमर हमारे समीप क्यों गा रहे हो? यदि तुम कहो कि मैं अन्यत्र जा नहीं सकता हूं तो वह कहना सरासर झूठ है, क्योंकि दो पादवाले भी दूर-दूर जा सकते हैं तो तुम तो छः पाद धारण करते हो, यदि कहो कि मेरा स्वभाव ही गानेका है अतः सर्वदा गान ही करता रहता हूं, इसपर कहती हैं कि इतना बहुत क्यों कह रहे हो? गानेकेलिये अन्य कोई स्थान नहीं है क्या? जहां जाकर गान करो, अन्य स्थानपर गान करनेका मनमें कभी विचार भी नहीं होता है क्या? जिससे यहां ही बहुत कैसे गान कर रहे हो? जिसका उत्तर भ्रमर देता है कि कृष्ण आपका स्वामी है, इसलिये आपके समीप गान करता हूं कारण कि यों करना ही उचित है, इसके उत्तरमें कहती हैं कि कृष्ण तो अब यादवोंके अधिपति हैं, हमारे नहीं हैं, अतः यादवोंके आगे जाकर गान करना युक्त है. भ्रमर कहता है कि दूसरोंके अधिपति नहीं हैं, भगवान् तो सर्वके ईश्वर हैं, अतः यादवोंका होनेसे दूषित नहीं होते हैं, इसलिये सर्वके उपकार केलिये और अपने स्वार्थकेलिये सर्वत्र ही गान करना योग्य है. यों कहते हो, तो हमारा कहना है कि गायन भी योग्य स्थान और व्यक्ति देखकर करना चाहिये. हमारेमें तो योग्यता कुछ नहीं है, क्योंकि हम तो बिना घरवाली हैं. हमारे घर छूट गये हैं. मार्गमें बैठी हैं, न कोई हमारा अपना घर है और न कोई भगवान्का घर है जहां हम बैठ सकें, वैसीके आगे गान करनेसे कौनसा लाभ होगा? जो गृहस्थ हैं वे ही कुछ दे सकते हैं. तू एक नहीं देगी, दूसरी तो देगी. इसके उत्तरमें कहती है कि हम सब एक समान हैं. यदि आप धन आदिसे उपकार न करोगी

तो चिन्ता नहीं है, धर्म तो होगा ही. तुमको अपूर्वके दर्शनसे सन्तोष होगा तो आप धन आदि न देकर आशीर्वाद तो दोगी; जिससे ही मेरी कृतार्थता हो जावेगी, तब गानका निषेध क्यों करती हो? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि तू जो गाता है वह कोई नवीन नहीं है, वैसा तो भगवान्का गुणगान बहुत बार सुना हुआ है. क्या कह रही हैं? भगवान्के गुणगानके श्रवणसे तो कोई भी ऊबता नहीं है. तुम गोपियां कैसे उकता गई हो और विरक्त हुई हो? तुम्हारा कहना सत्य है, किन्तु हम तो पहले सुनकर इस दशाको प्राप्त हुई हैं, इससे अधिक फल नहीं देखती हैं, यदि फिर सुनेगी तो स्वरूपसे भी हाथ धो बैठेंगी, जिससे उसकी अपेक्षा न सुनना ही श्रेष्ठ है. स्वरूप होगा तो कभी न कभी भगवान् मिल जावेंगे. यदि संसारमें पतन होनेके भयकी सम्भावना हो तो वह पुरातन होनेसे ही सुलभ है. तब ही गान हो अब तो गानका कोई उपयोग नहीं है. यदि कहो कि हम तो गायक ही हैं, भगवान् स्त्रीप्रिय हैं. जैसी स्त्रियां रसिक हैं, वैसे पुरुष रसिक नहीं हैं, अतः स्त्रियोंके आगे गान करना आवश्यक है. इसलिये अन्य कोई गति न होनेसे हम गान करते हैं. गोपी कहती हैं कि इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि भगवान्ने जिन अपनी सखियोंको अपने तुल्य बताया है वे स्त्रियां सुखी तथा परमानन्द युक्त हैं. जिनने अर्जुनकी भांति अलक्ष्य मत्स्यादि भी वेधकर इच्छानुकूल लक्ष्मणा आदिसे विवाह किया है, उन(भगवान्)की सर्वत्र विविध प्रकारसे जीत हुई है. जीत होनेपर खूब लूटमें अनेक स्त्रियोंको ले आते हैं. अर्जुन सखा है उससे भी दी जाती हैं, जैसे सखा अर्जुन वैसे ही आप हैं. अर्जुन सखा है, आप कालरूप हैं, इसलिये सब मारकत्व आपमें है, जिनको मारा है उनकी स्त्रियां विलाप करती हैं. तब मित्र बनकर उनका दुःख मिटाते हैं, वे जिनके भर्ता नहीं हैं वे अब भोगनिरपेक्ष अर्थात् उनको भोगकी इच्छा नहीं है. जिससे वे अभोगी होनेसे भगवद्गुणानुवादरूप कथाको सुननेमें अधिकारिणियें हैं, हम अधिकारिणीयां नहीं हैं, क्योंकि हमको अब भी भोगकी अपेक्षा है.

इस प्रकार कहनेका भाव यह है कि गोपीने भ्रमरको यह प्रकटकर बताया कि वहां गान करोगे तो वे तुझे मारेंगी. जिस प्रकार कंसकी 'अस्ति' 'प्राप्ति' स्त्रियोंके पास कोई भगवान्के गुण गान करने बैठे तो वे जैसे मारने लग जाये वैसे अन्य भी अर्जुनके मित्रके मित्र जो सर्वत्र जप करते हैं उसको ही मानते वा मान देते हैं, अन्यको नहीं देते हैं. हम तो एक भगवान्में ही निष्ठावाली हैं, इसलिये मन बहलावकेलिये भी यहां गानकी आवश्यकता नहीं है. युद्ध करनेसे जो हस्त

कठिन हुए हैं, उन हस्तोंसे कुचोंके मर्दन होनेपर जिनकी पीड़ा नाश हुई है तथा भार भी कम हो गया है, जिससे जो सुखी होके बैठी हैं, प्रसन्न हुई वे गान करनेपर जैसी तुम्हारी इच्छा होगी वैसा पारितोषिक तुझे दे देंगी, जिसका पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ है वैसा कोई भी दूसरेका इच्छित मनोरथ पूर्ण नहीं करता है. अतः उद्धवको भी उनके पास जाकर भगवद्गुणोंका वर्णनकर दूतका कर्तव्य पालन करना चाहिये, न कि हमारे पास करना चाहिये. कारण कि जिसका अनुभव हो गया है उसकेलिये कोई भी वचनसे, दूसरे प्रकार कहे तो माना नहीं जाता है, क्योंकि अनुभवसे वचन दुर्बल होता है. कालके पक्षमें भी संवत्सर भ्रमर है, क्योंकि उसके भी छः ऋतु छः पाद हैं, वह भी ऋतुके भेदसे कोयल('कोयल'से-मयूर, क्रौञ्च, हंस आदि भी समझने-प्रकाश) आदिके शब्दोंसे और वेदोंसे भगवान्का स्मरण कराता है. वे शब्द भगवान्से ऐक्यको प्राप्त ज्ञानियोंको, धर्म परायणको, उदासियोंको अथवा भगवान्से मिले हुए भक्तोंको सुख देनेवाले हैं, न कि हमारे समान सर्वत्र आसक्ति रहित. केवल धर्मीकी ही चाहनावाली, काल आदिसे निरपेक्ष दुःखिनियोंको उन शब्दोंसे सुख मिलता है. जब पूर्वकी अवस्था प्राप्त होगी, तब ये शब्द सुलभ भी होंगे, उस समय सुनेंगी. इस समय श्रवणसे सर्वथा कोई प्रयोजन नहीं है ।।१४।।

आभासार्थ: वे तुमको छोड़ गए हैं तो उनको प्रार्थना करो. प्रार्थना करनी व्यर्थ है, क्योंकि उनको स्त्रियोंकी प्राप्ति सुलभ है, जिसका वर्णन 'दिवि भुवि' श्लोकमें करती है:

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयंका
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ।।१५।।

श्लोकार्थ: स्वर्ग, पृथ्वी तथा पातालमें वे कौनसी स्त्रियां हैं, जो इनको न मिल सके; क्योंकि जिनका सुन्दर हास्य और भ्रू विलास कपटसे भरा है अर्थात् छलनेवाला है और जिसके चरणोंके रजकी उपासना लक्ष्मीजी कर रही हैं, तो उसके आगे हम क्या(वस्तु) हैं? तो भी आप उत्तमश्लोक होनेसे कृपणों(दीनों)पर दया करते ही हैं, अतः हमपर दया करेंगे, वैसी आशा है ।।१५ ।।

व्याख्यार्थ: तीन लोकमें जो भी स्त्रियां हैं उनको भगवान्की प्राप्ति तो

दुर्लभ है, किन्तु भगवान् उनको मिलें जिसमें कुछ भी कठिनाई नहीं हैं. तीन लोकमें स्त्रियां तीन प्रकारकी हैं, वे भगवान्को तो सुलभ ही हैं, जिसका कारण कहती हैं. श्लोकमें 'च' शब्द आया है जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्डसे बाहर भी जो स्त्रियां हैं वे भी सुलभ हैं. स्त्रियोंको तो रमणकी अपेक्षा रहती है. देवोंकी स्त्रियां अनेक प्रकारसे विलास पूर्वक रमण करती हैं. पृथ्वीकी स्त्रियां नियत पुरुषके साथ नियमसे रमण करती हैं. पृथ्वीकी स्त्रियोंमें कदाचित् कभी कोई स्त्री विलाससे रमण चाहती है, किन्तु उन दोनोंमें निरोध तो तुल्य ही है, बिलकुल गुप्त रीतिसे रमण नीचे पातालादि लोकोंकी स्त्रियोंमें है. भगवान्में ऊपर कहे हुए श्लोकानुसार त्रैविध्य भी हैं. प्राकट्य विलासरूप 'मधुपकितव' श्लोकमें कहा है. विरुद्धतासे 'सकृद् अधरसुधां' श्लोकमें कहा है, जैसा कि अति प्रयाससे तथा अति गुप्त रीतिसे सुभद्राहरणके समान विजय सखापनसे जो रमण कहा है वह गुप्तरूपसे रमणका निरूपण है. जिस धर्मसे स्त्रियां सुतरां वश हो जाती हैं, वह धर्म भगवान्में विद्यमान है. उस धर्मको कहती हैं, जिसका हास कपटवाला है, जिससे तिरछी दृष्टिकर रतिकेलिये स्थानकी सूचना देते हैं, जो स्त्रियां धर्मवाली हैं, वे उस धर्मके अधीन हो जाती हैं. रमण प्रसङ्ग प्रकट न होवे, वैसे गुप्त रखनेमें भी समर्थ हैं, जैसे ही रमण करनेवालियोंका मन प्रसन्न हो जावे, वैसे रमण करते हुए सर्व प्रकारकी सामग्री सिद्धकर जब बुलाते हैं तब उनको कोई भी स्त्री दुर्लभ नहीं है. अत एव कही हुई नीतिका एक श्लोक है ''स्थानं नास्तिक्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते'' अर्थ एकान्त स्थान नहीं है, समय नहीं है, प्रार्थना करनेवाला अर्थात् चाहनेवाला पुरुष नहीं है, हे नारद जब ये तीन नहीं है तब स्त्रियोंका सतीत्व रह जाता है. यदि ये कर्म हो जावें तो प्रार्थना व्यर्थ है, यदि ये नहीं हो सकते हैं तो प्रार्थना करनी व्यर्थ है, अतः दोनों प्रकार प्रार्थना नहीं करनी चाहिये. इतना जो कहा है वह तो लौकिक दृष्ट उपायसे कहा है. अलौकिक उपायमें तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है; जिसका वर्णन 'चरणरज उपास्ते' पङ्क्तसे करती है जिनको पदार्थकी इच्छा है, वे जिसकी सेवा करते हैं, वह विभूति स्वरूप लक्ष्मी, स्वतः सामर्थ्य सेवा वस्तुके माहात्म्यसे चरण रजकी सेवा कर रही है, वह अतिशय आदरसे दासीपनकी प्रार्थना करती है, इस प्रकारके स्वार्थमें उसके(लक्ष्मीजी) कोट्यंशरूप हम कौन हैं? इस कारणसे तुमको हमारे यहां कुछ भी वैसी प्रार्थना न करनी चाहिये, विशेषमें कहती हैं कि यह भी जो हम कह रही हैं, वह कहना

विचारसे है, किन्तु वास्तविक रीतिसे तो भगवद् विषयमें विचार भी नहीं करना चाहिये, जिसको कहती हैं कि भगवान् उत्तमश्लोक हैं. कारण कि वह कृपणोंका पक्षपाती है, जिससे वे दीन सर्वत्र उनका गुणगान करते हैं, इसलिये भगवान् सर्वत्र 'उत्तमश्लोक' नामसे प्रसिद्ध हैं. हम दीन हैं हमारा पक्षपात करेंगे ही, यदि नहीं करेंगे तो उत्तम श्लोक कैसे कहलायेंगे? यह अर्थ योग्य ही है. तब तो भगवान् प्रमाणबलसे, प्रमेयबलसे और लोक प्रसिद्धिसे भी दीनोंपर दया करनेवाले हैं, अतः जैसा ही हमारेलिये योग्य होगा वैसा करेंगे ही, अतः दूतकी कोई अपेक्षा नहीं है, न कोई उनके वचनोंकी आवश्यकता है. निर्गुण गोपीके वा निर्गुण भावको प्राप्त गोपीके ये वचन हैं. इस प्रकार तामसके भेदसे गोपियोंके चार भेद बताये हैं. प्रथम श्लोकमें तामस-तामसी, दूसरेमें तामस-राजसी, तीसरेमें तामस-सात्विकी और चौथेमें निर्गुण. इसके बाद राजस भेदसे वर्णन होगा. पश्चात् सात्विक भेदसे होगा. दोनोंमें तीन-तीन प्रकार समझने चाहिये. रज, तम, सत्व और तम रज सत्वोंका क्रम श्लोकोंसे समझने चाहिये ।।१५।।

आभासार्थ: हमने नहीं जाना था कि आप इतना क्रोध करोगी, अथवा आप उदासीन हो. यदि यों जानता तो दूत बनकर न आता. अब दूत बनकर आ गया हूं तो कुछ न कुछ करना ही चाहिये. अतः प्रार्थनासे भगवान्के साथ आपको सन्धि करनी चाहिए, यों कहकर यदि भ्रमर अथवा उद्धवजी साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे, तो 'विसृज' इस श्लोकसे अपना मन्तव्य उनको बता देती है.

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैः
अनुनयविदुषस्तेभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ।।१६।।

श्लोकार्थ: मेरे मस्तकपर जो बार-बार पैर लगा रहे हो, वह बन्द कर दो. मैं तुम्हारी सब चतुराई जानती हूं. मुकुन्दके दूत बनकर दौत्यपना दिखानेके तथा प्रिय वचन कहकर किसीको कैसे फुसलाना वैसे विद्वान बनकर यहां आए हो, यह मैं समझ गई हूं; किन्तु हमने जिस भगवान्केलिए सन्तान, पति और परलोकके सुखकी इच्छा छोड़ दी है, ऐसी जो हम उनको बिना विचार किए जिसने छोड़ दिया, वैसेके साथ सन्धि कैसे करें? ।।१६ ।।

व्याख्यार्थ: मेरे शिरपर जबर्दस्तीसे जो पैर रखा है वह उठालो. यों करनेमें

किसी प्रकारकी उपपत्ति नहीं है अतः आपका कहना नहीं मान सकती हूं, अतः शिरपर पैर धरनेका वृथा ही आग्रह है. यदि आप कहो कि जैसे तुम कहोगी वैसे ही हम करेंगे, तो फिर निषेध क्यों करती हो. इसके उत्तरमें कहती हैं कि भगवान् इस कार्यको करेंगे, वा नहीं करेंगे, यह सब हम जानती हैं. जिस विषयमें संशय होता है उसका निराकरण वचनोंसे कराया जाता है. हमको तो निश्चय हो गया है कि भगवान् हमारे विचारोंसे विपरीत ही करेंगे. कोई भी मनुष्य स्वामिका कार्य अभिप्रेत न हो और उसको करानेकेलिये जावे तो उसका अवश्य अपमान होगा. इस बातको आपने समझा नहीं और दूत बनकर चले आये इसपर यदि आप कहो कि यों नहीं है हमको तो स्वामिका कार्य अभिप्रेत(समझमें आया) है और तब आये हैं, अतः हमारा निराकरण न करो, सारांश हमारी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान्से सन्धि करो. इसपर कहती हैं कि इस प्रकार चतुराईसे मधुर-मधुर वचनोंसे फुसलानेंमें आप विद्वान् जो कुछ हमें कह रहे हैं, वह आपकी कपोल कल्पित कहानी है. यों भगवान्ने आपको नहीं कहा है, क्योंकि वे मुकुन्द हैं मारेंगे ही, जीतेजी हमको सुख नहीं देंगे. तुम यह कैसे कहते हो कि तुम्हारा अभिप्रेत करूंगा, यह तुम्हारा कहना स्वामिके विरुद्ध है; अतः तुम वञ्चक ही हो. यदि तुम कहो कि मुझे तो उनने कुछ नहीं कहा तो फिर मैंने कहांसे और कैसे सीखा? इसके उत्तरमें गोपी कहती है कि तुम दूसरेको मीठे-मीठे वचन कहकर फुसलाके अपनी बात मनानेमें प्रवीण हो. अतः उत्पत्तिसे तथा उपपत्तिसे तुम्हारा मन शुद्ध नहीं है. अर्थात् तुम कायासे और वाणीसे फुसलानेकेलिये नम्रताका नाटक खेलते हो यह तुम्हारी विद्या मैं जानती हूं.

इस प्रकार क्यों दोषी बनाती हो? अन्तःकरणमें क्या है? यह तो कोई न देख सकता है, न समझ सकता है, क्योंकि अन्तःकरण प्रत्यक्ष नहीं है. काया तथा वाणीकी चेष्टासे ही उसका ज्ञान होता है, अतः क्रोध वश होनेसे आपको जो विपरीत ज्ञान हुआ है, जिससे मेरेमें आपकी दोष बुद्धि उत्पन्न हुई है, न कि मेरेमें दोष है. इसके उत्तरमें गोपी कहती है कि युक्तिसे जिसका बाध है, उसका ज्ञान वेद भी करा सकता है 'घट'को 'पट' कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है और कोई यों मानता भी नहीं, ब्रह्ममें सर्व भाव होनेसे, ब्रह्मभाव, मनुभावमें आ सकता है, किन्तु मनुभाव, ब्रह्मभावमें नहीं आ सकता है. इन दो दृष्टान्तोंसे लेखकारने ब्रह्म और जीवकी शक्तिका रहस्य स्पष्ट किया है. भगवान् ईश्वर(सर्व समर्थ) हैं, हम

गोपियां सर्व समर्थ नहीं हैं. जो हमारा कर्तव्य था वह हमने किया. सर्व समर्थ होते हुए भी उन्होंने कुछ नहीं किया, इस प्रकार पहले जो होना वा करना था वह किया, फिर अब क्या करना है? सो कहिये. हमने उनकेलिये सन्तान छोड़े, पति छोड़े और भर्ता आदि पूज्योंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति छोड़ दी. अन्य लोग तो जब दूसरा आश्रम 'सन्यास' ग्रहण करते हैं, तब छोड़ते हैं, गृहस्थमें रहकर नहीं छोड़ सकते हैं. हमने गृहस्थ होते हुए छोड़ दिये; यह सब भगवान्केलिये ही किया है; क्योंकि हमने समझा कि यदि इनका त्याग हम नहीं करेंगी तो भगवान् हमको स्वीकार नहीं करेंगे तथा कहेंगे कि तुम्हारा दूसरोंसे सम्बन्ध है, अतः हमने सर्व प्रकारसे भगवान्के सिवाय अन्य सर्वसे सम्बन्ध छोड़ दिया है. इतना करनेपर, भगवान् हमारा त्याग करके मथुरा चले गये. यदि आप कहो कि मनुष्य कार्यकेलिये बाहर जाते हैं, वहां कार्यवश विलम्ब भी हो जाता है, इसको त्याग नहीं कहा जाता है. जिसके उत्तरमें कहती है कि कदाचित् कोई बाहर जाता है तो वह अपने मनसे सम्बन्धियोंका त्याग नहीं करता है. मनमें उनको याद करता है, किन्तु भगवान् तो हमको मनसे भी भुलाकर चले गये हैं. जो इस प्रकार गये हैं, उनसे सन्धि कैसेकी जा सकती है? जिससे सन्धि हो सके वह कोई कारण दीखता ही नहीं है. हमने तो जो बाहर, पुत्र और पति आदि हमारे थे, उनको छोड़ा किन्तु भगवान् तो हम जो निरोधसे भगवान्के हृदयमें थीं, उनका एवं अन्तःस्थ स्नेह और भावोंको हृदयसे बाहर फेंककर चले गये, जिससे हम दोनों तरफसे भ्रष्ट हो गईं हैं ।।१६।।

आभासार्थः सन्धि करनेका एक ही उपाय मित्रता है. पहले शरण गई हुई आपको भगवान्ने त्याग दिया, जिसका कारण आपसे कोई दोष हुआ होगा, अतः उस दोषको प्रार्थनासे मिटा लो, फिर उनसे मित्रता कर लो, यदि उद्धव यों कहें तो, उसका उत्तर 'मृगयुरिव' श्लोकमें देती हैं.

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधेऽलुब्धधर्मा,
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य–
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ।।१७।।

श्लोकार्थः जिसने रामावतारमें व्याधकी भांति वानरराज बालीको बींधा था; स्त्रीजित होते हुए भी कामना कर आई हुई शूर्पणखाका नाक काटकर उसको

कुरूप बनाया था, वामन अवतारमें बलि राजासे सर्वस्व लेकर उसको काकके समान बांध लिया था, अतः उस कालेकी मित्रतासे हम अघा गई हैं, तो भी उसके कथा रूप अमृतार्थको छोड़ नहीं सकती हैं ।।१७।।

व्याख्यार्थः ''न वै स्त्रैणानि सख्यानि'' इस श्रुतिके अनुसार स्त्रियां मित्रता करनेकी अधिकारिणी नहीं हैं, वैसे ही ईश्वरसे भी मित्रता नहीं करनी चाहिये. जैसे कि कहा है ''राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा'' किसीने राजाको मित्र देखा वा सुना है? विशेषमें, भगवान्के साथ तो मित्रता हो नहीं सकती है, क्योंकि तीन स्थानोंमें उसका परिणाम अनिष्ट ही देखा गया है. गोपियां आर्ष ज्ञानसे भगवान्के स्वरूपको जानकर आप ही भगवान्की पूर्व अवस्थाकी भावना करती हुई कहती हैं कि रामावतारमें पुरुष तथा स्त्रीसे मित्रता की, उन दोनोंमेंसे एक मरा और दूसरा जीते हुए भी मृतके समान हो गया. सुग्रीवके साथ अग्निको साक्षी कर मित्रताकी उसके ही भ्राता वालीको मारा. भ्राताके साथ मित्रताकी तो उसके भाईके साथ भी मित्रता हो गई और वह वानरोंका राजा था, किस कार्यके कारण उसको मारा यह भी सिद्ध नहीं होता है. यदि वह जीवित होता तो सुग्रीवसे अधिक कार्य कर सकता था; क्योंकि वह वानरोंका राजा था, वानरोंके साथ कोई भी मैत्री नहीं करता है, किन्तु भगवान्नेकी है. जिससे जाना जाता है कि भगवान्को सख्य शास्त्रका ज्ञान नहीं है. आप सर्व प्रकार शक्तिमान् होते हुए भी उसको युद्धकी रीतिसे नहीं मारा, किन्तु जैसे व्याध जङ्गली हरिणको दूसरा हरिण आगे रखकर मारता है, वैसे ही सुग्रीवको आगेवान बनाकर आपने बालीको मारा है, यदि कहो कि इसमें क्या दोष? हरिणादि तो इस प्रकार ही मारे जाते है, इसके उत्तरमें कहती हैं कि भगवान्में व्याध जैसा धर्म नहीं है. व्याध तो मांस खानेकेलिये यों करता है. भगवान्को तो उसका मांस अभक्ष्य था; क्योंकि वानर जाति अभक्ष्य है और आप ईश्वर सर्व समर्थ हैं, अतः वह आपका कुछ भी अपकार भी नहीं कर सकता था, यों होते हुए भी उसको मारा.

और विशेष-कामसे मोहित होकर आपके शरणमें आई हुई शूर्पणखा स्त्रीको, जो सर्वथा मान देने योग्य थी, जिसका नाक काटकर उसको कुरूप कर दी यदि कहो कि जो ऊर्ध्वरेता हैं, उनके पास स्त्री इस इच्छासे जावे कि उनका ब्रह्मचर्य नष्ट करूं, तो वैसा स्त्रीके साथ इस प्रकार(का) व्यवहार करना योग्य ही है. इसके उत्तरमें कहती हैं कि यदि वैसे होते तो यों करना योग्य था, किन्तु आप

तो स्त्रीके अधीन हैं अर्थात् सीताके वशमें हैं. यदि उसके वश न होते तो उसका कहा मानकर सुवर्णके कल्पित हरिणके पीछे नहीं जाते. यह शूर्पणखा ताड़काकी तरह प्रतिबन्ध करनेवाली नहीं थी, किन्तु कामको वाहनकर केवल अपने मनोरथ पूर्तिकेलिये आई थी. यों दो दूषण देखकर, उससे भी पूर्व जन्ममें दोषका विचार करने लगी. परशुराम स्वरूपमें दोष न देखा, किन्तु वामन स्वरूपसे देखा, जिसको कहती है. बलिराजा अत्यन्त दानी होनेसे पूजाके योग्य था, अतः श्रद्धासे उसने वैसी ही पूजाकी है. ब्राह्मण तथा क्षत्रियको सृष्टिके आरम्भमें तुल्यता होनेसे उनकी मित्रता है, तो भी प्रत्येक अपना-अपना कार्य सिद्ध करता है अतः किसी मिषसे बलिसे तीन लोककेलिये, जिसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि कैसे भी अपना लेना ही चाहिये, किन्तु उसने विशेष जो लिया और किया उसको कहती है. बलिसे पूजा ग्रहणकर उसकी आत्मा तक भी निवेदन कराके फिर उसको काकवत् बान्धकर गर्त विशेषमें रखा. जैसे काकको क्षीर आदिमें चोंच डालते देख ले, तो मालिक उसको बान्ध लेता है वैसे ही कपि इन्द्रका अनुकरण करे, तो वह मारने योग्य है. पशु होनेसे किसी मिष द्वारा मारा जाता है. ब्रह्माजीने उनकी मृत्यु इस प्रकार ही लिखी है, मत्स्यकी मृत्यु वृद्धिसे(कांटा बनाकर जिसमें आटा लगाकर मत्स्यको उसमें फंसाया जाता है) ही हो सकती है, 'स्त्री जित' इससे यह दिखाया है कि स्त्रीसे ही स्त्री कुरूपकी गई है, भगवान्ने नहीं की है. इस कारणसे ही जैसे वे अपनी जातिका अतिक्रम नहीं करता है, वैसे हम भी नहीं करेंगी. यदि करें तो स्वधर्मके त्यागसे अनिष्ट होगा, वैसी हीन हो जावें तो उत्तम भावको प्राप्त नहीं हो सकेंगी. ''अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः'' इस वाक्यानुसार यदि पुरुष हीनकी इच्छा करता है तो पतित होता है, जो मर्यादाका उल्लङ्घन करते हैं उनको रक्षा करनेवाले अधिकारी दण्ड देते हैं. जिसमें किसी प्रकारका विवाद नहीं है. 'स्त्रीजित' पदका समास इस प्रकार 'स्त्रियः जिता अनेन' करना चाहिये, जिसका अर्थ होगा इसने स्त्रियोंको जीता है, अतः राम स्त्रीके वश नहीं है. जो जीते वा स्त्रियोंको वश करे, उनका हित करना चाहिये जैसे बलि अपने ही मन्वन्तरमें इन्द्र ही स्वर्गका भोग कर सकता है, दूसरे मन्वन्तरमें नहीं. वैसे ही हम भी नगरमें भगवान्का भोग नहीं कर सकती हैं, हीनसे तथा स्त्रीत्वसे मैत्री करनी योग्य नहीं है, और स्त्री होकर स्त्रीका अतिक्रम कर, वह योग्य नहीं है तथा अन्यका अब अवसर है, अतः काल और मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करना

चाहिये, इससे तुम्हारे कहनेके अनुसार प्रार्थनाकर सख्यत्व करना योग्य नहीं है. विशेषमें कहती हैं कि कालेकी मैत्री करनेसे हम अघा गई हैं. अर्थात् उनकी मैत्रीसे हम बचकर रहें, उसीमें अच्छा है. कपटसे सख्यत्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिसका फल विपरीत होता है, अथवा यहां कृष्ण वर्णको 'असित' शब्द तामस भावसे कहा है. आपने सब छोड़कर भगवान्का आश्रय लिया है, अब उनको छोड़ोगी तो किसका आश्रय करोगी? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि 'दुस्त्यजः' उसका कथारूप अर्थ छोड़ा नहीं जाता है, जिसका आश्रयकर रहूंगी, मन तो कहता है कि उसको भी छोड़ दो, किन्तु उसके त्यागसे प्राण बाधा होती है, अतः वह दुस्त्यज है. वह कथा भी यदि भगवान्की भांति स्वतः छोड़ देगी तो छोड़ने दो, हम तो छोड़ नहीं सकती हैं. यह 'इतरथा' शब्द कहनेका भाव है कि कालसे भी श्रवण आदि भगवद्धर्मका बोध कराया है, वहां सख्य और आत्मनिवेदनका भी बोध कराया जाता है. जैसे ''**सुपर्णावेतौ**''[१], ''**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**'' वेद और यज्ञ कालात्मक[२] नहीं हैं, इसलिये उपनिषद्भाग काल शिरोरूप है. वहां भगवान्का निरूपण नहीं करना चाहिये, यह पुष्टि श्रुतियोंका आशय है. यदि यों नहीं कहा जायेगा तो वह विषय अन्य प्रकारसे सिद्ध होगा[३].

१.'सख्य' आगे दिखाया है 'प्रकाश'

२.दूतरूपसे जो काल कहा है उसके रूप, यज्ञ और वेद नहीं है.
पूर्वकाण्ड प्रवृत्तिरूप होनेसे साक्षात् भगवत्प्राप्ति करानेवाला नहीं है 'प्रकाश'.

३.इतरथा–भक्ति फल देनेके कारणसे उनका मोक्षके प्रति अकारणत्व होगा 'प्रकाश'
इतरथा–उपनिषदसे ही कार्यकी सिद्धि हो जावे तो भगवान्के अवतारका प्रयोजन न रहे 'लेख'.

भक्तिमार्गकी तरह वहां भी भगवान्का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है तो फिर निषेध क्यों करते हो? इसके उत्तरमें कहती हैं कि मैं जानती हूं, आपको जो परमात्मा इच्छित है, वह मोक्ष देनेवाला ही है, उसके अत्यन्त निपुण दूतसे भी मोक्ष ही मिलेगा. प्रसन्न करनेकेलिये ही भक्ति तथा प्रेमकी भांति कहता है.

''**न वा अरे पुत्राणां कामाय**'' ''**यमेवैष वृणुते**'' इन श्रुतियोंमें सख्य और आत्मनिवेदनकी भांति कहा है, किन्तु शास्त्र तो सर्व त्यागका उपदेश देते हैं. जैसे ''आत्मकामः सर्वं परित्यजेत्'' जिसको आत्माकी कामना है, वह सबका त्याग करे; वैसे विरक्त तथा नित्य आत्मानुसन्धान करनेवालेको भी यदि आत्माकी

स्फूर्ति न होवे तो, उसको गुरु अथवा उपनिषद्से क्या लाभ होगा? इस कारणसे सख्यादिक ज्ञान मार्गमें अभिप्रेत ही नहीं है, तो भी वैदिक होगा* ही नहीं, तो पाखण्डी गिने जावेंगे, अतः वेद प्रमाण सर्वत्र विषयमें लेना चाहिये ।।१७।।

*.भक्तिमार्गमें भी 'यमेवैष वृणुते' और 'आत्मा वा अरे' इत्यादि श्रुतियां प्रमाणमें ग्रहणकी गई हैं.

आभासार्थ: तब तो कथा ही करो, भगवान्के दोषोंका वर्णन क्यों करती हो? जो भगवान्के गुणोंमें परायण हैं, वे उनके दोष नहीं कहती हैं. उनको तो गुणोंके सिवाय दूसरी कोई स्फूर्ति ही नहीं होती है. यदि यों कहते हो तो इसपर मेरा यह उत्तर है, जिसका 'यदनुचरित' श्लोकमें वर्णन करती है:

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ।।१८।।

श्लोकार्थ: जिन्होंने व्यास द्वारा भागवतमें वर्णनकी हुई भगवल्लीला रूप अमृतके एक कणका एक बार भी स्वाद लिया है, वे रागद्वेषका तथा दीन कुटुम्बका त्यागकर स्वयं दीन होकर पक्षीकी भांति(हंस-परमहंस बन) भीख(सन्यासी होकर मधुकरीसे निर्वाह करते हैं.) मांगते फिरते हैं ।।१८ ।।

व्याख्यार्थ: जैसे भगवान् हैं, वैसी भगवान्की कथा नहीं है, किन्तु उनसे भी बढ़कर अनर्थ करनेवाली है, जिसकी अधिकता सिद्ध करनेकेलिये कहती हैं कि हम स्त्रियां हैं, विशेष विवेक रहित हैं. भगवान् यहां बहुत काल रहे, जिससे हमको मोहित कर लिया. यों होते हुए भी हम भिक्षा नहीं मांगती हैं. भ्रान्तकी भांति जातिसे भी भ्रष्ट नहीं हुई हैं और न अपना स्थान छोड़ा है. कथा तो थोड़ी भी सुनी जाती है तो महान् अनर्थ कर देती है. जिसका वर्णन करती हैं जिस भगवान्की लीला, जो प्रथम भगवान्ने चरित किया, जिसको व्यासजीने गाया तब वह अनुचरित हुआ. इससे यह कहा कि यद्यपि इसमें शब्दरूप परदा है तो भी वैसा कार्य करता है. जैसे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य वस्त्र आदिका परदा होते हुए भी तपाता ही है, किन्तु यहां उस अनुचरितको सरलता ग्रहण किया जा सके, तदर्थ उसको 'लीला' कहा है. कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ सामने आता है तो समझा जाता है कि यह गरिष्ठ है, कठिनाईसे पचेगा फिर भी लोक रससे मोहित होकर लेते हैं. फिर यहां तो इस लीला

रस पानमें कुछ प्रयत्न करना ही नहीं पड़ता है. कारण कि यह अमृत कर्णसे पान किया जाता है; अतः आंख बन्द होते हुए भी लिया जा सकता है. वैसे अमृतका यदि विशेष पान किया जाये तो न जाने उससे क्या हो जावे? जब कि अमृतकी एक बिन्दु मात्र भी एक बार आदर पूर्वक लेनेसे सर्व रागादि नष्ट हो जाते हैं, जिनके कारण लोक बन्धनमें पड़ा है, राग द्वेषके अभाव होते हुए ही वह बन्धन भी नष्ट हो जाता है. 'नश्' धातुका अर्थ है प्रतीतिका अभाव, अर्थात् कथामृतके कण पानसे रागादि यों चले जाते हैं जैसे उनकी पुनः प्रतीति ही नहीं होती है. लौकिक वैदिक मार्गसे भी उनका पुष्टिमार्गीय धर्मोंमें आग्रह हो जाता है. दूसरोंके समझानेपर भी इन धर्मोंका त्याग नहीं करते हैं और न फिर लौकिक वैदिकमें स्थिति करते हैं. ज्ञानी विरक्त होते हैं और कर्ममार्गी अपने स्वार्थकी अपेक्षा न होते हुए भी अन्यकेलिये अपेक्षा रखते है, किन्तु इन पुष्टिमार्गानुयायियोंमें दोनों नहीं हैं. जिससे(कथामृतके बिन्दुमात्र कर्ण द्वारा अन्तःकरणमें प्रवेश करनेसे.) वे उसी क्षण दीन कुटुम्ब और गृहको छोड़कर स्वयं भी दीन बन, बहुतसे इस जन्ममें ही हंस वा परमहंस हो गये हैं. यहां विहङ्ग पक्ष साधारण पक्षीकेलिये दिया है. यहांसे इन गृहस्थ आश्रमसे गये फिर काक, गीध वा हंस होवे, किन्तु घर त्याग जाते ही हैं, यह जतानेकेलिये यों कहा है. उनकी गति आकाशमें जानेवाले पक्षियोंकी भांति सबसे विलक्षण होती है. वैसोंका मिलन कैसे होगा? इसके उत्तरमें कहा है कि वे चौथे आश्रमवालोंके जैसा आचरण करते हैं. जिससे वे पहचाने जावेंगे, जिसके वे अधिकारी नहीं, जिसके फलकी चाहनावाले भी नहीं सन्यासमार्गसे रहित होते हुए भी उसका(सन्यासाश्रम जैसा) आचरण करते हैं. इस प्रकार स्वधर्मका त्याग कर परधर्म ग्रहण कराता है. उनको और उनके सम्बन्धियोंको दुःखी करता है. अपने सुखका भी बहुत अनुभव नहीं कराता है; अतः कथा भी छोड़ने योग्य ही है, किन्तु छोड़ना कठिन होनेसे छूटती नहीं है. पुष्टिमार्गीय श्रुतियोंका तथा मर्यादामार्गीय श्रुतियोंका परस्पर विशेष विरोध नहीं है, किन्तु दोनों ग्रहण करनेके योग्य हैं, किन्तु वे अभिप्रेत नहीं हैं ।।१८।।

आभासार्थ : निम्न श्लोकमें तीसरा प्रकार सात्विक तामसीका कहा है:

वयमृतमिव जिह्ममव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ।।१९।।

श्लोकार्थः हे उपमन्त्री! जैसे कृष्ण हरिणकी स्त्रियां व्याधके गानको निष्कपट मान, उसके बाणसे घायल हो पीड़ा ही देखती हैं. वैसे ही हमने भी इस कपटी कृष्णके कहनेको सत्य समझकर, उसकी होकर, नख क्षतसे घायल हो, कामदेवकी पीड़ा बढ़ाई, जिसको सब देख रहे हैं. वैसी दशामें वे हमको छोड़ गए, अतः वैसे कपटीकी वार्ता छोड़ दे, अन्य कोई वार्ता कर ।।१९ ।।

व्याख्यार्थः तुमने जितने दोष भगवान्के कहे हैं वे सर्व असङ्गत हैं, क्योंकि उनमें कोई प्रमाण नहीं है. इसपर कहती हैं कि हम भी प्रमाण परायण थीं. भगवान्ने कहा मैं कभी झूठ नहीं बोलता हूं, जिसको प्रमाण मान उसपर विश्वास कर लिया, अनन्तर देखा तो वह असाधारण वाक्य था तथा अधिकारके अभावसे अन्यथा सिद्धिके अभावका निश्चयकर और साधनमें फलका व्यभिचार देखकर एवं किसी वाक्यमें बाधितार्थ भी जानकर उनके कहनेपर विश्वास छोड़ दिया, जैसे कि भगवान्ने पहले कहा कि ''न मयोदितपूर्वं वा अनृतम्'' (मैंने पहले कभी झूठ नहीं बोला है.) इसके पश्चात् ''न पारयेऽहं निरवद्य संयुजाम्''(आपने जो किया उसका बदला मैं कभी नहीं दे सकूंगा) कहा, ये दोनों वाक्य साधन काल तथा फल कालके कपटसे कहे हुए हैं, क्योंकि कहा एक प्रकार(और) किया दूसरी तरह अर्थात् कथनी और करनीमें भेद रहा. हमने भगवान्के अक्षरोंका भावार्थ पूरी तरह नहीं समझा. भगवान्का तो कहनेका अभिप्राय यह था कि प्रथम मैंने झूठ नहीं बोला है, किन्तु अब तुम्हारेलिये झूठ बोलूंगा. तुमने साधुकृत्य किये, हमसे वैसा न होगा. वैसा न जानकर समझा था कि भगवान् हमारे आगे झूठ न कहेंगे और ऋणी कहनेसे हमारा त्याग कभी भी नहीं करेंगे. वास्तवमें ये वचन कपटसे कहे हुए थे, जिनको सत्य समझ हम विश्वास करने लगीं. यदि आप कहो कि अब ऐसी विचार-चतुर दीखती हो तो प्रथम भ्रान्त कैसे बनी? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि हम भी हरिणियोंके समान अरण्यमें रहनेवाली अज्ञ (नासमझ, अज्ञानी) हैं. जैसे हरिणियां हरिणका वेष धारणकर व्याध जब गान करता है, तब वे मुग्ध हो जाती हैं और समझती हैं कि यह हरिण है. हरिणका कार्य भी करेगा, विशेषमें यह गानमें भी चतुर है, जिससे भी सुखकी प्राप्ति होगी. अतः भ्रममें पड़कर प्रथम हरिणका त्यागकर उसके पास चली जाती हैं, क्योंकि वे कृष्ण कालेकी स्त्रियां मूर्ख हैं, भ्रमसे ही अन्य कृष्णसारकी पत्नियां बनीं, वैसे ही हम कृष्णकी पत्नियां बनी हैं. वे हरिणियां दूसरेकी स्त्रियां(यों) नहीं बनीं क्योंकि आकृति समान होनेसे उसको हरिण समझ

स्त्रियां बनीं जैसे हमने क्षत्रिय, ईश्वर और यादव समझ इसको नहीं अपनाया है, किन्तु गोप समझ क्योंकि हम गोपोंकी स्त्रियां हैं यह भी गोप है, हमारा हित करेगा, जिससे यह प्रवृत्ति की है अर्थात् इसको अपना स्वामी बनाया है. ये ईश्वर थे ईश्वर ही रहे, इनका कुछ बिगड़ा नहीं, किन्तु गोपियोंका ही नाश हुआ. यदि आप कह दो कि इस प्रकार नाशकी भावना ही आप क्यों करती हैं? हरिणियोंको तो व्याधने वेधा है तुमको तो कृष्णने वेधा नहीं है. इसका उत्तर देती हुई कहती हैं कि देखलो, अपनी अवस्था अभिनयसे दिखाती हुई हरिणियोंकी उस अवस्थाको कहती हैं कि हरिणियां भी दोनों तरफसे भ्रष्ट हुई हैं. आप ही हरिणियोंकी अवस्था बतानेमें दृष्टान्त हुईं. प्रथम उपक्रममें हरिणियोंकी दशा दिखाई, फिर प्रधानतासे अपनी दशा भी कहती हैं कि नख स्पर्शसे हमको वेधा है. उससे काम भी जागृत हुआ, जिसकी पीड़ा हम सहन कर रही हैं. इन दोनों(नख स्पर्श और काम) की प्रसिद्धि हममें ही है, यह कहना हरिणियोंके बाण और पीड़ाका उपलक्षक नखक्षत्(इन्द्रियोंकी अपेक्षासे कायिक प्रबल है लेख) मिटता नहीं. कटाक्ष(तिरछी नजर) तो भूल भी जाते हैं. अन्य प्रकारकी पीड़ा औषधसे मिटाई जा सकती है किन्तु काम जो स्मरणसे ही उत्पन्न होता है वह किसी भी औषधसे नहीं मिटता है, इसलिये आप ही हरिणियोंकी उपमान बनी हैं. उद्धवजीको उपमन्त्रिन् सम्बोधन देती हैं, जिसका कारण यह है कि मन्त्री पासमें रहता है और नीतिज्ञ होता है, तो उद्धवजी नीतिज्ञ हैं तथा पासमें बैठे हैं. अतः उनको यह सम्बोधन देकर कहती हैं कि आप भगवान्के विषयमें कुछ भी प्रकट न कीजिये, क्योंकि हम उनके स्वरूपको जानती हैं. यदि आप भगवद्वार्ता अब करोगे तो हमको दुःख ही होगा, अतः अन्य वार्ता करिये, इसको भूल जाइये. यदि आप जिसकेलिये आये हो, वह न कहकर अन्य वार्ता करोगे तो हम आपको उलहना नहीं देंगी ।।१९।।

आभासार्थ: यों कहकर भगवान्से अपना सम्बन्ध ही न रहा, इस प्रकारके भाव उत्पन्न होनेके कारण मूर्च्छित जैसी हो गई. फिर सात्विक-राजस भावसे 'प्रियसख' श्लोकसे कहने लगीं:

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं,
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं,
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ।।२०।।

श्लोकार्थ : हे प्यारेके मित्र! आप फिर आ गए. क्या आपको प्यारेने भेजा है? हे अङ्ग! आप हमारे माननीय हैं. क्या चाहिए? जो कुछ चाहिए वह वर मांग लें, जिसका सदैव मिथुन भाव रहता है, उसके पास हमको क्यों ले चलते हो? हे सौम्य! उसके छातीके पास सदैव लक्ष्मी रहती ही हैं; तो फिर हमारा क्या प्रयोजन? ।।२०।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकको कहनेवाली यह गोपी सत्व प्रधान होनेसे सगुण पक्षवाली है. अथवा भगवद्गुणगान करनेसे भगवद्भाववाली है, जिससे बहुत दोष निवृत्त हो गये हैं. अतः उसको(उद्धवजीको वा भ्रमरको) देखकर सखीने जैसे प्रथम कहा उससे यह अन्य प्रकारसे कहती है. कारण कि बुद्धिमें अब अन्य प्रकारके विचार उत्पन्न हो गये हैं, क्योंकि दोष निवृत्त हुए हैं. इनके आनेकी दूसरे प्रकारसे सम्भावना करती हुई बोलती है कि हे भ्रमर क्या तू फिर आ गया? अथवा भगवान्के दोषोंको सुनकर मूर्छित हुई गोपीके पास उद्धवजी फिर इसलिये लौट आये हैं कि चलकर इसको आश्वासन दूं, क्या अब भी प्रीतमने ही फिर भेजा है? यदि यों है तो क्यों प्यारेको अब भी हमारी आकाङ्क्षा है? जिससे समझा जाता है कि हमारा मनोरथ सिद्ध होगा. हेमन्तमें उन्होंने साधनका प्रारम्भ किया, जिसका प्रथम मास वसन्तसे नवम होता है. फिर नवम गिना जाये तो शरद होती है, जिसमें भगवान्ने फलदानका वरदान दिया है, अतः भेजा है? यदि यों है, तो आप जो चाहे वह वर मांगो. साधनसे कोई कार्य सिद्ध न होगा, किन्तु देवताके वरदानसे कैसा भी हो, वह सफल होगा. यह काल भी सात्विक है अथवा भगवदीय है, उनके प्रमाणोंको हृदयङ्गम कर भागवत आदिकी तरह कहने केलिये फिर आये हैं. जिसको कहती हैं कि मन्त्र, देवताके वरसे ही वह कार्य पूर्ण होता है, दूसरे प्रकारसे नहीं. इसलिये कहा है कि वर मांगों, उद्धवजीको भी आशीर्वाद देना है, भ्रमरको भी सुगन्धका उपयोग कराना है, जो आपकी इच्छा होगी वह दूंगी, वह कहो, वैसा आग्रह क्यों करती हो? इसके उत्तरमें कहती है कि 'माननीयोऽसि' मान देनेके योग्य हो, हे अङ्ग यह सम्बोधन स्नेह सिक्त है, जिससे मित्रत्वकी भावना प्रकट होती है. जो उपकार करता है, वह मान लेनेके योग्य है. यदि आप कहो कि जैसे हम नहीं देते, वैसे आप भी मत दो. इसके उत्तरमें कहती है कि 'नयसि' आप तो लेनेकेलिये ही आये हैं, यह ही उपकार है, किन्तु प्रियके पास ले चलनेकेलिये आपके पास कौनसा साधन है? जिसका हमको ज्ञान नहीं

है, जिससे हमको सन्देह है कि आप कैसे ले चलेंगे? वह हमको आप बताओ.

हम बहुत स्त्रियां हैं, आप अकेले हैं और गोकुल निरोधका स्थान है. विशेष बात तो यह है कि जहां जिस प्रीतमके पास हमको ले चलोगे वे तो सदैव वहां स्त्री सहित रहते हैं. उसका त्याग वे कर नहीं सकते हैं, हमारा कहना तो यह है कि भगवान् कृष्ण शक्तिको अलगकर ही प्रगटे हैं. यदि आप कहें कि अब उनके पास कोई नहीं है तो वह सत्यसे विपरीत है. हे सौम्य यह सम्बोधन उद्धवजीका साधुत्व बतानेकेलिये दिया है, उनकी स्त्री लक्ष्मी सदैव साथ ही रहती है, 'उरसि' शब्द लोकको दिखानेकेलिये कहा है. आप सौम्य हैं, अतः जैसे हम कह रही हैं, आपकी भी यही सम्मति होगी ।।२०।।

आभासार्थ: मैं आपको सुख पूर्वक आपके प्यारेके पास ले चलूंगा, इसकी चिन्ता ही मत करो, जिसके उत्तरमें 'अपि बत' श्लोक कहती है.

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ।।२१।।

श्लोकार्थ: हे सौम्य! यह तो बताओ कि अब आर्यपुत्र मधुपुरीमें बिराजते हुए कभी पिताके गृह; बांधव तथा गोपोंको याद करते हैं? और कभी हम किंकरियों(दासियों)की बातचीत भी करते हैं? अगर जैसी सुगन्धवाली भुजाको हमारे सिर पर कब धरेंगे?

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थमें दिया है और 'बत' हर्षमें. हमने सुना है कि भगवान् यज्ञोपवीत संस्कार होनेके अनन्तर पढनेकेलिये गये हैं. वहांसे लौटकर मधुपुरी जो पुष्टिपुरी है, उसमें आर्यपुत्र (नन्दजीका वा वसुदेवजीका पुत्र) जब आवेंगे तब हमारा ग्रहण करेंगे, क्योंकि सत्कुलमें उत्पन्न हुवे हैं अतः हमारा त्याग तो नहीं करेंगे. 'आर्यपुत्र' इसलिये कहा है कि वे पति हैं, पत्नी पतिका नाम नहीं लेती है. वे अब मथुरामें हैं? हमको जो अब ले चलते हो तो यहां आने तक वहां रखेंगे? इस प्रकारके प्रश्न सन्देहसे करती हैं. वहां विराजते भी हों; किन्तु यदि उनका मन अन्यमें आसक्त होगा तो कार्यकी सिद्धि न होगी, वह अभिप्राय हृदयमें रखकर पूछती हैं कि क्या वे पिताके घरोंको याद करते हैं? यदि गोकुलको स्मरण करते होंगे तो हमारा भी

स्मरण उसमें आ जायेगा. यहां बहुवचन दिया है जिसका आशय यह है कि इसे स्वच्छन्द रमणकी भी सूचना हो गई. इस प्रकारके वचन अन्यके आगे कहने योग्य नहीं हैं, ऐसी शङ्काकी सम्भावनामें कहती हैं कि हे सौम्य आप सोम्य हैं, इसलिये आपके सामने कहनेमें कोई अयोग्यता नहीं है. बहानेसे यों पूछकर अब विशेषरूपमें पूछती हैं कि नन्दके गोत्रवाले तथा अन्य गोप है, क्या उनको वे कृष्ण याद करते हैं? 'च'से गोकुलमें रहनेवाले जो भी हैं उन सबके स्मरणका भी पूछ लिया है. यों सबका पूछनेके अनन्तर चित्त रुका नहीं तो अपनी वार्ता भी स्पष्ट पूछने लगीं. रसाभासकी कथामें अथवा लौकिक कथामें क्या वे, जो पूर्व हमारे स्वामी थे, हम सबकी कथाका स्मरण करते हैं? यदि आप कहें कि तुमको क्यों याद करेंगे? इस पर कहती हैं कि हम उनकी दासियां हैं. जो आप कहो कि उनके अन्तःकरणमें क्या है? उसका मुझे क्या पता? तो इस पर कहती हैं कि कभी मुखसे भी हमारी बात कहते हैं कि नहीं? किसी समय यों उत्तर देने पर फिर कहती हैं कि जैसे पहले भी हमारी बात कहते हैं कि नहीं? किसी समय यों उत्तर देने पर फिर कहती हैं कि पहले भी अत्यन्त सन्ताप देनेके अनन्तर प्रकट हुवे वैसे कब दर्शन देंगे? अपने मनकी अभिलाषा प्रकट करती हुई कहती हैं कि वे अगरसे भी विशेष सुगन्धवाली भुजाको हमारे मस्तक पर कब धरेंगे?।।२१।।

आभासार्थ: इस प्रकार सर्वात्मभावसे सर्व अवस्थाओंमें उत्कृष्ट (उत्तम), और अपकृष्ट(अधम) सब प्रकारकी गोपियोंका भगवत्परायणत्व बताया तथा प्रतीत होनेवाले दोष मिटानेके लिए जो उपदेश देना है, जिसके पहले उद्धवजी गोपियोंका अभिनन्दन करेंगे, इसको श्रीशुकदेवजी 'अथोद्धवो' श्लोकमें कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत।।२२।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि उद्धवजी इस प्रकारके गोपियोंके वचन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनकी प्यासी गोपियोंको प्यारेके सन्देशोंसे सान्त्वना देते हुए यह कहने लगे।।२२।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजी उत्सव रूप हैं, उन्होंने भगवान्के गुण दोष मिश्रित कहे, किन्तु इनने(उद्धवजीने) उनको दोषोंको गुणरूप ही माना है, अतः दूसरे

प्रकारसे ही उनको सुना, जिससे समझा कि ये प्यारेके गुणोंका ही इस प्रकार वर्णन कर रही हैं. कारण कि इनके अन्तःकरणमें श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसा भरी हुई है. जिसकी पुष्टिमें इन्होंने सभामें भी कहा कि अगरुके सुगन्धिसे विशेष सुगन्धवाली भुजा हमारे शिर पर कब धरेंगे? इस प्रकार इनकी अभिलाषा है. ऐसी(व्रजभक्तों)को अवश्य सान्त्वना देनी चाहिये, किन्तु वह भी प्रीतमके *सन्देशोंसे न कि अपने वाक्योंसे. कारण कि ये गोपियां भगवदीया हैं और भगवान् की आज्ञा भी वैसी ही है, यह जो स्तोत्ररूप कहनेका है, वह कहेंगे ।।२२।।

*.उच्च कोटिके भक्तोंके मनका समाधान तो भगवान्ने प्राकट्यसे ही होता है, वचनोंसे नहीं, जब भगवान्के वाक्योंसे भी पूर्ण समाधान नहीं, तो उद्धवजीके वचनोंसे कैसे होगा? किन्तु उद्धवजी प्यारेके सम्बन्धी हैं, स्नेह मार्गमें स्नेहीके सम्बन्धीमें भी स्नेहके समान भाव होता है, फिर उसमें विशेषता यह है कि उद्धवजी अपने वचन न कहकर प्यारेके वचनोंसे सन्देश देते हैं, उपदेश नहीं. अतः गोपियोंको कुछ सान्त्वना इससे हो जायेगी. इसलिये उद्धवजी वह सन्देश सुनाते हैं.

आभासार्थ: उन(गोपियोंमें जो स्त्रीत्व आदि) स्वाभाविक दोष हैं वे भी भगवत्कृत हैं, अतः भगवद्गुणोंके कारण वे भी गुण ही हैं जिनको बतानेकेलिए छः श्लोकोंसे 'स्तोत्र' करते हैं:

उद्धवः उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ।।२३।।

श्लोकार्थ: उद्धवजी कहने लगे कि अहो! आप कृतार्थ हो गईं तथा लोकमें पूजित हो. कारण कि आपने वासुदेव भगवान्में अपना मन अर्पित कर दिया है ।।२३ ।।

भक्त होनेके कारण उनका अभिनन्दन किया एवं भक्तिका भी अभिनन्दन किया तथा उनमें भक्तिकी स्थापना भी की है.

तत्राप्यनन्यता तासां सर्वभावेन च स्थितिः।
अतः कृपा हरेर्युक्ता सफलत्वाय सोच्यते।।का.१।।

कारिकार्थ : उसमें भी उनकी अनन्यता तथा सर्व भावसे भगवान्से स्थिति होनेसे भगवान्की उनपर कृपा होना योग्य ही है, वह सफल हो गई; इसलिए उद्धवजी उस(कृपा)को कहते हैं.

व्याख्यार्थः आश्चर्य है कि इसमें जैसा भाव है, वैसा हममें भी नहीं है, वह भाव सर्वत्र वा सबमें प्रसिद्ध है. फिर यह भाव सहज है, किसी समय उत्पन्न होकर पुनः तिरोहित नहीं होता है. अतः यह आपकी स्तुति सामान्य भक्तके समान नहीं है, कारण कि आपका अर्थ पूर्ण हो गया है और आपकी भक्ति स्वतन्त्र फलरूप है, जिससे जैसे भगवान् स्वतन्त्र हैं वैसे ही आप भी स्वतन्त्र हो गई हैं, अतः आप लोकमें पूजित हुई हैं. 'भवत्' शब्द और 'लोक' शब्द तो सर्व साधारण अर्थवाले हैं, इसमें महत्व ही क्या है? जिसके उत्तरमें उद्धवजी कहते हैं कि यों समझना भ्रम है, क्योंकि आपकी जो लोकमें इतनी प्रसिद्धि है वह साधारण नहीं है, कारण कि आपने पूर्व कहे हुए प्रकारसे अपना मन वासुदेव भगवान्में अर्पित कर दिया है ।।२३।।

आभासार्थ : आप इस भावको दुर्लभ कैसे कहते हो, यह तो सुलभ है, क्योंकि कामसे हुआ है. इसपर उद्धवजी 'दानव्रत' श्लोकसे उत्तर देते हैं:

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।।२४।।

श्लोकार्थ : दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और मनके नियमन आदिसे तथा अन्य प्रकारके श्रेय करनेवाले उपायोंसे कृष्णमें भक्ति ही सिद्ध की जाती है ।।२४ ।।

व्याख्यार्थः दान आदि सर्व साधनोंसे कृष्णमें स्नेह ही सिद्ध किया जाता है. वह यदि काम आदिसे सिद्ध हो जावे, तो दान आदिकी फिर क्या आवश्यकता है? स्नेहमें किसी प्रकार भेद नहीं है, यदि फलमें भेद न पड़े, तो साधनोंमें भिन्नता(जुदाई) हो तो भी आपत्ति(हरकत नहीं है.) जैसे दान तप आदि पापोंको नाशकर कृष्णमें भक्ति उत्पन्न करते हैं, वैसे ही काम क्रोध आदि भी भक्तिकी भांति कृष्णमें स्नेह उत्पन्नकर, उनमें मन लगाते हैं, जिससे पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं. इस प्रकार बहुतोंने भगवान्को पाया है. तुला पुरुष आदि करनेको दान कहा जाता है. एकादशी आदिके दिन फलाहार वा उपवास आदिको व्रत कहते हैं. कृच्छ चान्द्रायणादिको तप माना गया है. कामना पूर्वक अग्निमें आहुति देनी जिसको होम कहते हैं. अग्निहोत्र आदिको भी कहा जाता है. मन्त्रोंको ध्यानपूर्वक रटना जप है. सर्व वेदको नियमानुसार पढ़ना स्वाध्याय है. योग मार्गमें यम नियम आदि हैं, जिसको संयम कहते हैं, एवं अन्य अच्छे कर्म, कूप उद्यान

आदि जो जनताके आरामकेलिये बनवाते है. ये सब साधन संयोग पृथक्त्व न्यायानुसार उस फलको पृथक् भी देते हैं तथा भक्ति भी सिद्ध करते हैं. अन्यथा, जो साधन नहीं है, उनसे भी सदानन्द कृष्णमें स्नेह उद्भव होता है, वह ही फलरूप है, [२]इसलिये ही आपका प्राकट्य है. 'भक्तियोगवितानार्थ' यह वाक्य 'हि' शब्दसे कहा है. 'साध्यते' इस पदसे आत्मीयत्व नित्य स्नेहका निवारण किया है ।।२४।।

१.मर्यादा भक्तके तो पाप नाश करते हैं और पुष्टि भक्तमें स्नेह प्रकट करते हैं प्रकाश.
२.असाधनको भी साधन बनानेकेलिये.

आभासार्थ: तो क्या हमारी भक्ति अन्य प्रकारकी है? जिसके उत्तरमें निम्न 'भगवत्युत्तमश्लोके'में कहते हैं.

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ।।२५।।

श्लोकार्थ : आपने जो सबसे उत्तम भक्ति उत्तम श्लोक(भगवान्)में प्रवृत्त की है, इसकेलिए आपको बधाई है. यह भक्ति तो मुनियोंको भी दुर्लभ है ।।२५ ।।

व्याख्यार्थ: आपकी भक्ति सचमुच भिन्न प्रकारकी है, किन्तु सबसे उत्तम है. कारण कि नारद आदि भक्त भगवान्के गुण गान करते हैं. उनकी तो भगवान्में केवल वाणी स्थिर होती है, किन्तु आपका तो भगवान्में मन आसक्त हो गया है. 'भवती' शब्दसे गोपियोंको यह बताया है कि आपमें बहुत्वके साथ सामर्थ्य भी है, जो बिना साधनके भक्ति लोकमें फैलादी है. आपकी इस भक्तिसे कोई अन्य भक्ति उत्तम नहीं है. आपके सिवाय जो भगवान्के अन्य भक्त हैं, उनकी भक्ति आपकी भक्तिके समान भक्ति नहीं है.

भक्तिका लोकमें प्रारम्भ तो ब्रह्मकल्पसे हुआ है. उसकी पूर्णता अब आपने कर दिखाई है. ऐसी भक्ति भी होती है जिसका दर्शन हम लोगोंके ही भाग्यमें लिखा था, जिससे हम आपकी प्रकट की हुई भिन्न प्रकारकी सर्वोत्तम भक्तिका दर्शन कर रहे हैं. शास्त्र और लोकमें जो भक्ति प्रसिद्ध है, उसके दान आदि साधन सुने जाते हैं. इसकी अब तक प्रसिद्धि नहीं थी, इसलिये इसके साधन भी नहीं देखते हैं. ये तो बहिर्मुखोंमें ही उत्तम कही जाती है. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, यह भक्ति तो मुनियोंको भी दुर्लभ है. यदि उनको दुर्लभ न होगी

तो वैसी सर्वोत्तम भक्तिको छोड़कर मनन करनेमें क्यों प्रवृत्त होते ।।२५।।

आभासार्थ : केवल स्नेहके उत्कर्षसे आपकी बड़ाई नहीं है, किन्तु आपकी प्रपत्ति भी अतिशय उत्तम है, जिसका वर्णन 'दिष्ट्या' श्लोकमें करते हैं.

दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ।।२६।।

श्लोकार्थ : आपने पुत्र, पति, देह स्वजन और घर आदि सबका त्याग कर उसपर पुरुषको जिसको कृष्ण कहते हैं उसको वर लिया है. इसकेलिए आप प्रशंसाके योग्य हैं, अतः यह हर्षका विषय है ।।२६ ।।

व्याख्यार्थ: ये पुत्रादिक अनन्यतामें बाध करनेवाले हैं, क्योंकि संसारमें आसक्ति करानेवाले हैं. भगवान्की शरण वह जा सकता है जो पुत्रादिमें आसक्त नहीं है अर्थात् जो संसारी नहीं है. ये पुत्रादि, स्त्रियोंको तो भगवान्में प्रपत्ति करनेमें अतिशय बाधक हैं. उनकी गणना करते हैं, देह जो नाना प्रकारके उपयोगमें समय-समयपर अलगरूपसे काममें आती है, अतः बहुवचन दिया है. आपको इन सब रूपोंकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि स्वार्थ नहीं है, अतएव आपने इन सबका त्याग किया है, यदि वैसा नहीं होता तो भगवान्के पास चली जातीं, किन्तु भगवान्की इच्छा(आपको) वहां मंगाने(बुलाने)की नहीं है, वैसी भावनाके कारण यहां देहको धारण कर रही हो, नहीं तो पुत्रादिके समान देह भी त्याग देती तथा जो स्वजन भगवान्से विमुख हैं वे भिन्न प्रकारके हैं. उनसे भी परस्पर आने जाने एवं मिलनेका व्यवहार छोड़ा है. यह तो पहले ही कहा गया है कि जो रहनेकेलिये आश्रयरूप वर है, उनका भी त्याग कर दिया है, श्लोकमें 'च' इसलिये दिया है कि लोकोंका भी परित्याग किया है. यों त्याग कर देना तो वृथा है, इसपर कहते हैं कि नहीं आपने यह जो त्याग किया है, वृथा नहीं है. कारण कि यह त्यागकर आपने उसपर पुरुष श्रीकृष्णको वर लिया है. पतिका त्याग दोषरूप है, किन्तु आपने तो 'पर' सबसे उत्तम(क्षर और अक्षरसे उत्तम पुरुष) पुरुषोत्तमको पति बनाया. लोकमें यदि व्यभिचारिणियां भी समझी जानेसे पुनः अपने पतिको आकर भजती हैं तो उनके पूर्व कृत दोष नष्ट हो जाते हैं. वे कृतार्थ हो जाती हैं, जगत्में व्यभिचारिणी स्त्रियां चर्षणी रूपा हैं, क्योंकि जन्म-जन्ममें अन्य पतिवाली होती हैं. दिनके समान जन्मकी व्यवस्था समझलो. अतः जो पुरुष पर है, वह तो सर्वत्र सेव्य ही है. जिसमें व्यभिचार अथवा अन्य कोई दोष नहीं है,

क्योंकि वासुदेव एक ही पुरुष है अन्य सर्व जगत् स्त्रीरूप है. सच्चा पति तो वह, है जो स्वयं निर्भय होवे और भयातुर जगत्की रक्षा करे, वैसे तो श्रीकृष्ण ही है, अतः वही पति है.

पहले भी जब श्रुतियां थीं तब भगवान्ने ही निष्ठावाली होनेसे उनमें स्थित थीं. वह दशा गई और आगे भी यों ही होगा, तो फिर परपुरुष (पुरुषोत्तम) की प्रपत्ति करनेसे क्या लाभ? इसके उत्तरमें कहा है कि 'वृणीत' पहले तो भगवान् अपनी इच्छासे हमको प्राप्त हुए थे. अब तो वरदानसे मिले हैं; यह ही अबके मिलनेमें विशेषता है. फिर ये 'कृष्ण' नामसे प्रसिद्ध हैं और हमारेलिये ही प्रकट हुए हैं, अतः प्रमेय बलके कारण भी त्याग नहीं करेंगे. पुरुष हैं; अतः फलान्तरका भी अभाव है, जिससे हमको किसी प्रकार हानि नहीं है ।।२६।।

आभासार्थ: इस प्रकार भक्ति तथा प्रपत्तिका निरूपणकर अब इस 'सर्वात्मभावोऽधिगतो' श्लोकमें सर्वात्मभावका निरूपण करते हैं.

सर्वात्मभावोधिऽकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ।।२७।।

श्लोकार्थ: इन्द्रियोंसे जिनका ज्ञान नहीं होता है, वैसे भगवान्में आपने सर्वात्मभाव किया है. वह भी विरहमें किया है, अतः आप महाभाग हो, उस भावका आपने मुझे दर्शन कराकर मेरेपर महान् अनुग्रह किया है ।।२७।।

व्याख्यार्थ: ''भगवता सह संल्लाप'' इन कारिकाओंमें पूर्व ही वर्णनकर आये हैं कि भगवान्के साथ दश इन्द्रियों द्वारा दश प्रकारके भावोंकी भावना करनी, यह ही इन्द्रियांवालोंका फल है, इस प्रकारकी भावना संयोग दशामें तो हो सकती है, किन्तु आपको विरहमें भी वैसी जो भावना हुई वह ही आपमें विशेषता है, आपने जो सर्व प्रकारका भी अपना भाव भगवान्में ही लगा दिया है वह भी इस प्रकार जो उत्तरोत्तर बढता ही जावे, फिर यह विषय भी अलौकिक है; क्योंकि विरह अवस्थामें जिसमें आपने भाव लगाया है, वह अधोक्षज है अर्थात् जहां इन्द्रियां पहुंच नहीं सकती हैं वैसेमें कोई भी भाव करना जब कठिन है, तो सर्वात्मभाव तो दुर्लभ ही होगा. उसमें भी बहुतोंका होना और वे बहुत भी साधन रहित हो; इससे तो अतीव दुर्लभ है. हम साधन रहितोंके इस भावकी प्रतीति आपको जो हो रही है वह भ्रमसे होगी? इसके उत्तरमें हे महाभाग सम्बोधनसे कहते हैं कि यह प्रतीति हमको भ्रमसे नहीं हुई है; किन्तु वास्तविक हो रही है,

कारण कि आपका जन्म ही उत्तम होनेसे साधनरूप है, इसलिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं, वही साधन है. इसपर गोपियां कहती हैं कि यह तो आप हमारी वृथा झूठी बड़ाई करते हो, जिसके उत्तरमें उद्धवजी कहते हैं कि नहीं, मैं जो कह रहा हूं वह आपकी प्रत्यक्ष कृति देखकर कह रहा हूं, जिसका दर्शन कराके आपने मुझे उपदेश दिया है कि तुमको भी यों करना चाहिये, यों करनेसे मुझपर बड़ा अनुग्रह किया है ।।२७।।

आभासार्थ : अतः मैं अनुगृहीतकी धृष्टतासे कुछ वर्णन 'श्रूयतां' श्लोकमें करता हूं, उसको सुनिए.

श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तृरहस्करः ।।२८।।

श्लोकार्थ : आपको सुख देनेवाले प्यारेका संदेश मैं उनका मित्र, रहस्य लेकर आया हूं, हे कल्याणियों ! उसको तुम सुनो ।।२८ ।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजीने श्लोकमें 'प्रिय सन्देश' पद दिया है, जिसके कहनेका आशय बताते हैं कि जैसे गोपियोंको अपनी स्तुति पसन्द न आई वैसे यह भी कदाचित् पसन्द न आवे, इसलिये 'प्रिय' पद देकर यह कहा है कि यह सन्देश अन्य किसीका नहीं है, किन्तु तुम्हारे प्यारे भगवान्का है, अतः आपको इससे आनन्द ही प्राप्त होगा. इसलिये इस 'सन्देश'को सुनकर जैसा इसमें कहा है वैसा अवश्य करना. यदि यह सन्देश केवल सुननेकेलिये होता तो 'श्रृणुत' क्रिया देते, किन्तु यह जो 'श्रूयतां' क्रिया दी है, जिसका भावार्थ है कि केवल सुनना नहीं, किन्तु यों कर्तव्य भी अवश्य करना. इस सन्देशको भेजनेवाले तुम्हारे प्रीतम हैं, अतः उनने जो सन्देश भेजा है वह न दुःखसाध्य और न असाध्य है आप दृष्ट फल चाहती हैं तथा यह सन्देश सुख देनेवाला भी है, अतः सुख भी प्राप्त हो जायेगा. फिर आपको सुखकी प्राप्तिकेलिये अन्य साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है. यह सन्देश इस प्रकारका है इसमें प्रमाण क्या ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि इसको मैं ले आया हूं. मैंने प्रथम इस सन्देशके आशयको समझा और आपके अधिकारका भी विचार किया, इस प्रकार सोचकर फिर जब हितकारी समझा तब मैं ले आया हूं. मैं कोई साधारण नहीं हूं, किन्तु भर्ताका गुप्त कार्य करनेवाला हूं जैसे वे आपके स्वामी हैं, वैसे मेरे भी भर्ता हैं. वे वैसा उपाय कभी न कहेंगे जिससे वे हमारे भर्ता ही न रहें. अर्थात् हमारे भरण पोषणसे वे मुक्त हो जावें. यह संदेश

साधारण अर्थवाला नहीं है, कारण कि मैं उनका विशेष निजी कार्य करनेवाला अन्तरङ्ग हूं. जिससे उनका गुप्त कार्य मैं ही करता हूँ, जो वैसा गुप्त कार्य करनेवाला होता है, उसको कोई भी धोखा नहीं देता है और जो भर्ता होते हैं वे कभी भी विश्वासघात करने(धोखा देने) वाले नहीं होते हैं, अतः यह सन्देश उस फलको देनेवाला है, जिसको मैंने कहा है ।।२८।।

आभासार्थ : उस(संदेश)को 'भवतीनां' श्लोकसे प्रारम्भ कर दश श्लोकोंसे कहते हैं:

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।

आत्मात्वाद्भक्तवश्यत्वात्सत्यवाक्त्वात्स्वभावतः ।।२९।।

श्लोकार्थ : श्रीभगवान्ने कहा कि तुम्हारा वियोग किसी भी प्रकारसे थोड़ा सा भी मुझे नहीं है, कारण कि मैं सबकी आत्मा हूं भक्तोंके वश हूं, सत्यवक्ता हूं और स्त्रियोंपर दया करना तो मेरा स्वभाव है ।।२९ ।।

षड्भिः स्वरूपकथनं पुरुषार्थास्ततः परैः ।
जीवब्रह्मविभेदेन द्वेधा रूपं निरूप्यते ।।का.१।।
दोषाणां मूलभूतस्य विरहस्य निवारणे ।
बन्धमोक्षव्यवस्थायां जीवो द्वेधा निरूप्यते ।।का.२।।
आश्रयत्वाच्च कर्तृत्वाद् द्वेधा ब्रह्मापि रूप्यते ।
दोषाभाव प्रतिज्ञाद्ये हेतुभिर्विनिरूप्यते ।।का.३।।
फलं जीवेऽपि येनैषा बुद्धिर्धर्नश्यति सर्वथा ।
गुणा विभाजका यस्मात्त्रिभिस्त्रिभिरुदीर्यते ।।का.४।।

कारिकार्थ : प्रथम श्लोकमें दोषका मूल जो वियोग है, उसकी निवृत्तिकेलिए वर्णन है. दूसरेसे पांचवें तकके ४ श्लोकोंमें भगवत्स्वरूपका वर्णन है. छठे श्लोकमें दोषके अभाव तथा फलका वर्णन है. शेष ४ श्लोकोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन ४ पुरुषार्थोका वर्णन है. विरह(पृथक्त्व) ही दोषोंका मूलभूत कारण है, जिसको मिटानेकेलिए बन्ध और मोक्ष, इन दो प्रकारकी व्यवस्थासे जीव दो प्रकारके वर्णित किए हैं तथा ब्रह्म भी कर्ता और आश्रय रूप होनेसे दो प्रकारके हैं. प्रथम श्लोकमें प्रतिज्ञा हेतुओंसे सिद्ध की गई है कि भगवान्में दोष नहीं है, जिससे उसका फल जीवको मिला. वह फल है, जीवकी

भगवान्में जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई. उससे मनका निरोध दोनोंका पूर्ण हो गया. भगवत्प्राप्ति हो गई यहां जीव तथा ब्रह्मके स्वरूपोंका गुणोंसे वर्णन किया है, अतः तीन-तीन श्लोकोंसे जीव तथा ब्रह्मका वर्णन हुआ है. इन गुणोंके कारण ही जीव और ब्रह्ममें भेदका भ्रम हुआ है ।।का.१-४।।

व्याख्यार्थ: तुमको मेरा वियोग नहीं है, जिसका मूल कारण बताते हुए भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि आपका वियोग मुझे नहीं है, तो तुमको कैसे होगा? अर्थात् वियोग है ही नहीं. जीवोंका ब्रह्मके साथ वियोग वास्तविक नहीं है और न आगन्तुक है, किन्तु अज्ञान कृत है. जिसको विशेष स्पष्ट करनेकेलिये हेतुओंके भेदसे उसका त्रैविध्यरूप बताते हैं, १.स्वाभाविक, २.औपाधिक और ३.अज्ञान कृत.

जीवोंका परस्पर भी भेद नहीं है, कारण कि आत्मस्वरूपमें एक ही है. सब जीव चिद्रूप हैं, अतः एक होनेसे जीवोंमें स्वाभाविक भेद नहीं है, किन्तु पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेदसे उनमें इस प्रकार उपाधिकृत भेद है. मुण्डकमें कही हुई इस ''यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुल्लिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः'' श्रुतिके अनुसार उद्गमरूपसे भेद है. तापनीयमें कही हुई इस ''जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या स्वयमेव भवति'' श्रुत्यनुसार और 'जलचन्द्र' दृष्टान्तके अनुसार अंशका पश्चात् प्रवेश होनेसे उसमें मिथ्यात्व नहीं है. तैत्तिरीयमें कही हुई इस ''बहु स्यां प्रजायेय'' श्रुतिसे भगवदिच्छा है, अविद्या उपाधि मायावादमें कारण मानी गई है, वह ''इन्द्रो मायाभिः''को प्रमाणरूपमें लेते हैं. ये वादान्तर हैं, वास्तवमें जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है और जो कुछ भेद प्रतीत होता है उसमें अज्ञान ही कारण है, विशेषकर वियोगमें. ब्रह्ममें तो भेद तथा अज्ञान दोनोंके अभावसे जीवके साथ भेद है ही नहीं, इससे भगवान् हमको छोड़कर चले गये, यह दोष भी भगवान्को लगाना नहीं है. भगवान् छोड़ गये यों कहना वा समझना ईर्ष्यासे ही हुआ है. वे तो न छोड़कर जाते हैं और न त्याग मानते हैं, जो जीव कहते हैं कि हम भगवान्को छोड़ देंगे, यों कहनेवाले भ्रान्त हैं, अतः यहां इस प्रकार अर्थको कहना चाहिये. अर्थात् भगवान्ने वियोगको मिटानेकेलिये ही सन्देश भेजा है. वहां अपनेमें और भक्तोंमें अर्थात् गोपियोंमें दो प्रकारसे प्रतिज्ञा करते हैं कि १.आपका वियोग हमको नहीं है और मेरा वियोग आपको नहीं है. यदि आपको मेरा वियोग होवे तो मैं कृतघ्नी बनूं और तुमको दुःख होवे. जब इस प्रकार वस्तुके स्वरूपका विचार

किया जावे तो वियोगका अभाव है. अर्थात् वियोग है ही नहीं, तो भी देशसे वृक्ष *कपिन्यायकी भांति काल भेदसे अथवा स्त्री पुरुषकी तरह वियोग हो सकता है, किन्तु वह भी यहां नहीं है. जिसको 'सर्वात्मना क्वचित्' पदसे बताते हैं कि कभी भी देशमें वियोग नहीं है. वह वियोग चार प्रकारसे होता है. १.भगवान्का किया हुआ वियोग, २.भक्त द्वारा किया हुआ वियोग, ३.कालसे हुआ वियोग, ४.देशसे हुआ वियोग. इस चार प्रकारके वियोगके हेतुओंको बतानेवाला आधा श्लोक टूटा हुआ यों प्रतीत होता है.(आत्मत्वात्, भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः इत्येवं रूपम्). वह आधा भी इस प्रकारका होना चाहिये. भगवान्को गोपिकाओंका वियोग नहीं है, कारण कि भगवान् आत्मा है. गोपियोंको भी भगवान्का वियोग नहीं है, क्योंकि भगवान् भक्तोंके वश हैं. काल भेदसे भी वियोग नहीं है, कारण कि भगवान्ने 'पारयेऽहं' आदि जो शब्द कहे हैं, सो वियोग होवे तो ये भगवान्के वाक्य असत्य हो जावें. केवल इतना कह दिया, यों नहीं है, उनकी इच्छा भी पूर्ण करनी है, क्योंकि प्रभु सत्यवादी हैं तथा उनका स्वभाव भी वैसा है. जो स्त्रियोंपर कृपा ही करते हैं, अतः किसी भी अंशसे उनका त्याग नहीं करते हैं, क्योंकि भगवान्में अत्यागकेलिये जब ये चार विशेष हेतु विद्यमान हैं तब कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिये वियोग देते ही नहीं है।।२९।।

*.जैसे कपि कभी वृक्षके किसी डालीपर कभी किसीपर बैठता है, वह है तो वृक्ष पर ही, वृक्षसे उसका वियोग नहीं है, वैसे ही स्त्री पुरुषका भी किसी कालमें वियोग होता है, वास्तवमें उनको वियोग नहीं कहा जाता, किन्तु यहां तो वह भी नहीं है.

आभासार्थ: 'यथा भूतानि'से दो श्लोकोंमें सामान्य हेतुओंको कहते हैं:

यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहं च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ।।३०।।

श्लोकार्थ : जैसे भौतिक देहोंमें आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी रहते हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों और गुणोंका आश्रय हूं।।३० ।।

व्याख्यार्थ: जब भगवान् ही आश्रय है, तो गोपियां उनका त्यागकर कहां रह सकेंगी? आधारके अभावमें स्वरूपका ही नाश हो जायेगा. यदि कहा जावे कि देह मुख्य है, आत्मा गौण है, अतः आविर्भूत भगवान्का वियोग देहके साथ हो सकता है, यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि भगवान् उन देहोंमें समवायी कारणसे विराजते हैं. यदि भगवान्की स्थिति उनमें न होवे तो वे देह

भगवान्के स्वभावसे रहित हो जावे. उनमें रस स्वरूपका प्रादुर्भाव ही न होवे. यों वियोग होनेका क्या कारण है? इस पर कहते हैं कि वियोग ही हित करनेवाला है. वियोगके कारण ही रसात्माका प्रादुर्भाव होता है, किन्तु वियोगके कारण उससे संयोग नहीं होता है. यदि संयोग हो जाये तो जैसे प्रकट अग्निके संयोगसे काष्ठ भस्म होता है, वैसे ही आप(गोपियां) भी नष्ट हो जायेंगी, अतःवियोग हितकारी है. पूर्व समयमें सम्बन्ध होनेसे आप [२]अर्धदग्ध हो गई हो. फिर सम्बन्ध होवे तो सम्पूर्ण जलकर भस्म हो जायेगी. सुख अनुभव तो अपने भीतर अग्निके समान प्रभु अन्तःकरणमें ही विराजकर कराते है, तब होता है. यदि अग्नि बाहर प्रकट होती है तो काष्ठ जल जाता है, जिससे काष्ठ प्रकट अग्निसे सम्बन्ध करना नहीं चाहता है. करे तो नाश हो जावे. भीतरकी अग्निसे काष्ठको आनन्द मिलता है और अस्तित्वको भी रख सकता है. भगवान् तो प्रकट प्रलय करनेवाले है, भगवान् स्थितिके कारण हैं, अतः एक देशसे भी वियोग हो नहीं सकता है. वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे महाभूत अन्य भूतों(देहों)के आधार हैं, अतः उनसे जुदे हो नहीं सकते हैं. वैसे भी भगवान् भी देहांशसे पृथक् हो नहीं सकते हैं. प्रकरणके अनुसार ही शब्दोंका अर्थ किया जाता है तथा साधारण दृष्टान्तसे भी वह अर्थ करनेमें वा समझनेमें आता है. फिर अन्य दृष्टान्त कहते हैं देहसे पृथक्, मन, प्राणी, बुद्धि, इन्द्रिय और गुण इन पांचोंका भी मैं आधार हूं. महाभूतोंकी सङ्ख्या पांच है, तो इनकी उन(महाभूतों)के समान बतादी है. अहङ्कार और प्रकृतिका सत्वादि गुणोंमें अन्तर्भाव कर दिया है क्योंकि वे त्रिगुणात्मक हैं. चित्तका बुद्धिमें अन्तर्भाव समझना, प्राण, दश इन्द्रियां और सङ्कल्प आदि सर्व धर्मोंवाला मन है.

१.गोपियोंने जो कहा है कि हमको भगवान्का वियोग है, वह कहना सत्य नहीं है, क्योंकि भगवान् गोपियोंका आधार है और आधारका त्याग नहीं हो सकता है.

२.अर्धदग्ध होने पर भगवान्के स्वरूपकी स्फूर्ति आधी होती है. यदि फिर सम्बन्ध हुआ तो स्व स्वरूपकी स्फूर्ति भी नष्ट हो जायेगी 'प्रकाश'

उत्पत्तिके क्रममें कहा है कि ''**अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयाः प्राणाः, तेजोमयी वाक्**'' (सौम्य! मन अन्नरूप है, प्राण जलरूप है, वाणी तेजो रूप है.) वह वाणी बुद्धिरूप ज्ञानात्मिका है. जैसे रूप क्रियात्मक है, इन्द्रियां प्राण वायुसे पुष्ट होती हैं सत्व आदि गुण आकाशमें हैं, इसलिये ही बादलसे कभी अन्धकार

और कभी प्रकाश होता है, कभी नहीं भी होता है. ये उपलक्षण रज, तम और सत्वके हैं 'खं वाय्यग्निर्जल मही' ये भूत हैं. इनकी उत्पत्ति क्रमसे वा आधारत्वसे गणनाकी है. अन्न तथा मही ये परस्पर यहां पर्यायवाची शब्द समझने चाहिये. यद्यपि इन जीवोंकी स्थितिमें ये कारणरूप हैं, तो भी इनको स्पष्ट न कहनेका कारण यह है कि उनकी प्रसिद्धि नहीं है ।।३०।।

आभासार्थ : इस प्रकार कहनेके अनन्तर कहते हैं कि आप गोपिकाओं को भगवान्से विरह है ही नहीं, क्योंकि आप कार्यरूप हैं और भगवान् कारणरूप हैं. कारणसे कार्य पृथक् हो ही नहीं सकता है. 'देखिये–आत्मन्येवात्मना' श्लोकमें इस विषयको समझाते हैं.

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ।।३१।।

श्लोकार्थ : मैं अपनी आत्मामें ही आत्मारूप साधनसे अपना ही सृजन करता हूं, नाश करता हूं और पालन करता हूं. ये सब मेरे कारणरूप मायाके प्रभावसे भूत; इन्द्रियां और गुणों द्वारा होता है ।।३१ ।।

व्याख्यार्थ: 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तस्माद्वा एतस्मात' इन श्रुतियोंके अनुसार कर्ता तथा समवायि कारण भगवान् हैं. 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' इस श्रुति प्रमाणसे कार्यरूप भी भगवान् ही है. यदि इस श्रुतिको जीव पर समझो तो भी कोई सन्देह नहीं है; किन्तु केवल आधारमें सन्देह हो सकता है, जिससे समवायिके बिना अन्य आधारोंका निरूपण करते हुवे कहते हैं कि 'आत्मनि एव' जो कुछ करते हैं वह सर्व आत्मामें ही करते हैं; अतः आत्मा और अनात्माका संकर भी नहीं होता है, इसलिये 'एव' पद दिया है. जैसे घट कुम्हारके चक्र ऊपर ही बनता है, कारण तो भिन्न होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'आत्मना' 'आत्मानं' आत्मासे ही आत्माको करता हूं. अर्थात् मैं ही सब कुछ करता हूं और मैं ही सब कुछ हो जाता हूं, जिससे वैषम्य, नैर्घृण्य दोष भी नहीं होता है. कोई मनुष्य किसी समय घड़ा लाकर अपने शिर पर रखता है और अपने पैरको जांघ पर धरकर वहां ही घड़ेको फोड़ देता है. इस प्रकार भगवान्की इस सृष्टिका कार्य नहीं है, क्योंकि घड़ा तो दूसरेका बनाया हुआ बाहरसे लाया हुआ है और कार्यरूप जगत् तो भगवान्ने अपनेमेंसे ही बनाया है, अपनेमें ही रखा है, जिससे कहते हैं कि 'सृजे', 'हन्मि' और 'अनुपालये', मैं ही

[१]सृजन करता हूं. मैं ही [२]नाश करता हूं और मैं ही [३]पालन करता हूं.

१.सृजन–यहां लीलामें सृजनका तात्पर्य है, स्वरूप स्थिति, वह यहां प्रभुका मिलन है.

२.नाश–यहां लीलामें वियोगको कहते हैं जिसमें सर्वका तिरोधान होता है, वह भी रसदानकेलिये किया जाता है.

३.पालन–रसदानार्थ वियोगकर पश्चात् पालन करते हैं, अर्थात् स्वरूपानन्दका दान देते हैं, इसलिये ही यहां पालन अन्तमें कहा है, नहीं तो सृष्टिके बाद पालन कहा जाता है; पश्चात् नाश कहते हैं.

देश वियोगका अभाव बतानेकेलिये ही 'पालन' अन्तमें कहा है. 'एतस्माद् जायते प्राण' इस श्रुतिमें तथा पुराणोंमें साक्षात् वा परम्परासे भगवान्की कारणता, तत्वोंमें ही प्रतीत होती है न कि भौतिक पदार्थोंमें. यों मान लेनेसे ही 'भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः' वाक्योंकी सङ्गति होती है. इस पर कहते हैं कि 'आत्ममायानुभावेन' वहां भी मैं ही अपनी योग मायाके प्रभावसे प्रकट कर्ता हूं, किन्तु लोक मेरी मायाके प्रभावसे अन्यथा समझते हैं. मैं मायाको आगेकर अथवा मायाको बीचमें रखकर कार्य वा सृष्टि करता हूं, जिससे लोगोंको वैसा भ्रम होता है. वाक्य तथा अनुभवसे पृथिवी आदिका कारणत्व देखा जाता है तो इसमें मोह कैसे कहा जाता है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भूत, इन्द्रियां और गुण ये तीन ही आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक भेदसे तीन प्रकारके हैं. उनमें आत्मरूप माया तब प्रविष्ट हुई है. वह जहां भी प्रवेश करती है, वहां दूसरा ही भासता है, जिससे लोग असाधनको साधन मान लेते हैं ।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार ब्रह्म भावसे गोपियोंको भगवान्का विरह नहीं है, यह कहकर अब जीवभावसे विरह नहीं है यह 'आत्मा' श्लोकसे कहते है:

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणाश्रयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ।।३२।।

श्लोकार्थ : जीव ज्ञानमय, शुद्ध, देहादिसे पृथक् है और गुणोंका आश्रय नहीं है. मायाकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन तीन वृत्तियोंसे भी जुदा है, तो भी चैतन्य होनेसे यों समझा जाता है ।।३२ ।।

व्याख्यार्थ: गोपीजन जिसको 'मैं' कहती हैं वह देह है, यह तो प्रतीत मात्रसे भी समझा जा सकता है, किन्तु जीवको प्रतीतिसे नहीं जान सकते हैं, क्योंकि वह देहसे पृथक् है तथा शुद्ध ज्ञानमय और गुणोंसे परे है. यहां 'ज्ञान'

शब्दके साथ 'मयट्' प्रत्यय है, वह बाहुल्य अर्थमें है. कारण कि जो सच्चिदानन्दरूप है विषय सम्बन्धी ज्ञानका उसमें बाहुल्य नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह शुद्ध है, यदि होवे तो देखनेमें न आवे? क्योंकि शुद्ध आत्मा देखी नहीं जाती है. इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह इस देह आदि सङ्घातसे पृथक् है, जिस प्रकार सूर्य बालुकाको अपने प्रकाशसे तप्त करता है, किन्तु स्वयं उससे जुदा रहता है. यह जीव, देहादि सङ्घातसे पृथक् है तो उसकी उपपत्ति क्या है? इस पर कहते हैं कि वह जीव गुणोंका 'आश्रय' नहीं है, गुणोंके आश्रय दूसरे हैं. वह(जीव) उनसे जुदा है, इस विषयमें सर्वत्र अनुभवको ही प्रमाण करते हैं. जैसा कि कहा जाता है कि मायाकी गुणमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन वृत्तियां हैं. इसमें अलौकिक सामर्थ्य मायाकी वृत्तियोंके कारण है. यदि इस प्रकारका सामर्थ्य न होता तो, सुषुप्ति अवस्थामें परमानन्दकी स्फूर्ति न होवे. स्वप्नमें अनेक प्रकारके पदार्थोंका भान न होवे और जाग्रतमें चतुर्विध पुरुषार्थकी सिद्धि भी न होवे. इन तीनों वृत्तियोंमें सर्वत्र आत्माका सम्बन्ध है, एक वृत्तिमें दूसरी वृत्तिका अभाव होता है, जिससे एकके दूसरेमें नहीं दिखते हैं. निर्गुणके *तीन गुण हैं, जब इन मूल भूत गुणोंसे भी 'आत्मा' पृथक् है तो सङ्घातसे पृथक् होनेमें क्या कहना है? अतः सचमुच 'आत्मा' देहसे जुदा है, जिसका आशय है कि भगवान्का बल आत्मासे ही प्राप्त करने योग्य है न कि देह सहित आत्मासे वह प्राप्त होता है. जैसे कि उत्तम पदार्थ जो अपने भोगनेके योग्य होता हैं, वह अधमोंके साथ नहीं भोगा जा सकता है. इस प्रकारके सन्देश देनेका भगवान्का भावार्थ यह है कि प्रथम इस सङ्घातका त्याग करो, पश्चात् मेरा उपभोग करो. अर्थात् मेरे रस स्वरूपका पान शुद्ध आत्म स्वरूपसे ही किया जा सकता है ।।३२।।

*. 'निर्गुणस्य गुणास्त्रयः' इन गुणोंका 'माया' शब्दसे व्यवहार होता है– 'प्रकाश'

आभासार्थ : साधनकी आकांक्षा होने पर आगे उपदेश देते हैं:

येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रतिपद्यते ।।३३।।

श्लोकार्थ : जिस मनसे स्वप्नकी भांति उपस्थित मिथ्या रूपादि विषयोंका ध्यान किया जाता है, उस मनको रोकना चाहिए और इन्द्रियोंको भी संयम करना चाहिए; जिससे आत्मा जाग्रत होकर मुझे प्राप्त कर सके ।।३३ ।।

व्याख्यार्थ: पुरुष जिस मनसे इन्द्रियोंके अर्थ, जो रूपादि विषय हैं,

जिनका होना मिथ्या और असम्भावित है, उनका ध्यान करता है. जिनके होनेसे तो ध्यान आवश्यक है, यह भी तो पुरुषार्थ है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'स्वप्नवत्' दूसरे जन्मकी तरह, वह मनका ध्यान अन्य जन्मके उत्पत्तिकेलिये ही है. जैसे स्वप्न केवल सूचना करनेवाला है, वैसे ही यह ध्यान करनेवाला मन भी दूसरे जन्मकी सूचना करता है. यह ध्यान वास्तविक स्वरूपसे कुछ भी पुरुषार्थको सिद्ध नहीं करता है, अतः अनर्थकी सूचना करनेवाले इस [1]मनको विषयोंसे रोकना चाहिये. मन तब रोका जा सकता है जब इन्द्रियोंको विषयोंसे रोका जावे. इन्द्रियां ही मनको विषयोंमें घसीटकर ले जानेवाली हैं, अतः इन्द्रियोंको प्रयत्न पूर्वक प्रथम रोकना आवश्यक है. दोनोंके रोकनेसे क्या होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विनिन्द्रः प्रतिपद्यते' आत्माकी नींद नष्ट हो जायेगी तो वह परमात्माको पा सकेगी. निद्रा उड़ जानेसे स्वप्नकी स्थितिका नाश हो जायेगा, जो कि वह स्थिति पतन करानेवाली है, शेष दो सुषुप्ति और जाग्रत उत्तम हैं. एकमें आनन्द मिलता है और दूसरेमें पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, अतः स्वप्न ही व्यर्थ है. उस निष्फलताको मिटानेकेलिये पुरुषको निद्राका त्यागकर जागृत होना चाहिये. उस अवस्थामें समझ सकता है कि मैं यह हूं अर्थात् मैं आत्मा[2] हूं देह नहीं हूं. यों समझनेके अनन्तर ही भगवान्को उस आत्मस्वरूपसे पा सकता है ।।३३।।

१.विषयोंसे मनको रोकनेका आशय स्पष्ट करते हुवे श्रीप्रभुचरण टिप्पणीमें आज्ञा करते हैं कि प्रभुकी लीलामें अलौकिक भाव आना कठिन होता है, जिसका कारण मन लौकिक विषयासक्त है. वह मन ही अलौकिक लीलामें भी लौकिक भाववाला हो जाता है. वह लौकिक भाव जब निवृत्त होगा तब लीलामें अलौकिक भावना दृष्टि गोचर होगी, इसलिये मनको सर्व विषयोंसे मुक्त करना चाहिये. विषयोंसे मुक्त होकर जब मन अलौकिक भगवद्भाव भावित होगा, तब भगवान्का दर्शन कर सकेगा.

२.ब्रह्मका अंश जीव हूं.

आभासार्थ : वेद आदि शास्त्रोंमें आत्म स्वरूपके ज्ञानके लिए अनेक साधन कहे हैं. आप केवल मनके निरोधको ही साधन कैसे कहते हैं? जिसका उत्तर 'एतदन्तः' श्लोकसे देते है:

एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ।।३४।।

श्लोकार्थ : वेद, अष्टाङ्ग योग, साङ्ख्य, संन्यास, तपस्या, इन्द्रिय निग्रह

और सत्य; इन सबका अन्तिम फल विद्वानोंके लिए मनो निग्रह ही है. जैसे नदियां आखिर समुद्रमें ही जाकर गिरती हैं ।।३४ ।।

व्याख्यार्थ: वेद साधनोंका उपदेश देता है. उन साधनोंका भी अन्त मन निरोध ही है. श्रीमद्भागवत 'सर्वे मनोनिग्रह लक्षणन्ता' कहती है अर्थात् सर्व शास्त्रका अन्त मनोनिग्रहमें है. योगका प्रयोजन तो केवल मनको रोकना ही है. साङ्ख्य शास्त्र भी अध्यासकी निवृत्तिकेलिये उसके मूल कारण मनको ही बदलना है. लोग तो इस प्रकार नहीं मानते हैं, जिसके उत्तरमें कहा है कि यह उपाय बुद्धिमानोंकेलिये है. इसमें यह हेतु भी दिया है कि आत्माका सम्बन्ध मनके साथ ही है. मोक्ष फल देनेवाले स्वतन्त्र साधन भी सुने जाते हैं, जैसे कि संन्यास, तब बनबासीकेलिये, दम और इन्द्रिय-निग्रह गृहस्थके वास्ते, ब्रह्मचारीकेलिये वेदाध्ययनरूप सत्य कहा है. उन आश्रमादि धर्मोंका फलितार्थ मनोनिग्रह ही है. जिसमें हेतु देते हुवे दृष्टान्त कहते हैं 'समुद्रान्ता इवापगाः' नदियां पृथ्वी पर बहती रहती हैं, किन्तु उनका अन्त समुद्रमें ही है. यदि यों न हो तो वृक्षोंकी भांति पृथ्वी पर ही स्थिर रहे, किन्तु स्थिर न रहकर चलती-चलती समुद्रमें ही स्थिति करती हैं. इसी प्रकार देहमें प्रविष्ट जीव भी लौकिकमें रहकर वहांसे निकलनेकी इच्छासे सन्मार्गमें प्रवृत्त होकर संन्यास धारण करता है, वहां भी स्थिति न रहे, तदर्थ साक्षात् मनसे सम्बद्ध आत्माको छुड़ानेकेलिये जब मनका निग्रह करते हैं तब उसको आराम आता है ।।३४।।

आभासार्थ: इस प्रकार दूर रहनेको अभाव एवं वियोगकी उत्तमताका वास्तविक वर्णन कर, अब लौकिक प्रतीतिसे वियोग उत्तम नहीं है, किन्तु दूर रहनेको समझना कि हम भगवान्से पृथक् हैं इस प्रकारका वियोग उत्तम है, क्योंकि चार प्रकारके पुरुषार्थोंको सिद्ध करता है वर्णन ४ श्लोकोंमें करते हैं:

यत्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ।।३५।।

श्लोकार्थ: आपकी दृष्टिको जो प्रिय मैं हूं, वह आपसे दूर इसलिए हो रहा हूं कि आपके मनको अपनी तरफ खींच लूं; जिससे आप मेरा ध्यान करती रहें ।।३५ ।।

व्याख्यार्थ: गोपियोंका धर्म आदि चार पुरुषार्थ भगवान् ही हैं, किन्तु वह एक ही चतुर्विध पुरुषार्थरूप कैसे होंगें? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वे विशेष

प्रकारसे चतुर्विध पुरुषार्थरूप होते हैं. जैसे कि स्मृति विषय भी आप होते हैं, गुप्त रीतिसे रक्षा भी आप करते हैं, सर्व प्रकारकी कामनारूप भी आप ही हैं, सायुज्य दाता भी आप हैं, इस विशेष प्रकारसे गोपियोंका चतुर्विध पुरुषार्थ भगवान् ही हैं. 'तु' शब्द इसलिये दिया है कि प्रथमके कुछ श्लोकोंमें तत्वोंका निरूपण कर दिया, अब यहां चतुर्विध पुरुषार्थोंका निरूपण किया जाता है. मैं जो आपसे दूर रहता हूं, वह इसलिये कि आपका मन मेरे निकट हो, कारण कि जो दृष्टिसे दूर होता है वह मनके पास हो जाता है, क्योंकि वह प्रिय है, इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जब भगवान् दृष्टिसे देखे जाते हैं तब गोपिकाएं अपने धर्मोंको अथवा दृष्टिके धर्मोंको भगवान्में नियुक्त कर सकती हैं, किन्तु भगवान्के धर्मोंका ग्रहण नहीं कर सकती हैं. अतः प्यारेका कर्तव्य है कि वह वैसा उपाय करे जैसे उन(भगवान्)के धर्मोंको वे(गोपिकाएं ग्रहण) कर सकें. इसलिये भगवान् दूर रहकर गोपियोंके मनको अपनी तरफ खेंच रहे हैं जिससे मनमें भगवान्के पधारनेसे उनके धर्मोंको भी मन ग्रहण कर लेगा. इससे बताया कि योगादिसे जो मनका निरोध आदि होता है उससे भी यह अवस्था यथार्थ रीतिवाली उत्तम है. योगमें चक्षुके समान मन भी अपने धर्मोंको ही भगवान्में आरोपण करता है, किन्तु योगीको तो परमात्माकी मूर्त्तिके निर्माणकेलिये शास्त्रसे भगवान्के धर्मोंको ग्रहण करना पड़ता है. यह योगमें विशेष कर्म करना पड़ता है, क्योंकि वहां साक्षात् अनुभव वियोगके समान नहीं है, किन्तु विरहमें तो मनसे स्मरण होते ही स्वतः भगवान् स्वयं पधारकर ही अपने धर्मोंको स्थापित करते हैं, क्योंकि मनके धर्म दुर्बल हैं और भगवान्के धर्म प्रबल हैं, जिससे मैं प्रिय हूं इसलिये मैं दूर रहता हूं आत्मा मनसे सम्बद्ध है, इसलिये दूर रहे तो मन उसमें लगा रहे. विषयोंमें तो उनका(भगवान् तथा उनके धर्मोंका) अभाव ही है, इससे उनसे यदि आत्माका सम्बन्ध हो जाये तो अनर्थकी उत्पत्ति होगी. दूर रहनेका फल केवल मनको अपने पास खेंचना नहीं है, किन्तु अन्य भी है और वह यह है कि सदा मेरा ध्यान बना रहे, यही मुझे पसन्द है. इस प्रकार होनेसे यदि गोपियां मेरा ध्यान करती रहती हैं तो मैं भी उनसे रति करता हूं न कि अन्य प्रकारसे कारण कि मैं [१]अक्लिष्टकर्मा हूं, अतः स्वार्थकेलिये भी यों करता हूं.

गोपिकाओं और भगवान् दोनोंका सम्बन्ध कामके कारण है. वह काम मनमें रहता है. यदि मन उनसे दूर है, मान आदिसे भगवान्स सम्बन्ध छोड़ दिया

है, तो भगवान् भी छोड देते हैं ।।३५।।

१.यदि गोपियां मनसे ध्यान न करें तो रमणमें क्लेश होगा, क्योंकि सङ्घात रसात्मक नहीं है 'लेख'.

आभासार्थ : यदि गोपियां कह दें कि हमारा मन तो सदैव आपमें लगा हुआ है. यह आप क्यों कह रहे हो कि मन लगानेके वास्ते मैं यों कर रहा हूं. जिसका उत्तर 'यथा दूरचरे' श्लोकमें देते हैं.

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ।।३६।।

श्लोकार्थ : स्त्रियोंका चित्त, पति प्रदेशमें हो, उसमें जैसा रहता है वैसा समीप रहनेवाले, नेत्रसे देख जानेवाले पतिमें नहीं लगता है ।।३६।।

व्याख्यार्थ: यह गोपियोंका धर्म ही है, जो सर्वदा मुझे याद करती हैं. वैसे मेरा भी यह धर्म है जो उनको आनन्द देता हूं. वे दोनों(गोपियोंका स्मरण) और भगवान्का आनन्द दान तब ही बन सकते हैं जब मन मेरे साथ सम्बन्ध हो जावे, अन्य प्रकारसे नहीं. वह भी तब होता है जब मैं दूर रहूं यह धर्मका निरूपण किया.

अर्थ भी भगवान् ही हैं, किन्तु वह गुप्त ही रखने योग्य हैं. जैसे किसीको भी उसका पता न लगे और वह तब होता है जब मन निरन्तर उसमें लगा रहता है. उसको भी छिपाकर रखा जाता है. यदि थोड़ा सा भी प्रमाद हुआ तो अर्थ चला जायेगा, अतः पाक्षिक(कभी होनेवाले) विस्मरणात्मक प्रमादरूप दोषको मिटाना चाहिये. वह भी तब मिट सकता है, जब प्रेष्ठ दूर रहता है. कारण कि सन्निकर्ष रहनेसे दूर रहनेमें मनकी स्थिरता होती है, किन्तु दूर भी वैसे स्थानमें रहे वहां मनकी स्थिरता न हो जावे, अन्यथा मन वहां ही लग जावे अथवा निराश हो जावे, अतः प्रिय दूर हो तो मन सर्वदा उसमें स्थिर हो जाता है.

इसमें भी स्त्रियोंका मन पासमें रहनेसे शीघ्र ही मान आदि दोषवाला हो जाता है 'च' शब्दका आशय है कि इस प्रकार अन्य सम्बन्धी पुत्र आदिमें भी जैसे पिता तथा माता आदिका मन दूर होनेपर ही स्मरण करता है वैसे ही सान्निध्यमें रहनेवाले पुत्रका स्मरण नहीं होता है. इसी भांति अन्योंमें भी समझना चाहिये. सन्निधिमें चित्त वैसे स्मरण नहीं करता है, क्योंकि नेत्रसे जो देखा जाता है, वह बाहर ही देखा जाता है. उसका बाहरका ही सम्बन्ध होता है भीतरका नहीं होता है, इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयको देखती है. जैसे नेत्र बाहरकी

इन्द्रिये हैं, वे बाहरकी वस्तुको देखती हैं और मन अन्दरकी इन्द्रिय है अतः भीतरकी वस्तु देख सकती है मन बलिष्ठ होनेसे और आन्तर भगवदीयत्व होनेसे वह उसको देख सकता है. प्रत्यक्ष नेत्र आदिसे देखते हुए भी मन दूसरेमें चला जाता है सो वह नहीं जाना चाहिये ।।३६।।

आभासार्थ: यदि गोपियां कहने लगें कि हम तो आपकी प्राप्तिकेलिए निरन्तर चिन्ता कर रही हैं, तो फिर मनके स्थापन और निरन्तर सम्बन्धसे क्या होगा? लोग तो कामकेलिए व्यवहारसे जो भी सिद्ध हो वैसा भी प्रयत्न करते हैं. यदि उसमें थोड़ासा भी मन इधर-उधर हो जाय तो उसमें निन्दा नहीं है. इसपर 'मय्यावेश्य' श्लोकमें उत्तर देते हैं.

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ ।।३७।।

श्लोकार्थ : जिसने सब प्रकारके विषय सम्बन्धी वृत्तियोंको छोड़ दिया है, वैसा जो सम्पूर्ण शुद्ध मन मुझमें लगा कर यदि मुझे नित्य स्मरण करोगी तो शीघ्र ही मुझको प्राप्त होगी ।।३७ ।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि मैं सम्पूर्ण [१]अनुग्रहसे ही प्राप्त होता हूं तो भी सम्पूर्ण साधनोंसे ही प्राप्त होने योग्य हूं. वह साधनोंकी सम्पूर्णता विरह अवस्थामें ही होती है. कारण कि [२]अन्य अवस्थामें मनकी पूर्णता नहीं होती है. मन सम्पूर्ण तब बनता है, जब वह दश वृत्तियोंका त्याग कर दे. यद्यपि ये(वृत्तियां) ११,१२, भी हैं तथा वे स्वाभाविक हैं तथापि गुणकृत तो दश ही वृत्तियां हैं. वे भ्रमर वाक्योंमें वर्णितकी गई हैं. ''एकादशामी मनसो हि वृत्तयां यः'' यहां स्वाभाविक वृत्तियां भी कहीं हैं. यदि सब वृत्तियोंका नाश होगा तो स्वरूपका ही नाश हो जायेगा. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि मनकी प्रसिद्धि अन्नमयसे है, न कि वृत्तिरूपसे प्रसिद्ध है. मन, वृत्ति रहित होनेसे कामनाओंसे मुक्त हो जाता है, जिससे शुद्ध होकर रहता है. वह वृत्ति रहित होते हुए भी स्वरूपसे सिद्ध है. अर्थात् वृत्ति रहित होनेसे उसका स्वरूप नाश नहीं होता है. स्वरूपके नाश न होनेमें दूसरा कारण देते हैं कि 'इदानीं तु अहं प्रविष्ट' अब तो मनमें मैं प्रविष्ट हूं, अतः उसके स्वरूपका नाश नहीं हो सकता है. इसके अनन्तर आप बल पूर्वक मनको मुझमें प्रविष्टकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेंगी.

१.श्रुतियों तथा अग्निकुमारोंको भगवान्ने वरदान दिया, वही प्रसाद है, जिससे उनकी

प्राप्ति हुई है. 'प्रकाश'.

२.जब विरह अवस्था नहीं रहती है.

वस्तुके विचार करनेसे ज्ञान होता है कि मन कोई अन्य वस्तु है, उसका आपमें प्रवेश होनेसे हमको भगवत्प्राप्ति कैसे होगी? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अनुस्मरन्त्यः' स्मरण करती हुई मुझे प्राप्त करती हैं. कारण कि मन 'द्वारा आत्मा भी स्मरण करती है, यद्यपि स्मरण चित्तका धर्म है, किन्तु यहां 'अनु' देकर यह बताया है कि मनके अनन्तर आत्मा भी स्मरण करती है. यों कहनेसे भगवान्का किया हुआ भक्तका किया हुआ दोनों प्रकारका सम्बन्ध दिखाया है, जैसा कि मनके द्वारा स्वयं गोपिकाएं भगवान्में प्रविष्ट हुई हैं और स्मरणसे भगवान् गोपियोंमें प्रविष्ट हुए हैं. यों होनेपर शीघ्र मुझे प्राप्त होगी, जीव और भगवान्का परम्परासे सम्बन्ध है. किन्तु बीचमें मन भी विलीन हो जाता है, मन(क्रियाशक्ति[1] रूप है)के लीन हो जानेपर [2]चित्त भी विलीन हो जाता है जिससे शीघ्र ही भगवत् प्राप्ति होती है. भगवान् ही फलरूप हैं किन्तु मुख्य और गौण भेदसे. जब मन कामसे [3]आत्मगामी होता है अर्थात् जब मन सीधे आत्मासे आनन्द चाहता है, तब भगवान् मुख्य फलरूप होते हैं. जब मन, इन्द्रियों द्वारा भगवान्से आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तब भगवान् गौण फलरूप होते हैं ।।३७।।

१.ज्ञान शक्तिरूप है, दोनोंके बीचमें होनेसे जीव और ब्रह्मके मिलनेमें प्रतिबन्ध पड़ता है उन दोनोंके विलीन हो जानेपर जीवको भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो जाती 'लेख'.

२.आत्मगामीका आशय देते हैं कि कामसे जब मन आत्मामें जाता है तब भगवान् कामरूप हैं और जब पूर्वकी तरह बाह्य देहमें सम्बन्ध होता है तब मोक्षरूप हैं. 'प्रकाश'.

आभासार्थ : मुख्य तथा गौण भावका उदाहरण देकर मोक्षका प्रकार इस 'या मया' श्लोकमें कहते हैं.

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ।।३८।।

श्लोकार्थ : इस वनमें रात्रिके समय खेलते हुए मैंने जो लीलाकी उस लीलामें वे अन्तर्गृहगता होनेसे आ न सकीं, वे वहीं रही; किन्तु वे भाग्यवती हैं, कारण कि मेरे पराक्रमोंके चिन्तनसे वे मुझे प्राप्त हो गई ।।३८ ।।

व्याख्यार्थ: आप रासमें आ गईं और वे नहीं आईं घरमें ही स्थित हो गई

थीं, किन्तु उन्होंने उसी समय सर्व प्रकारसे मुझे+२ प्राप्त कर लिया. आप लोगोंने मुझे उस समय नहीं पाया, इस उदाहरणसे आपको भी मुझे प्राप्त करना चाहिये, इससे मेरेलिये जो प्राणोंको धारण कर रही हो, यह आपका विचार निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार करनेसे मुख्य फलकी प्राप्ति नहीं होगी. देहादिकी स्थापना तो साधनरूप सेवाकेलिये ही शास्त्रसे सिद्ध है. यदि देहादि भाव होते हुवे भी मुख्य फलकी प्राप्ति होती हो तो इस प्रकार आई हुई आपको क्लेश न चाहिये, किन्तु वह हुआ है, इस प्रकार अनुभवसे सिद्ध है. वे अन्तर्गृहगता तो सम्बन्धियोंके रोकनेसे रुक गई थीं. उनकी स्तुति कैसे कर रहे हो ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'कल्याण्यः' उनका बड़ा भाग्य है, क्योंकि 'दुरितके कारण प्रतिबन्ध हुवा, जिससे उत्पन्न विरहाग्निसे वहां हो जो पाप थे वे नष्ट हो गये. जैसे कांटेसे कांटा निकाला जाता है वैसे ही देहके पाप आदि भस्म हो गये और सायुज्यको प्राप्त हो गईं. तुमको तो दुरितने इस अवस्थामें डाला है, अतः मेरी शिक्षाके अनुसार पहले दोषका त्यागकर उस (जिस अवस्थामें आत्मगामी होता हूं उस)अवस्थाको प्राप्त करनेके अनन्तर मुझे पाओगी. 'राज्या क्रीडता मया सह अलब्ध रासाः' रात्रिके समय क्रीड़ा करनेवाले मेरे साथ जिन्होंने रासमें भाग नहीं लिया उनको सायुज्य ही मिला. क्रीड़ा तो स्वतः ही सिद्ध है, इसमें उनका कोई प्रयास नहीं है. यों कहनेसे यह भी बताया कि क्रीड़ा नित्य है. इस क्रीड़ाको करते समय उपस्थितोंकी इच्छा हो जाये तो कृपाकर द्वितीय दलका भी अनुभव करा देवे. क्रीड़ा रात्रिके समय करनेका आशय है कि किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न होवे, वनमें क्रीड़ा करनेका आशय यह है कि वहां सर्व प्रकारकी क्रीड़ाकेलिये साधन सम्पत्ति मौजूद रहती है. इसी वनमें कहनेका भाव यह है कि भगवान् यहीं स्थित होकर कह रहे हैं. 'अस्मिन् एव वने'का भाव है कि यह व्रज सम्बन्धी वन है. आप(गोपयां) भी व्रजमें स्थित हो, इसलिये आपके आग्रहसे मैं भी यहीं स्थित हूं. अथवा मैंने आग्रह पूर्वक तुमको यहां स्थापित किया है और आपका सम्बन्धी भगवान् भी व्रज सम्बन्धी है न कि मथुरा सम्बन्धी है और इसके सिवाय यह भी कारण है कि यह व्रजका स्थान ही फलका अधिकरण है, अर्थात् इस भूमि पर ही अनुपम फलका आनन्द प्राप्त होता है. उनका (अन्तर्गृहगता ओंका) भाग्य भोग करनेसे नाश नहीं हुआ है, अतः वे पूर्ण भाग्यवाली हैं, जिसका कारण यह है कि उनको मेरे पास आनेकी वास्तविक उत्कण्ठा थी, किन्तु आनेमें सम्बन्धियोंने रुकावट डाली, जिससे उन्होंने उस प्रतिबन्धको नाश करनेकेलिये मेरे

पराक्रमोंका स्मरण किया. भगवान्‌के गुण क्लिष्ट(क्लेश करनेवाले) नहीं हैं तो भी वीर्यरूप हैं. उस वीर्यरूप स्मरणने उनका देह उनके पतियोंको ही दिलाकर, जैसे पुत्रके दोषोंको नाशकर पुत्रको अपने पास लाया जाता है वैसे ही स्मरणने उनको भगवान्‌के पास पहुंचा दिया. यों कहनेका भाव यह है कि जीव जो मेरे भक्त हैं, उनको मेरे पराक्रमरूप गुणोंका चिन्तन करना ही उचित है, न कि मुझमें दोष भावना उचित है[२] ।।३८।।

१.भगवदिच्छा–लेखकारका भावार्थ है अन्तर्गृहगताको भगवदिच्छासे प्रतिबन्ध इसलिये हुआ कि उनको उत्तर दल स्वरूपका दान न कर पूर्वदल स्वरूपमें सायुज्य देना था. अन्य गोपियोंको जो भगवान्‌के पास पहुंच गईं, उनको उत्तर दल स्वरूपका दान देनेकी इच्छा थी, इसलिए उनको प्रतिबन्ध नहीं हुआ, विरहक्लेश भोगना पडा.

२.श्रीप्रभुचरणोंका स्वतन्त्र लेख:

'अचिरान्मामवाप्स्यथ सम् अन्तर्बहिगतावत्....' इस पङ्क्तिके कहनेका भावार्थ यदि पहलेकी भांति मिलनेका है, तो उसको हम स्वीकार करते हैं, यदि अन्तर्गृहगताओंके समान प्राप्ति कही है तो वह अनिष्टकर होनेसे समाधान कारक नहीं है. इसलिये इस श्लोकमें कहते हैं कि व्रजमें स्थित जिन गोपियोंने, वनमें स्थित मुझे प्राप्त कर लिया, उनकी देहका त्याग स्पष्ट नहीं कहा, क्योंकि आक्षेपसे लभ्य है तथा अमङ्गल है. जिस समय रात्रिमें, मैं वनमें रमण कर रहा था, उस समय उनको रासका सुख नहीं मिला उस समय वे व्रजमें थी तथापि रास समाप्तिके बाद वनमें आकर मुझे प्राप्त हुईं. कारण कि वे रासका आनन्द नहीं ले सकीं थीं, आपने रासका आनन्द ले लिया है, अतः उनकी भांति आपकी गति नहीं होगी. इसी कारणसे वे महा भाग्यशाली हैं, यों कहनेका यह भाव है कि रासके समय वनमें आईं गोपियोंमें रास द्वारा पूर्ण स्वरूपानन्दका रस स्थापित कर दिया है. वह ऐसा स्वरूपात्मक है जिससे ही विरहमें भी जीवन टिका हुआ है. उसमें विपरीतता नहीं आता है, अर्थात् विरहमें प्राण निकल नहीं जाते हैं. इस प्रकारका भाव होना अति कठिन है, इसलिये ही 'अतिकृच्छ्रेण, प्रायः, कथञ्चन' ये तीन पद कहे हैं, अर्थात् बहुत कठिनाईसे जैसे तैसे कर प्राणोंको धारण किया है और फिर विशेष प्राण धारणका हेतु प्यारेके आये हुवे सन्देश भी प्राणधारणमें हेतु हुवे हैं.

विशेष टिप्पणीजी देखिये–अनुवादक.

आभासार्थ : इस प्रकारके उपदेशसे उनके दोष निवृत्त हो गए जिनका वर्णन निम्न १५ श्लोकोंमें करते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।

ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ।।३९।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि व्रजकी स्त्रियां इस प्रकारके अपने प्रीतमके सन्देशको सुनकर प्रसन्न हुई, उस सन्देशसे भगवान्‌की स्मृति आ जानेसे उद्‌धवजीको कहने लगी ।।३९ ।।

व्याख्यार्थ: दोष निवृत्तिका वर्णन १५ श्लोकोंमें करनेका कारण बताते हैं. १५ श्लोंकोंमेसे १ श्लोक उपक्रमका है, शेष १४ श्लोक दोष निवृत्तके हैं, १४ इसलिये कहे हैं कि गोपियां विद्या रूपा है और विद्याऐं १४ ही हैं. जिससे सर्व कलाएं उनमें सिद्‌ध हैं, इस प्रकारका कहना प्रतारण(ठगने)केलिये है, यों न समझना, क्योंकि यह प्रीतमका आदेश है, यदि नहीं मानेंगी तो आदेश होनेसे दण्डकी भी इसमें सूचना समझनी चाहिये. 'व्रजयोषित' शब्दका भाव है कि ये स्त्रियां शुद्‌ध तथा कापट्‌य रहित हैं. वैसी स्त्रियोंके ऊपर भगवान्‌ने अनुग्रह किया है, अतः उद्‌धवजीने जो आदेश सुनाया उसमें जो फल कहा, वह मानो अपनेमें हुआ है. यों जतानेकेलिये उद्‌धवजीको कहने लगी कि उद्‌धवजी उत्सवरूप हैं. उनसे बातचीत करनेमें प्यारेकी स्मृति दृढ होती है. वे उपदेशसे ही प्रसन्न हो गईं, जिससे पहले जो क्रोध आदि दोषोंसे क्लेश हुआ था, उसे छोड़ दिया. प्रथम क्लेश और अब प्रेम कैसे हुआ? विरह तो अब भी समान अर्थात् वैसा ही है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि जो अर्थ पहले जानती थी उसे मध्यमें काल आदि दोषोंसे भूल गईं थीं, जिससे दूसरे प्रकारका भाव जग गया था. अब उनके वैसे सन्देशसे पुनः स्मृतिसे भूलें दूर कर दीं ।।३९।।

आभासार्थ : भगवान्‌के पराक्रमोंका स्मरण करना आवश्यक है. इस कृत्यका अभिनन्दन कर आगे भी वीर्योंके स्मरणार्थ भगवत्सम्बन्धी कुशल पूछती हैं 'दिष्टय' श्लोकसे.

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।

दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ।।४०।।

श्लोकार्थ : गोपियां कहने लगीं कि यदुओंका शत्रु, कंस भ्राता समेत मरा, यह अच्छा हुआ. सर्व अर्थ जिनके सिद्‌ध हुए हैं वैसे आप्त जनोंके साथ

भगवान् अब तो आनन्दमें हैं, यह भी प्रसन्नता है ।।४० ।।

व्याख्यार्थ: जो-जो भाव दोष रहित हैं, वे पुरुषार्थको सिद्ध करते हैं. उन सिद्ध हुवे पुरुषार्थोंका कीर्तन करती हैं. प्रसन्नता है कि हमारे भाग्यसे कंस मरा है. कंसके मरनेमें कारण उसका भाग्य ही है, अतः भगवान् पर मामेके मारनेका दोष नहीं है.

जिस समय उद्धवजी आये थे उस समय गोपियोंने कहा था कि क्या अक्रूर आ गया? इस प्रकारका दोष गोपियोंमें आ गया था, जिसको यहां दिखाया है. कंस, अपना अथवा अन्योंका शत्रु नहीं था, किन्तु यादवोंका विशेष शत्रु था. न केवल आप कंस शत्रु था, किन्तु उसके भाई भी शत्रु थे, इसलिये वैसे प्रसङ्ग आने पर उनको भी मारा, जिससे भ्राताके वधका निराकरण किया है. वे भाई तो ऐसे पापी थे जो कंसका भी हित नहीं करते थे, किन्तु उससे पाप कर्म करवाते थे. जिससे उसके परलोकका नाश हो, इस कारणसे वैसे मारनेके ही योग्य हैं. भगवत्कृपासे जिन बान्धवोंके सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो गये हैं अर्थात् उनके गये हुवे सर्व पदार्थ उनको प्राप्त हो गये हैं, जिसके प्राप्त होनेमें कालका अतिक्रम तो स्वतः सिद्ध ही है. इससे उन बन्धुओंका दुःख मिटाकर सुख सम्पादनकर आगे भी उनका हित करनेकेलिये आप सब तो कुशल पूर्वक बिराजते हैं, यह आनन्दका विषय है, अर्थात् बधाई है. इस प्रकार यह कहना केवल अनुवाद मात्र है, कारण कि भगवान् तो 'अच्युत' हैं ही, जिससे उनमें अन्य(अकुशलताकी) प्रकारकी सम्भावना भी नहीं हो सकती है ।।४०।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्का माहात्म्य ज्ञान तथा सर्वोपकारकत्व निरूपण किया. अब 'कच्चिद्गदाग्रज' श्लोकमें अपना मथुराकी स्त्रियोंसे मात्सर्यका अभाव बतानेको कहा हैं:

कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ।।४१।।

श्लोकार्थ : हे सौम्य! जिस गदाग्रजकी हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य व उदार निरीक्षणसे पूजाकी है,(क्या) वे नगरकी स्त्रियोंमें प्रीति करते हैं? ।।४१ ।।

व्याख्यार्थ: 'गदाग्रज' कहनेसे यह बताया है कि इनमें वंशको पैदा करनेकी सामर्थ्य है, भगवान् मथुरा पधारे तब रोहिणीसे गदका जन्म हुआ है, यों

कहकर यह प्रकट किया है कि भगवान् मथुरामें प्रद्युम्नरूपसे बिराजते हैं. इस कारणसे ही स्त्रियोंकी सर्व प्रकारकी कामनाओंके पूरक हैं, जिससे नगरकी स्त्रियोंमें प्रीति करनेका प्रश्न बन सकता है. उद्धवजीको हे सौम्य यह सम्बोधन देकर गोपियोंने इस शङ्काका निवारण किया है कि हमारी मथुराकी स्त्रियोंसे कोई ईर्ष्या नहीं है, अतः हम प्रेमसे प्रश्न करती हैं कि भगवान् नगरकी स्त्रियोंसे प्रेम करते हैं? वे नगरकी स्त्रियां धृष्टतासे भगवान्के पास कैसे आवेंगी? इस शङ्काका उत्तर देती हैं कि हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य व उदार निरीक्षणसे उनको पूजा है. लोक तो जिनकी पूजा हो गई उनको पूजते हैं, प्रथम तो हमने स्निग्ध आदि भावोंसे उनका अर्चन किया है. यहां गोपियोंने पूजन कहा, न कि भोग कहा, जिससे अपनेमें कामका अभाव दिखाया है, किन्तु यह भी बताया है कि भगवान्का स्त्रियोंसे प्रीति करनेका अभ्यास भी है. पुरुष, साधारण रसमें भी किसी समय प्रवृत्त हो जाता है, इस प्रकार भगवान्की हममें प्रवृत्ति हो गई थी. अब तो यहांसे उत्तम स्त्रियां मिली हैं, किन्तु भगवान्की उनमें स्वतः प्रवृत्ति नहीं होगी, जो वे चाहेंगो तो प्रीति करेंगे, इस कारणसे गोपियां प्रश्न करती हैं कि उनसे प्रीति करते हैं कि नहीं? प्रश्न करनेका अन्य कारण भी बताते हैं कि ब्रह्मानन्दरूप आनन्दकी तुलनामें स्त्रीसे प्राप्त आनन्द अधम प्रकारका है, जिससे उस अधम आनन्दसे निवृत्ति भी हो सकती है. यदि वे आग्रह करें तो प्रवृत्ति भी हो सकती है, अतः बताईये कि क्या हुआ? अर्थात् प्रीति करते हैं वा नहीं? प्रथम निर्लज्जता सिद्धिकेलिये भगवान्में स्नेह दृष्टि होती है, अर्थात् भगवान्को स्नेह युक्त होकर देखें, जिससे भगवान्का उदारता-धर्म हममें आ गया है. इस प्रकारकी उदार दृष्टिसे देखने लगे, वह उदार दृष्टि ऐसी है कि मध्यमें शब्दका व्यवधान होते हुवे भी भगवान्को आनन्द देनेवाली है तथा सबको सर्व पुरुषार्थ देनेवाली है. इस प्रकारकी उदार दृष्टि होने पर मध्यमें हास करे, वह हास अपने पुरुषार्थकी सूचना करनेवाला है. इस प्रकारका हास प्रथम प्रवृत्तिमें होता है, पश्चात् कृतार्थता होती है, जिस समय नेत्रोंमें लज्जा प्रकट होती है यही कृतार्थताको सूचित करती है. इस प्रकारके ईक्षणसे भगवान्की पूजाकी है. दृष्टि स्नेह द्वारा ही भगवान्को अपनी ओर खेंचती है, अर्थात् भगवान् प्रथम स्नेहसे सर्वाकार करते हैं. जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब प्रथम प्रवृत्ति होती है. उस समय लज्जा सहित हास होता है, अनन्तर अतिशय आनन्द होने पर हंसी आती है. पश्चात् भगवान् सर्व कलाओं

का दान करते हैं, जिससे यह लीला उदार कही जाती है एवं भगवान्की उदारता प्रकट होती है ।।४१।।

आभासार्थ : भगवान् तो निर्लेप हैं, वे इस प्रकारकी लीला कैसे करेंगे? इस प्रकारकी शंकाका 'कथं रति' श्लोकमें अभिप्राय बताती हैं.

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम्।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभावितः ।।४२।।

श्लोकार्थ : भगवान् रतिके भेदोंको विशेष प्रकारसे जानते हैं तथा उत्तम स्त्रियोंके प्रीतिके विषय हैं. उनके(नगरकी उत्तम स्त्रियों के) वाक्य एवं विलासोंसे अनुभावित होने पर कैसे उनमें प्रेम न बढ़ावेंगे? ।।४२ ।।

व्याख्यार्थ: सर्व प्रकारके रतिके भेदोंको भगवान् जानते हैं, नगरकी स्त्रियोंमें ही नागरिक बन्ध होता है, यदि यों(वे) न कर सकें तो यह सर्व प्रकारके रतिभेदका ज्ञान व्यर्थ हो जावे. कभी तो वह अवश्य प्रकट करना चाहिये. वह बन्ध स्वकीयओंमें नहीं हो सकता है और विशेष यह है कि वे उत्तम स्त्रियोंके प्रीतिपात्र हैं. यदि वे वैसा न करें तो उनका उत्तमपन ही चला जावे, इसी कारणसे उन स्त्रियोंके जन्मको सफल करने और अपने ज्ञानकी सफलताके वास्ते निर्लेप होते हुवे भी उस रसमें प्रवेश क्यों न करें? रति विशेषका ज्ञान तथा पूरकी स्त्रियोंका प्रियत्व ये दोनों यों करनेमें कारण है और भगवान्का भी वैसा ही अभिप्राय है. निरन्तर प्रीति बढती ही रहे, जिसको 'अनुबन्ध' कहा जाता ह. केवल वीर्य विमोकसे प्रीति नहीं बढती है, बीज बोनेसे उत्पन्न छोटे अङ्कुरमें भी प्रीति नहीं बढती है. जैसी परिपक्व धान एवं सर्व गुण सम्पन्न पुत्रमें प्रीति होती है और विशेष बढती भी है, वैसे ही यहां भी निरन्तर अनुबन्धके कारण भगवान् उनके प्रेममें कैसे बद्ध न होंगे? प्रीति हो, किन्तु प्रीतिके पोषक गुणोंका अभाव होवे तो जैसे मूर्ख पुत्र जो पिताके प्रेमका पोषक नहीं है तो उसमें पिताकी प्रीति नहीं बढती है. इसके उत्तरमें कहती हैं कि उनके वाक्य और विलास एवं मनका रञ्जन करनेका ढङ्ग ऐसा है, जिसने काया, वाणी तथा मनके उत्तम धर्मोंसे अनुभव करा दिया है अथवा भाव भुक्त (पुष्पादि)द्रव्योंसे प्रभावित किया है. जो रस हृदयके भीतर प्रवेश हुआ वह अपना प्रभाव प्रकट करेगा ही, वे वाक्य उद्दीपन करनेवाले हैं, रसका प्रभाव ही ऐसा है, जो प्रीतिको निरन्तर बढाता ही रहता है, अतः भगवान् रति विशेषज्ञ होनेसे तथा पुरकी स्त्रियोंके प्रीतम होनेसे

अपना वीर्य दोनों शक्तिओंमें विभाजितकर कृष्णरूपसे आविर्भूत हुवे हैं. वैसे स्वरूपका सम्यक् प्रकारसे अनुभव किया है, जिससे गोपिकाओंने निर्दोष सर्व गुणोंकी सिद्धि प्राप्तकी है ।।४२।।

आभासार्थ : भगवान् तो अब उपदेश देकर हमारे गुरु बने हैं, हमको तो पूर्वकी वासनासे उनकी पूर्वावस्था अवश्य स्मरण करनी चाहिए यों करनेसे यदि भगवान् उस भावको छोड़ देते हैं तो हम लोगोंका इसमें अपराध न होगा, जिससे भगवान्को उस अवस्थाका स्मरण है वा नहीं ? 'अपि स्मरति' श्लोकसे पूछती हैं:

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ।।४३।।

श्लोकार्थ : हे साधु! गोविन्द भगवान्! नगरकी स्त्रियोंकी सभामें स्वच्छन्द बातचीत करते हुए किसी प्रसङ्गमें हम गांव वालियोंको भी कभी याद करते हैं ? ।।४३ ।।

व्याख्यार्थ: यह प्रश्न सम्भावनासे किया है, यदि आपका स्मरण उनको न होता तो उपदेशकेलिये मुझे कैसे भेजते ? जिसके उत्तरमें कहते हैं जब हमको शास्त्रार्थका ज्ञान करानेका विचार करते होंगे उस समय हमको याद करते होंगे, जिससे आपको यहां उपदेशकेलिये भेजा है, किन्तु हमारा प्रश्न है, कि जब नगरकी चतुर स्त्रियोंसे बातचीत करते हैं उस समय हम गवांरनियोंका स्मरण करते हैं कि नहीं ?

यदि आप कहो कि जो इस प्रकारका उपदेश देनेवाले हैं, वे आपको उस समय स्मरण करेंगे, ऐसी सम्भावना तुम कैसे करती हो ? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि 'गोविन्द' हैं अर्थात् हमारे इन्द्र हैं, इन्द्रपनके कारण ही हमारा उपयोग किया है.(यों कहकर अपनेमें कामका अभाव सिद्ध किया–प्रकाशक) उस वक्त स्मरण करनेका हम इसलिये पूछती हैं कि संयोग रसका हमारे साथ अनुभव किया है वैसा वहां नागर स्त्रियोंसे संलापादि समयमें अनुभव करते हैं, तो यह प्रकृति सिद्ध है कि जिसका अनुभव किया हुआ है वैसा ही विषय आवे तो पूर्व अनुभूतका स्मरण हो आता है, अतः आप बताईये कि उस समय कभी स्मरण होता है कि नहीं ? उस वक्त भगवान् अपनी इच्छावाले थे तथा सत्यसङ्कल्प थे, जिससे वहां उस अवस्थाका प्रादुर्भाव भी कर सकते हैं और विशेष यह है कि व्यावर्तकसे हमारा स्मरण उस समय आवश्यक है, उसका कारण कहती हैं कि 'ग्राम्याः' हम

गांवकी स्त्रियां गवांरिन हैं, अतः ग्राम्य बन्धमें ही हम प्रसन्न हो जाती हैं. यदि नगरकी स्त्रियोंसे वैसा बन्ध किया तो वे कह देंगी कि यह बन्ध तो हमारे योग्य नहीं है अन्य प्रकारका है, अर्थात् ग्रामकी गोपियोंके योग्य यह बन्ध है. जब स्वेच्छा पूर्वक कथा कहते हैं तब उस कथामें हमें स्मरण करते हैं? इसके उत्तरमें यदि आप कहो कि इस गुप्त विषयको मैं कैसे जानूं? इसके उत्तरमें कहती हैं कि'हे साधो आप साधु हैं, भगवान् सर्वका उपकार करनेवाले हैं, अतः गुह्य बात भी अपने प्रेमी विकार रहित अन्तरङ्ग साधु पुरुषको बताते हैं, इसलिये आपको इसका ज्ञान अवश्य होगा, जिससे ही हम आपसे पूछ रहीं हैं ।।४३।।

आभासार्थ: पूर्वकी भांति(क्या) लीलाओंको भी स्मरण करते हैं? यों विशेष प्रकारसे 'ताः किं निशाः' श्लोकसे पूछती हैं.

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिर्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्यामस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ।।४४।।

श्लोकार्थ: कुमुद, कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमासे सुशोभित वृन्दावनमें नूपुरकी झंकारवाली, रास मण्डलीमें, हमारे साथ भगवान्ने जिन रात्रियोंमें रमण किया था, उस वक्त हमने उनकी मनोहर स्तुतिकी थी, उन रातोंको भी कभी भगवान् याद करते हैं? ।।४४।।

व्याख्यार्थ: ऊपर कहे हुवे धर्मोंसे युक्त हमको यदि उन रात्रियोंके साथ, स्मरण करते हैं तो जाना जाता है; कि भगवान् हमारे पर प्रसन्न हैं तब तो अब जो उपदेश भेजकर गुरुजी बने हैं, उसकी दक्षिणामें कुछ भी देना न पड़ेगा, वे रातें वरमें दी थीं, जिनमें रमण किया था तथा अबकी रातें नहीं, जिनमें आप(वे) हमारे पास नहीं हैं, काल और देश दोनों विद्यमान हैं, किन्तु रमणका अभाव है, जिससे बार-बार स्मरण होता है. तब हम प्रियायें थीं अब शिष्यायें हैं. जिन रात्रियोंमें हमसे रमण किया था, उन रात्रियोंमें वह स्थान भी रमणके योग्य वृन्दावन था. जिसमें स्वच्छन्द प्रकारसे लीला हो सकती थी; क्योंकि वहां किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं था. इस प्रकार नगरोंमें लीला नहीं हो सकती है. वह वृन्दावन रमण स्थान क्यों था? उसके गुण बताते हैं कि जिसको कुमुद, कुन्द और शशाङ्क(चन्द्रमा: जिसके मध्यमें खरगोशका चिह्न है) सुशोभित कर रहे हैं. 'क्वचिद्दोषोऽपि अन्यत्र गुणः' एक स्थान पर जो दोष है, वही दूसरे स्थान पर गुण होता है. यद्यपि शशाङ्क होनेसे चन्द्र कलङ्कित है, किन्तु यहां वही कामको उद्बोध करानेवाला

होनेसे गुणरूप है. 'कुमुद' पुष्प भी रात्रिकी विकासवाले होते हैं. सामग्री सहित चन्द्रमा रतिकी वृद्धि करता है, यह जतानेकेलिये ही यह प्रक्रिया बताई है. कुन्द पुष्प सब कालोंमें खिले रहते हैं. रात्रिके विशेष पुष्प साधारण है, इनका विकास करनेवाला तथा रतिकी वृद्धि करनेवाला चन्द्र है. उसमें भी रसकी उत्पत्तिकेलिये जहां झन्कार युक्त नूपुरवाली स्त्रियोंका रास हो रहा है, जिसमें हम जिन प्रभुको मनहर कथासे स्तुति कर रही हैं, वैसी रमणवाली रात्रियोंको अचानक भी स्मरण करते हैं? कारण कि ऐसी अवस्था दुर्लभ है. जो अभी भी यों लीला होवे तो हम मनहर कथाओंसे उनकी स्तुति करें. पश्चात् लौकिक भी करें. अर्थात् बाह्य रमण हमारे साथ करें. यों कहकर हमने प्रमाण बता दिया है. चरणोंमें 'नूपुर' शब्द कर रहे हैं, जिससे यह बताया गया है कि भगवान् आलम्बन आदि भाव युक्त हैं. प्यारे न हमको नृत्य कराया और हमने नृत्य गीत आदिसे प्रीतमकी आराधनाकी है. यदि इसको याद करते होंगे तो साधन रहित होते हुवे भी हम कृतार्थ हो जायेंगी. इस प्रकार कहनेका तात्पर्य है कि हमारे दोष निवृत्त हो गये हैं. भगवान्के मनका निग्रह होना भी हमको इष्ट नहीं है ।।४४।।

आभासार्थ : भगवान्ने जिस प्रकारका उपदेश दिया है, वैसी हम बनेंगी ही, किन्तु यह तो बताओ कि ये पूर्वकी भांति फिर क्या कृपा करेंगे? इस अभिप्रायको 'अप्येष्यतीह' श्लोकमें प्रकट करते हैं.

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।
सञ्जीवयन् तु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ।।४५।।

श्लोकार्थ : जैसे इन्द्र मेघोंसे वनको जीवित करता है, वैसे ही प्रभुकृत शोकसे सन्तप्त हमको अपने श्रीअङ्गोंके स्पर्श आदिसे जीवित करनेके लिए क्या यहां पधारेंगे? ।।४५ ।।

व्याख्यार्थ: आपका केवल उपदेश देनेमें ही तात्पर्य है और कृपा नहीं करती है तो 'नो चेद्वयं' यह वाक्य सुनकर फिर भोग करना स्वीकार क्यों किया? इस कारणसे उत्कट कामको जब मिटाकर कोमल करेंगे, तब उपदेशका फल होगा; यह कहनेसे फिर पहलेकी भांति अपनी इच्छा प्रकटकी है. वहां+१ जाने पर सुख नहीं मिलेगा. यों हमने समझ लिया है, कारण कि वहां स्वच्छन्दताका अभाव रहेगा. आप न जाओगी तो भला ईश्वर कैसे पधारेंगे? इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'दाशार्हः' विष्णु है, अतः पालक होनेसे दयालु हैं ही, दूसरोंके दुःखों पर

ध्यान देते रहते हैं और उनको मिटाते ही हैं. इस प्रकार भगवान्के ताप हरण करनेवाले धर्मोंका निरूपणकर अपना ताप प्रकट कर बताती हैं. 'तप्ताः' हम तापयुक्त हैं, इस पर कहते हैं कि आध्यात्मिक आदि तापोंके मिटानेकेलिये तो यह ज्ञानोपदेश दिया है. यदि यों कहो तो यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि हमको वह ताप नहीं है. हमारा ताप तो स्वयं भगवान्ने हमको छोड़कर मथुरा जानेसे किया है. हम उस तापको मिटवाना चाहती है, अब तो शोकसे हम द्रवीभूत हो गई हैं. जिससे शूद्र होनेसे उपदेशके योग्य नहीं रही हैं. इससे शोक नष्ट होनेके अनन्तर उपदेश सुननेका अधिकार प्राप्त होगा, तब उपदेश करो. जब जीवन होगा, तब यह सर्व सिद्ध हो सकेगा. यदि हमारी कामना पूर्ण न हुई और हम सकाम ही मर गई, तो युक्ति नहीं होगी, अतः अब तो जैसे जीवन टिक सके, वैसे मुखारविन्द आदि श्रीअङ्गोंसे हमको जिलानेकेलिये क्या आवेंगे? 'तु' शब्द ज्ञान पक्षके निवारणकेलिये है. अर्थात् हमको अब इस ज्ञानोपदेशकी आवश्यकता नहीं है. भगवान् जैसे आप कहती हैं इस प्रकार करें, जिसमें क्या कारण या साधन है? यदि यों कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है कि 'यथेन्द्रः' घर आदिमें आग लगती है, तो वह किसी भी जलसे बुझाई जाती है, किन्तु साधारण वनमें आदि दावानल लगती है, तो उसको सिवाय इन्द्रके कोई शान्त नहीं कर सकता है. इन्द्र जब कृपाकर वृष्टि करता है, तब वह शान्त होती है. अतः हमारे तापकी शान्ति तो भगवान् ही पधारकर करेंगे तो होगी, अन्यथा नहीं. इसलिये हमारी सम्पूर्ण इच्छा है कि प्रथम ताप शान्त होवे, अनन्तर उपदेश द्वारा ज्ञान मिले ।।४५।।

आभासार्थ: अनुमानसे या कल्पनासे कहा कि भगवान् आवेंगे, किन्तु युक्तिसे अब कहती हैं कि वे नहीं आवेंगे, जिसका कारण 'कस्मात्' श्लोकमें कहती हैं:

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ।।४६।।

श्लोकार्थ: राज्य ले लिया, शत्रुओंको मार भगाया, सब प्रकारके सम्बन्धी भी मिल गए, राजाओंकी कन्याओंसे विवाह भी कर लिए, यों सर्व कार्यपूर्ण होनेसे आनन्दवाले श्रीकृष्ण अब यहां क्यों आवेंगे ।।४६ ।।

व्याख्यार्थ: अब कृष्ण किसलिये आयेंगे? वर्तमान क्रिया 'आयास्यति' कहनेका तात्पर्य यह है कि यहां जो दो कार्य हैं, उनको यदि करना हो तो अब

आवें; आकर १.हमारे कामकी शान्ति तथा २.उपदेश; दोनों कार्य करके फिर लौट जावें, देरी क्यों करते हैं? यदि कहो कि अब आनेमें नागरी स्त्रियां जो अब भक्त होकर प्रेम करने लगीं हैं; उनको अब ही त्यागकर आना योग्य नहीं है, अतः उनके समाधान करनेके अनन्तर पधारेंगे. इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि यों तो एक प्रतिबन्ध टलेगा तो दूसरा प्राप्त होगा; क्योंकि अब तो राज्य मिल गया है. उसके अनेक कार्य आनेमें प्रतिबन्ध होते रहेंगे. फिर राज्यके तो अनेक शत्रु होते हैं. उनको नाश करना पड़ता है, इस प्रकार प्रतिबन्ध आते ही रहते हैं. राज्यके शत्रुओंको नाशकर विजय प्राप्त होनेसे राजाओंकी कन्याओंसे विवाह होंगे. पुनः उन स्त्रियोंसे प्रेम जगेगा, अनन्तर पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न होंगे, जिनसे रस प्राप्त करनेमें सङ्लग्न रहेंगे. यदि तब आनेकी चेष्टा भी करेंगे तो वे सब आने नहीं देंगे, ऐसी हालतमें वे यहां कैसे आ सकेंगे? ।।४६।।

आभासार्थ: जैसे उनका कहा हुआ मानते हैं, वैसे ही आपका भी कहना मानकर यहां पधारेंगे; यदि यों कहें तो इस पर यह उत्तर है, जिसका वर्णन 'किमस्माभि' श्लोकमें करते हैं.

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ।।४७।।

श्लोकार्थ: लक्ष्मीके पति, पूर्णकाम, कृतात्मा और महात्मा भगवान्को वनमें रहनेवाली हमसे तथा अन्य स्त्रियोंसे कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों आवेंगे? ।।४७।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के यहां पधारनेके दो कारण हैं. एक हम सन्तप्त हैं, अतः हमारे सन्तापको मिटाना है. दूसरा उनको हमारी अपेक्षा हो तो पधारें. यदि पहला कारण हमारा सन्ताप मानें, तो अब ही पधारें. आपकेलिये अब पधारें तो सही, किन्तु अभी उनको वहां बड़े-बड़े कार्य हैं. जिसके उत्तरमें कहती हैं कि अपने स्वयंके उपकार करनेसे वह कार्य आवश्यक होगा, दूसरोंके उपकार करनेसे वह कार्य आवश्यक नहीं है, अतः दूसरोंके उपकाररूप आवश्यक कार्योंकी तुलनामें हमारा ताप मिटाना ही आवश्यक है; क्योंकि हम अति तप्त हैं, यदि अपना ही उपकार करना है, तो फिर हमसे अथवा अन्योंसे उनका क्या प्रयोजन है? जिसमें भी हमसे तो कोई प्रयोजन नहीं है. कारण कि हम वनमें रहनेवाली वानरोंके समान सर्व प्रकारके रस शास्त्र सिद्ध धर्मोंसे बहिष्कृत हैं. विशेष

अवस्थासे जो उस समय दैन्यका आविर्भाव हुआ था, जिससे यों कहा है. फिर अनादरसे कहती हैं कि धर्मत्व हो, तो भी उससे भगवान्का कोई भी उपकार न होगा, अतः दूसरीसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों पधारेंगे? सब स्थान पर अर्थात् किसीकेलिये भी न पधारनेका यह भी कारण है कि वे बड़े हैं. बड़ोंको किसीकी अपेक्षा नहीं रहती है. इसमें भी आप सर्वत्र व्याप्त हैं, जिससे आत्माकी भी उनको आवश्यकता नहीं है और फिर वे महान् प्रभाववाले हैं, यह अलौकिक उपाय कहा है. अब लौकिक नीतिसे कहती हैं, वे लक्ष्मीके पति हैं, जो सेवकोंकी भी इच्छा पूर्ण करती है, तो स्वामीकी भी इच्छा पूर्ण करे, जिसकेलिये कहना ही क्या है और विशेषमें जो दूसरोंकी कामनाओंको भी फल देकर पूर्ण करते हैं, वह स्वयं कैसे पूर्ण काम न होंगे? अवश्य होंगे ही. जब वे स्वयं पूर्ण काम हैं तो हम लोगोंसे उनका कौनसा अर्थ सिद्ध होगा? कुछ नहीं. उससे भी आपमें विशेषता यह है कि ये सब आत्माऐं अपनी क्रीड़ाकेलिये ही आपने उत्पन्नकी हैं. कुछ विद्वान् 'कृतात्मनः' पदका भावार्थ करते हैं कि भगवान्ने सबके चित्तोंको अपने वश कर लिये हैं ।।४७।।

आभासार्थ : यदि यों है तो क्या करना चाहिए? किसी उपायकी कल्पना कर उसको 'परं सौख्यं' श्लोकमें दूषित करते हैं.

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ।।४८।।

श्लोकार्थ : स्वेच्छाचारिणी पिङ्गला नामवाली वैश्याने कहा है कि आशाका त्याग ही सुख है. जिसको हम भी जानती हैं, किन्तु कृष्णके लिए जो आशा है, वह किसी तरह भी छूटती नहीं ।।४८ ।।

व्याख्यार्थ: सबके दुःखका कारण आशा ही है. जिसको त्यागना ही सुखका साधन है. जैसा कि यजुर्ब्राह्मणके तृतीयाष्टक द्वादश प्रपाठकके द्वितय अनुवादमें कहा है कि 'प्रजापते आशया वै श्राम्यसि' हे प्रजापति आप आशासे थक जाते हो अर्थात् आशाके कारण दुःखी होते हो. गोपियां श्रुति रूपा हैं, अतः उनको इस आर्ष ज्ञानकी स्फूर्ति हुई है. जिससे आशाकी सत्यताकेलिये वैदिक साधन अवश्य करना चाहिये; किन्तु अवैदिक होनेसे स्वयं वैदिक साधन नहीं कर सकती हैं, तो कृष्ण मिलनेकी आशा सफल होगी या नहीं? इसमें सन्देह है, जब गोपियां आर्ष ज्ञानवाली हैं, तो उनमें अज्ञान होना ही नहीं चाहिये. इसके उत्तरमें

कहा है कि जब वेदको जाननेवाले ब्रह्माको अज्ञान है, तो गोपियोंमें हुआ तो क्या आश्चर्य है? स्वतन्त्र भक्ति मार्गके पथ पर चलनेवाली श्रुति रूपा गोपियोंको तो वास्तवमें अज्ञान है ही नहीं. अतः कहती हैं कि पिङ्गलाने तो श्रीकृष्णकी आशा केलिये अन्य सब आशाओंको त्याग दिया, किन्तु किस पदार्थकी आशाकेलिये हम श्रीकृष्णकी आशाका त्याग करें? यद्यपि श्रुति और अनुभवसे निराशा ही सुखका साधन है. उस साधनका फल बदलनेवाला नहीं है; क्योंकि वह निश्चित् साधन है तथा स्वभावसे भी परम सुखरूप है. अन्यथा जैसे कहा है कि 'औपस्थ जैह्व्या कार्पण्यात् गृहपालयते नरः' यदि मनुष्य उपस्थ इन्द्रिय तथा जिह्वाकी तृप्तिकेलिये आशावान् होकर रहे, तो कुत्ते जैसा हो जाता है अर्थात् वह मनुष्य नहीं किन्तु श्वान है; जो स्त्री स्वच्छन्द घूमनेवाली है अर्थात् प्रत्येक पुरुषकी अभिलाषा करती रहती है, उसके मनमें सदैव विक्षेप होता है. यदि एक पुरुषमें मन लगा हो, तो विक्षेपका नाश हो अर्थात् विक्षेप होवे ही नहीं. इसको स्पष्ट करनेकेलिये पिङ्गलाका दृष्टान्त देती हैं कि उसने पतिकी आशा त्यागकर निराशाको ही सुखरूप समझ उसको ग्रहण किया, जिससे यह भी सूचित किया है कि आशाका अन्त ही नहीं है, पिङ्गला वैश्याको कथाका ज्ञान भी नारदादि ऋषियोंके आर्ष ज्ञानसे ही हुआ है. हम सब जिसको प्रकारसे, फलसे और उपपत्तिसे जानती हैं, तो भी श्रीकृष्णकी आशाका त्याग कठिन है. पिङ्गलाने तो श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशासे अन्य आशाओंका त्याग किया है; क्योंकि श्रीकृष्ण सबसे अधिक उत्तम हैं. श्रीकृष्णसे अधिक उत्तम अन्य कौनसा पदार्थ है, जिसकी आशासे श्रीकृष्णकी आशा त्याग करें? सबसे उत्कर्ष तो श्रीकृष्णमें ही पूर्ण होता है. ये अवैदिक हैं, अतः वेदमें आशा पूर्ण होनेकेलिये जो साधन कहे हैं, उनका परिज्ञान इनको नहीं हैं. श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा उस(वैदिक साधन)से भी पूर्ण होगी या नहीं? यह सन्दिग्ध है, 'तमाशाब्रवीत्' में इसका निर्णय हुआ है ।।४८।।

आभासार्थ: पदार्थको भूल जाना ही आशाके परित्यागमें कारण है, यों करनेसे ही आशा छूटती है. यदि यों कहो तो 'क उत्सहेत' श्लोकमें कहती हैं कि कौन यों करनेका साहस कर सकता है?:

क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसम्विदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्।।४९।।

श्लोकार्थ: उत्तम श्लोकके स्मरण रूप ज्ञानको कौन छोड़ सकता है?

यद्यपि भगवान् लक्ष्मीकी इच्छा नहीं करते हैं, तो भी वह उनके अङ्गसे क्षण मात्र भी पृथक् नहीं होती हैं ।।४९ ।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के स्मरण या सम्बन्धको छोड़नेका उत्साह कौन कर सकता है? नारद आदि भक्त भगवान्के गुण गाते हैं, किन्तु उनका भगवान्से सम्बन्ध नहीं होता है. सब गुणगान करते हैं, अतः गुणगानरूप स्मरण सुलभ है. गुणगानमें किसी प्रकारका दोष नहीं है, अतः उसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है. उनसे सम्बन्ध छोड़ना अथवा उनको भूल जाना, इस प्रकारका उत्साह कौन करेगा? उनका सम्बन्ध तथा स्मरण सबको इच्छित है, अतः वह छोड़ना या भूलना अशक्य है. वे उत्तम श्लोक हैं, अतः ज्ञान पक्षमें भी उनको भूलना या सम्बन्ध छोड़ना अशक्य है. सम्बन्धके त्याग करनेमें कारण होते हुवे भी उसको छोड़नेकी इच्छा नहीं होती है. जिसको इच्छा मात्र भी नहीं हैं, उसमें कामका अभाव तो स्वतः सिद्ध है. ऐसे पुरुषसे स्त्रियां उदासीन होती हैं. जिसमें स्वयं प्रौढ़ता होवे और पिताके गृहमें भी सम्मानित हो, तो भी उदासीन होकर रहती हैं. जैसे धर्मका पालन करनेवाली घरमें उदासीन रहती है. भगवान् नहीं चाहते हैं, तो भी लक्ष्मीजी उनके वक्षस्थलको क्षण मात्र नहीं छोड़ती हैं, जबकि द्रव्यकी इच्छा करनेवाले लक्ष्मीजीकी सदा सेवा करते ही रहते हैं।।४९।।

आभासार्थ : 'सरिच्छैल'से तीन श्लोकोंमें स्मरण त्यागकी अशक्यता बताती हैं.

सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ।।५०।।

श्लोकार्थ : हे प्रभु! बलरामजीके साथ श्रीकृष्णने इन नदी, पर्वत व वनके प्रदेशोंमें गौओंके साथ बंसी बजाते हुए रमण किया था ।।५० ।।

व्याख्यार्थ: स्मरणका त्याग क्यों आवश्यक है? जिसको सिद्ध करती हुई कहती हैं कि स्मरण करानेवाले बहुत पदार्थ हैं. जिनमें प्रवृत्ति अवश्य ही होगी; सबको छोड़ दें, तो भी जलकेलिये श्रीयमुनाजी पर अवश्य ही जाना पड़ेगा. जब बाहर निकलेंगी तो जो उच्च स्थित है, वह देखनेमें ही आवेंगे, अतः श्रीयमुनाजी तथा गोवर्द्धनके दर्शन तो अवश्य ही होंगे और विहारकेलिये वनके प्रदेशोंमें जाना पड़ेगा, ये तीन सत्व आदि गुणोंके कारण भिन्न-भिन्न हैं. घरमें गौओंके दर्शन होते ही हैं, यदि आंखोंको बन्द करें, तो ये वेणुके रव स्मरण

करानेवाली ही हैं, जिनका अब भी अनुभव हो रहा है. अतः सब स्थलोंमें स्मरण करानेवाले पदार्थ स्थित हैं, भगवान्के सब चरित्र भी उनके स्मारक हैं. यदि बाहरकी वृत्तियोंको रोक भी लेवें, तो ऊपर कहे हुवे पदार्थ स्मारक भी न होवें किन्तु माखन चोरी दैत्यवध आदि और स्वछन्द रमण भगवान्के चरित्र वे जो अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें व्याप्त हैं, वे तो स्मरण करायेंगे ही. लीलामें सङ्कर्षण की सहायता निर्भय होनेकेलिये है, उसमें भी हमारेलिये ही प्रकट हुए. सदानन्द श्रीकृष्णने ये लीला हमको स्मरण करानेकेलिये ही की है. वैसे प्रेष्ठको तथा उनकी लीलाओंके विस्मरणमें आप प्रभु हैं, अतः भले समर्थ हो, किन्तु हम उनको भूलनेमें सर्वथा अशक्त हैं. यों कहकर उद्धवजीके इस पक्षको कि जैसे मैं स्वस्थ हूं, वैसे आप भी हो जाओ; निवारण किया अर्थात् आप स्वस्थ रह सकते हो; हम नहीं रह सकेंगी ।।५०।।

आभासार्थः इस प्रकार स्मारकोंका निरूपणकर अब उनके स्मरण करानेकी बलिष्ठताका प्रतिपादन 'पुनः पुनः स्मारयन्ति' श्लोकसे करते हैं:

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ।।५१।।

श्लोकार्थः वे सब बार-बार नन्द गोपके पुत्रका स्मरण कराते हैं. लक्ष्मीके आस्पद उनके चरणकमल देख हम भी विस्मरण नहीं कर सकती हैं।।५१।।

व्याख्यार्थः स्मरण करनेसे ऐसी पीड़ा होती है, जिससे मूर्च्छा आ जाती है. तब इच्छा होती है कि स्मरण करना ही छोड़ देवें. जिसकेलिये सर्व वृत्तियोंको रोकती हैं, किन्तु उस समय मनमें भय होता है कि ये चरित्र स्मरण करा देंगे, यों भय उत्पन्न होते ही वे याद आ जाते हैं, इसलिये कहा है कि 'पुनः पुनः स्मारयन्ति' फिर-फिर याद कराते हैं. जब किसी प्रकारकी पीड़ा होती है, तो उसको मिटानेकेलिये किसी समर्थका आश्रय लिया जाता है, तो व्रजमें समर्थ नन्दरायजी हैं, उनका स्मरण करते ही उनके पुत्रका स्मरण हो ही जाता है. भगवान् के जो अति सुन्दर चरण जिनमें लक्ष्मीजीका निवास भी है, वे इस व्रज भूमिमें अङ्कित हैं. वे अच्युत होनेसे नित्य भी हैं. जिससे वे कभी भी तिरोहित नहीं होते हैं. उन भगवान्के चरण जिनको हृदयमें स्थापन किया है, वे अपने प्रभावसे बलिष्ठ, दृष्ट-अदृष्ट उपायोंवाले हैं. उनको हम विस्मृत करानेमें असमर्थ हैं।।५१।।

आभासार्थ : जब मनका निरोध होता है, तब विस्मरण हो सकता है. मनका निरोध तब होता है; जब बुद्धि निर्मल होवे. वह बुद्धि तो भगवान्ने प्रथम ही हरण कर ली है. इसलिए 'गत्या ललित' इस श्लोकमें विस्मरणका अन्य कौन सा उपाय है. यह पूछती हैं:

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तद्विस्मरामहे ।।५२।।

सुन्दर गति, उदार हास्य, लीला सहित अवलोकन और मधुर वाणी इनसे हमारा चित्त जिसने हरण किया है, उसको हम कैसे भूल सकती हैं ।।५२ ।।

व्याख्यार्थः बुद्धि तीन गुणोंके कारणसे तीन प्रकारकी होती है. सतोगुणसे ज्ञानवाली रजोगुणसे सङ्कल्प विकल्पवाली और तमोगुणसे देहाभिमानवाली होती है. इन तीन प्रकारवाली बुद्धिको भगवान् अपने त्रिविध धर्मोंसे हरण करते हैं. जैसे कि भगवान्ने प्रथम अपने कायाकी ललित गतिकी चेष्टासे देहाभिमानवाली बुद्धिको हरण कर लिया है. गति जैसे आप आगे चलती रहती हैं, वैसे ही उस बुद्धिको भी ले जाती है. किस प्रकार ले जाती है? जिसको स्पष्ट करते हैं कि ललित गति बुद्धिको सबमेंसे खींचकर अपनेमें निरोधकर ले जाती है. कारण कि बुद्धिके अंशरूप मनको वह गति हरण करती है. मनके हरण करनेका उपाय कहते हैं ''उदारहास लीलावलोकनैः'' जिस वृत्तिसे मनुष्य सङ्कल्प-विकल्प करते हैं, उस वृत्तिको मन कहते हैं. उन दोनोंमेंसे जो सङ्कल्परूप अंश है, उसको भगवान्को मोहित करनेवाला मोहरूप हास निवारण करता है और सङ्कल्पके साधनरूप सुखको अनेक प्रकारसे देता है. जिससे फल द्वारा भी सङ्कल्पको सिद्ध नहीं कराता है. भ्रमित मनुष्य ही विकल्पोंको करता है. उनको मिटानेकेलिये ही भगवान् लीलावलोकन करते हैं. अवलोकन ज्ञानरूप है, अतः विकल्पोंको नाश करता ही है. वहां भी फलका अभाव है, जिससे ज्ञान दुर्बल होता है. उसकी दुर्बलता मिटानेकेलिये 'लीला' शब्द भी दिया है. यों कहनेका आशय है कि ज्ञान अपने आप पुरुषार्थरूप है. जिसमें वाणी प्रधान है, उसको भगवान्की वाणी हरण करती है. अपनी जातिकी स्त्री यदि स्त्रीको हरण करती है, तो उसमें कोई भी रुकावट नहीं कर सकता है. उसमें भी फलरूप वाणी माध्वी है. वैसे लोक सिद्ध प्रकारसे भी विस्मरण असम्भव है, तो कैसे हम भुला सकेंगी? आप तो विस्मरणके प्रकारको जानते हैं, अतः आप भले ही भुला दो,

किन्तु हम तो नहीं भुला सकती हैं कारण कि हममें बुद्धि ही नहीं है; क्योंकि हमारी बुद्धि भगवान्ने ले ली है. यदि उनको भुला दें तो फिर हमारी दूसरे साधनमें प्रवृत्ति होगी, अतः भगवान्ने जो ज्ञान दिया है, वह तब हो सकता है, जब हम भगवान्की ललित गति, मोहरूप हास तथा उदार अवलोकनको भूल जावें. वह तो हो नहीं सकता है, इसलिये इस उपदेशको कार्यरूपमें लाना अशक्य है अर्थात् भगवान्ने अशक्य उपदेश दिया है ।।५२।।

आभासार्थ: इस प्रकार लौकिक या वैदिक ढंगसे हम इस दुःख सागरसे सर्वथा नहीं निकल सकेंगी, जिसका वर्णन 'हे नाथ' श्लोकमें करती हैं.

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ।।५३।।

श्लोकार्थ: हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशक! हे गोविन्द! दुःख सागरमें मग्न गोकुलका उद्धार करो ।।५३ ।।

व्याख्यार्थ: इस दुःख समुद्रसे हमारा उद्धार प्रमाण बलसे न करो, किन्तु प्रमेय बलसे करो. प्रमेय बलसे उद्धार करनेमें आवश्यक कारण यह है कि आप हमारे नाथ हैं, नाथ सेविकाओंके गुणादि न देखकर अपनी शक्तिसे उनका उद्धार करते हैं. यदि आप कहो कि मैं तो अच्युत और असङ्ग हूं, अतः रमणसे आपका उद्धार करना मेरेलिये अशक्य है. आपके इस कथनपर हमारा उत्तर है कि आप रमानाथ हैं, रमा जिसका स्वभाव ही नित्य रमणका है, वह आपसे नित्य रमण करनेके कारण ही नित्य है और बढ़ रही है. उस रमाके आप पति हैं, यह सब जनोंमें प्रसिद्ध है. वह भी हम लोगोंकी भांति ही साध्य है, केवल लक्ष्मी होनेसे पोषणादिकी उसको अपेक्षा नहीं है. यदि आप कहो कि उस लक्ष्मीसे रमण आवश्यक है; क्योंकि मैं पति हूं, वह मेरी स्त्री है, अतः जैसे–तैसे निभाना ही है, तो जैसे आप रमाके पति हैं, वैसे व्रजके भी पति हैं. लक्ष्मी और व्रज समान हैं, अतः उन दोनोंके गुण और दोष भी तुल्य हैं. जो आप कहो कि वह भी यदि अशक्य याचना करे, तो वह याचना भी त्याज्य हो सकती है, अतः आपका यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है. इसपर हमारा कहना है कि यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है, तो भी कोई बाधा नहीं है. आप 'आर्त्तिनाशन' दुःखोंको नाश करनेवाले हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है. आपका नाम हरि है अर्थात् जो दुःखोंको हरण करे, वह हरि आप हैं, इसलिये आप दुःखोंको नाश करते ही हैं. दूसरा कुछ करो या न करो, किन्तु

आर्त्तिको तो मिटानेकी कृपा करो. यदि आर्त्ति नहीं मिटाते हो तो आपका हरित्व अर्थात् हरिपन ही न रहेगा. इसलिये आपको अपने स्वरूपकी रक्षाकेलिये यों अवश्य करना चाहिये और विशेष यह है कि यह समग्र गोकुल दुःख सागरमें मग्न है, उसका उद्धार करो. पूर्व समयमें एक हस्ती केवल छोटे पोखरमें आधा डूबनेसे दुःखी था, उसपर दयाकर उसका उद्धार किया, तो हम इतनी विरहात्मक दुःख सागरमें समय निमग्न हुई हैं, उनके उद्धारार्थ दयामें विलम्ब क्यों हुआ है? जैसे आपने [२]मन्दरका उद्धार किया, वैसे ही हमारा भी करो; क्योंकि डूबे हुओंके उद्धार करनेमें आप ही समर्थ हैं. यदि आप कहो कि वे हमारे कहनेसे कार्यमें प्रवृत्त हुए थे, इसलिये उनका उद्धार किया था. आप तो हमारे कहनेसे प्रवृत्त नहीं हुई हो, जो आपके उद्धारका भार हमपर हो, जिसके उत्तरमें कहती हैं कि हमने आपको अपना इन्द्र बनाया है, अतः अधिकारके अनुसार कार्य करना ही न्याय है. राजा होनेके नाते जब तक गोकुल है, तब तक आपको उसकी रक्षा अवश्य करनी है. यदि नहीं करोगे, तो प्रमाण बलका नाश आपने ही किया है, ऐसा कहा जायेगा. जैसे पहले भी मत्स्य आदिरूपसे डूबे हुए वेदोंका उद्धार किया ही है, वैसे ही अब गोविन्द भावसे आपको हमारा उद्धार करना चाहिये, किन्तु यों नहीं कहें कि हमने वेदोंका उद्धार किया है, वे उद्धृत वेद तुम्हारा उद्धार करेंगे, यों प्रमाणके अधीन होनेसे हम हीन देखनेमें आवेंगी ।।५३।।

१.रमा: लक्ष्मी ब्रह्मानन्दरूप है, ब्रह्मानन्द नित्य है और बढ़ता ही है, वह शास्त्र प्रमाणसे सिद्ध है जब इस प्रकार रमासे रमण है, तो उसके नाथ रमणसे हमारा भी उद्धार करें, तो अशक्य नहीं है 'लेखाशय'.

२.१.मन्दराचलने देव दैत्योंको चूर्ण किया है.'लेख'. २.देव आदि समुद्रमें नहीं डूबे थे, किन्तु लज्जामें डूबे थे.'प्रकाश'.

आभासार्थ: इस प्रकार उनका विलाप सुनकर फिर उसी ही तात्पर्यवाला उपदेश 'ततस्ताः' श्लोकसे देने लगे.

श्रीशुकः उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञातत्मानमधोक्षजम् ।।५४।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि कृष्णके संदेशोंसे गोपियोंका जब विरह ज्वर मिट गया, तब उन्होंने कृष्णको अधोक्षज भगवान् तथा अपनी

आत्मा जानकर उद्धवजीका पूजन किया ।।५४ ।।

व्याख्यार्थ: भगवान्के गाढ विरहके कारण गोपियोंने भगवान्से मिलनेकी इच्छासे जो विलाप पूर्वक दीनता युक्त वचन कहे, वे उद्धवजी सुनकर विरह ज्वर मिटानेकेलिये भगवान्का दिया हुआ सन्देश गोपियोंको पुनः देने लगे, जिससे उनका विरह ज्वर मिट गया. प्रथम जो गोपियोंको विरह दुःख तथा भगवान्से मिलनेकी चिन्ता हुई थी, जिसका कारण भगवान्का सन्देश उनके समझमें न आया था अथवा भूल गई थी, जिससे उनको विरह तथा चिन्ता हुई थी, किन्तु वह वास्तविक नहीं थी, केवल भूल थी. जैसे कण्ठमें सुवर्णकी माला पड़ी है किन्तु वह विस्मृत हो गई, अब उसके खो जानेका दुःख होता है, उस दुःखको मिटानेका उपाय केवल उसका पुनः स्मरण कराना ही है, वैसे ही यहां भी इतना ही स्मरण कराना था कि भगवान् एवं आपका विरह है ही नहीं, क्योंकि वह सबकी आत्मा होनेसे आपकी भी आत्मा है. आत्मा कभी पृथक्, नहीं होती है. यह सन्देश जब पहले उद्धवजीने दिया, तब यह अभिप्राय सिद्ध हुआ, कि भगवान्में जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई. उनका अन्तःकरण निर्दोष हुआ, किन्तु विरह ज्वरसे उत्पन्न विलाप नहीं मिटा था. कारण कि प्रभुके साक्षात् कारका अनुभव नहीं हुआ था. जब बार-बार उपदेश सुने, तब विरहसे प्राप्त हुई अन्तिम अवस्था भी मिट गई, जिससे जीनेका विश्वास हुआ तथा भगवान्में, आत्मत्वकी स्फूर्ति होने लगी. अर्थात् अब तक तो इन्द्रियाध्यासके कारण देहमें ही आत्म बुद्धि थी, जिससे भगवान्को आत्मरूप न समझती थीं, अब इन्द्रियाध्यासके मिट जानेसे गोपियोंको भगवान्की आत्मरूपसे प्रतीति होने लगी. अथवा कहकर दूसरा पक्ष बताते हैं कि प्रथम पक्षमें इनकी यदि ज्ञानियोंके समान अवस्था हो गई तो, वह बलदेवजीके व्रजमें आगमन और कुरुक्षेत्रमें श्रीकृष्णके आगमनके समय गोपियोंने जो भाव दिखाया था, जिससे विरोध होगा, अतः दूसरा पक्ष कहते हैं. जिसमें भी तीन प्रकार कहे हैं, म्यानके भीतर तलवारके समान उनके देहके भीतर स्थित जीवको अपनेमें छिपाकर अथवा उस स्थान पर प्रभु स्वयं प्रकट होकर अथवा सत् चित् स्वरूपमें आनन्दांश प्रकटकर उनको प्रत्यक्षपनसे वा स्वप्रकाशनसे अपनेको जनाया. यदि यों न करें तो अध्यारोप-न्यायसे प्रतीति होवे. केवल शब्दसे तो विरहका अभाव है, अतः भेदकी प्रतीति नहीं होती है. कारण कि आत्मरूप, अर्थात् अपना ही रूप होनेसे, जिससे उस

समय भी संयोगभावसे ही रहता है, इस प्रकारकी कृति तो भगवान् ही करनेवाले हैं. गोपियोंको तो केवल इसका ज्ञान ही हुआ है, पश्चात् गुरुका उपदेश मिला है. यद्यपि साक्षात् गुरुका तो वहां अभाव था, तो भी 'सुनो' यों कहनेसे गुरु द्वारा भेजे हुवे सन्देशके सारांशको जो उद्धवजीने कहा है, वे भी गुरुवत् पूजनीय ही हैं, अतः उनका पूजन करने लगी. अथवा आत्मज्ञानियोंका सम्मान करने लगी, अथवा प्रथम गोपियां भगवान्को अपनेसे पृथक् समझती थीं, अब प्रभुको अपनी तथा सर्वकी आत्मा समझने लगी हैं. आगे भी वैसे ही रहेंगी यों कहकर गोपियोंमें ब्रह्मभावकी योग्यताका निरूपण किया है. यदि ब्रह्मभाव अभिलषित न हो तो ब्रह्मभाव भी न होवे, इस प्रकारकी उत्कट इच्छा है, यह जतानेकेलिये उद्धवको पूजाका निरूपण किया है ।।५४।।

आभासार्थ : कोमल कांटेकी भांति यदि यह भाव भीतर जाकर दृढ़ न होगा तो पुनः पूर्वमें हुए भावोंसे इसका बाध हो जावेगा, अतः उद्धवजी इस भावको दृढ करानेके लिए वहां व्रजमें कितने ही मास और भी ठहरे, जिनमें पुनः पुनः इन भावोंका स्मरण कराके इस भावको दृढ किया, जिसका वर्णन 'उवास कति' श्लोकमें किया है:

उवास कतिचिन् मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ।
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम् ।।५५।।

श्लोकार्थ : गोपियोंके तापको मिटानेके लिए उद्धवजी कितने ही मास वहां रहे. उन दिनोंमें श्रीकृष्णकी लीलाओंकी कथा पुनः पुनः गाते हुए गोकुलको आनन्दित करने लगे ।।५५ ।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजी वहां रहे जिसका प्रयोजन 'गोपीनां विनुदन् शुचः' पदसे कहते हैं, कि उद्धवजी वहां यह समझकर रहे, कि पूर्वकी कही हुई त्रिदोष वासनासे बार-बार भगवान्से भेदकी स्फूर्ति होती है. स्फुरण मात्र होते ही क्लेश उत्पन्न होता है, अतः वह वासना ही मिट जावे, जिससे क्लेश न हो, अतः जब तक उस भेदभावकी स्फूर्ति न मिटे तब तक उद्धवजीने वहां रहना योग्य समझा. भेदसे जो दुःख होता है, उसके निवृत्तिका उपाय वही एक है, जो ''भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्'' इत्यादि दश श्लोकोंमें कहा है. देश आदि धर्मोंसे अन्तःकरण पर इस प्रकार आवरण आता है, कि प्रथम दृष्टि बहिर्मुखी होती है जिससे समझती है कि हम गोकुलमें हैं भगवान् मथुरामें हैं. वैसे विचारसे

भेद ज्ञान तो अवश्य होता ही है, उसको मिटानेकेलिये उद्धवजीने गोपियोंको भगावनका ज्ञान कराया. किस प्रकार कराया? जिसकेलिये कहा है कि ''कृष्ण लीला कथा गायन्''से लौकिक सब मनुष्य, कथा मात्रमें ही आसक्त होते हैं. मुक्त, भगवान्की लीलामें और कथामें आसक्त होते हैं और भक्त श्रीकृष्णकी कथामें आसक्त होते हैं. उद्धवजीने इसी भांति समग्र गोकुलको दुःखसे उन्मुक्तकर आनन्दित किया. यह सर्व योग और समुदायसे प्रतिपादन किया है. जिसका तात्पर्य यह है कि लौकिक मुक्त और भक्त इन तीनोंको योगार्थसे प्रतिपादन किया है और सकल गोकुलको समुदायार्थसे प्रतिपादन किया है, यदि समग्र गोकुलके क्लेशको निवृत्त न करें तो शेष दुःखियोंके संसर्गसे अन्योंको भी दुःख भोगना पड़े ।।५५।।

१.संयोगात्मक रस ग्रहण करनेमें भेदभावका आभास होता ही है–अनुवादक.

आभासार्थ : उद्धवजीने यह सर्व कार्य गोकुलमें किया, जिसका वर्णन 'यावन्त्यहानि' श्लोकमें करते हैं:

यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ।।५६।।

श्लोकार्थ : उद्धवजी जितने दिन नन्दरायजीके व्रजमें रहे, व्रजवासियोंके उतने दिन भगवान्की वार्तासे क्षणके समान बीत गए ।।५६ ।।

व्याख्यार्थ: ये नन्दजीके व्रजमें रहे, उद्धवजी उत्सवरूप[१] होनेके कारण जितने दिन रहे दिन मानो क्षण जैसे बीत गये, क्योंकि हर क्षण परस्पर आकाङ्क्षा की वृद्धि होती जाती थी. क्षण भी बहुत हैं, उनकेलिये तो वे दिन इतनेमें बीते मानो क्षण भी नहीं हुआ है. इसलिये 'प्रायः' शब्द दिया है. बाहर दृष्टि होने पर ही दिनोंकी गणनाकी जाती है, यहां तो गोपियोंने भगवान्को आत्मरूप समझा, जिससे भगवन्मय हो गई थीं. अतः उनकी बहिर्दृष्टि नहीं रही थी, इससे कालका बीत जाना उनकेलिये सरल हुआ. उद्धवजीमें आसक्त होनेसे कालका ध्यान ही न रहा होगा जिसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं, श्रीकृष्णकी वार्तामें ही ध्यान होनेसे वे इतने दिनोंको क्षणसे भी कम समझने लगीं ।।५६।।

१.सर्वको भुलानेवाला आनन्द.

आभासार्थ : भगवान्के दर्शन आदि छोड़ दूसरोंके लिए इतने अधिक समय तक कैसे रहे इसका उत्तर 'सरिद्वन' श्लोकमें दिया है:

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्।।५७।।

श्लोकार्थ : हरिके दास उद्धवजी नदी, वन, पर्वत, डोंगीके समान आकारवाली भूमिको, पुष्पोंसे सुशोभित वृक्षों आदिको देखते हुए, व्रजवासियों को श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण कराते हुए वहां आनन्दसे रहने लगे ।।५७।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजीका यह पहलेसे ही मनोरथ था कि व्रजमें जो भी भगवान्के लीला स्थान हैं वे स्वयं देखने चाहिये. अब ऐसा प्रसङ्ग बना जिससे यहां आ गये, यहां रहकर भगवान्की आज्ञा भी पालन करनी है और आपने शास्त्रोंके अर्थोंको सुना है, अतः भगवल्लीला भी देखनी चाहिये, जिससे आप बहुत समय वहां रहे. श्रीयमुनाजी, वृन्दावन, गोवर्द्धन, दोनों तरफ पर्वतोंके मध्यमें डोंगीके समान नीची भूमि, गोकुलमें ऋतु न होते हुवे भी भगवान्के प्रभावसे सर्व कालके सर्व प्रकारके पुष्पोंसे युक्त वृक्षोंको देखना, इतना तो उद्धवजीको अपना स्वार्थ था. इसके सिवाय भगवान्की आज्ञाका पालन करना था. यों अपना मनोरथ तथा भगवदाज्ञा ये दोनों अर्थ सिद्ध होनेसे प्रसन्न होने लगे. 'हरिदास' नाम देनेसे यह बताया कि उनमें दूसरा किसी प्रकारका भाव नहीं था. प्रसङ्गसे मिले हुवे सत्सङ्गका फल वर्णन करते हैं. 'व्रजौकसाम्' पद देकर यह जताया कि यद्यपि भगवान्ने तो माता–पिता और गोपियां इन दोनोंको ही आनन्द देनेकी आज्ञा दी थी, किन्तु [१]आपने सब व्रज वासियोंको भगवद्भावसे युक्त कर दिया ।।५७।।

१.भगवान्ने, अपनेसे भी अपने दासकी उदारता तथा दया प्रकटकी है.

आभासार्थ : इस प्रकार भगवदाज्ञाका पालन कर उद्धवजीने मथुरा जानेकी तैयारी की, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वैवमादि' श्लोकमें करते हैं.

दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ।।५८।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णके आवेशके कारण गोपियोंके देहकी घबराहट देखकर उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए, जिससे उनको नमस्कार करते हुए यों कहने लगे ।।५८ ।।

व्याख्यार्थ: गोपियोंको नित्य उपदेश देते थे, जिससे उनमें नित्य व्याकुलीय भाव उद्भूत होता था. इस प्रकार दोनों देखकर, उद्धवजीने जान

लिया, कि इनको भगवान् हमारी आत्मा हैं. इस प्रकारका ज्ञान होते हुवे भी जब बाहरकी दृष्टि होती है तब भगवान् हमको कब मिलेंगे? ऐसी इच्छा होती है, किन्तु वह इच्छा दोष रहित थी, क्योंकि पहले क्षत्रियपन वा गोपपनकी दृष्टि थी. वह दोषवाली थीं, अब वह नहीं है. अब तो आत्म दृष्टिसे कोई दोष दृष्टि नहीं रही है. इस प्रकार उनका शुद्ध आत्म भाव देखकर जिससे कृष्णके आवेशके कारण गोपियोंके देहमें व्याकुलीय भाव देखकर जान लिया कि गोपियोंमें अब लौकिक भाव नहीं है, किन्तु अन्तर्निष्ठा वा विरह ही है. जिससे उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुवे. भक्तको इस प्रकारकी अपनी स्थिति बनानी चाहिये. गोपियोंमें दोनों हैं, मुझमें एक है, अतः गोपियां मुझसे विशेष उत्तम हैं. अतः उनको नमन करते हुवे उनकी स्तुति करने लगे. स्तुतिसे यह बता दिया कि नमनमें कोई दोष नहीं है ।।५८।।

आभासार्थ : उद्धवजीने जो वचन कहे, वे ही इस श्लोकमें कहे हैं. पहले तो भगवान्के वचन उद्धवजीने कहे थे, उनका वर्णन हुआ. अब उद्धवजीके ही वचनोंको कहा जा रहा है.

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रुढभावाः ।।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ।।५९।।

श्लोकार्थ : सबकी आत्मा गोविन्दमें ही दृढ़ भाववाली इन गोपियोंका ही पृथ्वी पर शरीरका धारण करना सफल है; क्योंकि संसारसे डरे हुए, मुनि और हम तो उस भावको अभी तक चाह ही रहे हैं और जिस जन्ममें भगवान्की अनन्त कथा रसकी प्राप्ति नहीं है; वह जन्म ही निरर्थक है, चाहे वह ब्राह्मणका जन्म भी क्यों न हो!।।५९ ।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजी पहले उनकी स्तुति करते हैं, क्योंकि उनमें भगवान्के सर्व धर्म आ गये हैं, अतः भगवान्के सर्व धर्म आनेसे ये गोपियां ही तनुधारी है. अर्थात् इनका शरीर धारण करना ही सफल है. ज्ञानी, लौकिक और भक्त इनका भी मनुष्य जन्म लेना निष्फल है. इनमें भी लौकिक मनुष्योंका जीवन तो व्यर्थ ही है. जालमें फसे(रज्जुसे बान्धे) हुवेको जालवाला नहीं कहा जा सकता है. जिसके पास जाल है वह जालको जैसे चाहे वैसे काममें ला सकता है, अतः उसको 'पाशी' अर्थात् जालवाला कहा जाता है. इसी प्रकार शरीर धारी वह है, जिसके आधीन शरीर है. ज्ञानी तो जब तक ज्ञानकी प्राप्ति होवे, तब तक

साधनरूपसे देहकी अपेक्षा रखते हैं. पश्चात् देह व्यर्थ समझते हैं. भारकी भांति देहको धारण करते हैं, तथा (जिसको ज्ञान नहीं है ऐसे) भक्त भी मूर्खतासे देहको ही आत्मा समझ उसमें ही आसक्तिवाले होते हैं. जिससे वे बहिर्मुख हैं, अतः वे तनुरूप होते हैं, न कि तनुधारी किन्तु उनको कालान्तरमें सत् फल प्राप्त होता है. हम जैसे तो भक्त होते हुवे भी और ज्ञानवान् होते हुवे भी, मन्द भावको प्राप्त होनेसे, उत्तम भावसे तनुधारी नहीं है, किन्तु ये गोपियां ही परम उत्कर्षसे तनुधारी है. यदि कहो कि केवल ये ही तनुभृत् क्यों? वैसी तनुधारण करनेवाली लक्ष्मी प्रभृति अन्य भी हैं. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर तो ये ही हैं, जिस पर शङ्का उत्पन्न होती है कि पृथ्वी पर केवल ये कैसे? पृथ्वी पर उच्च भक्त प्रह्लाद आदि अनेक हुवे हैं. इस पर कहते हैं कि 'गोपवध्वः' गोपकी स्त्रियां, जिस अवस्थाको प्राप्त होकर अर्थात् पतिवाली होते हुवे भी उनका मोह त्याग भगवान्के शरणमें आई, वैसा भक्त पृथ्वी पर कोई नहीं हुआ है और विशेषता यह है कि भगवान्को स्वकीय जानकर भी उनको सबकी आत्मा समझ उनमें रुढ भाववाली हुई है. अतः स्वाधीन देहका यह ही फल है, जो सर्वकी आत्मा जानकर भी निर्दोष भावसे भगवान्में ही पूर्ण स्थिति, स्थापित करे.

ज्ञानकी अवस्था ही उत्तर अवस्था है, जैसा कि कहा है ''आत्मलाभात् परं न विद्यते''(आत्मलाभसे उत्तम अन्य कुछ नहीं है) भगवान्ने सन्देश द्वारा उपदेश देके इनकी ज्ञानमें स्थितिकी है, सचमुच ही इनके देह भी अनुपयोगी होंगे फिर यह स्तुति कैसे? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, संसारसे डरकर हम भक्त और मोक्ष चाहनेवाले मुनि और समस्त धर्म परायण जनता जिस भावकी इच्छा कर रहे हैं वह भाव तो इनने पूर्व ही प्राप्त कर लिया है. यह बात तो निश्चित ही है कि विदेह कैवल्य तक, सबको बाहरका ज्ञान तो रहता ही है, जीवन्मुक्तोंके इतिहास श्रवणसे यह समझा जाता है. बाहरके ज्ञान होनेवाली अवस्थामें सबको लौकिक भाव होता है, यों कालके विभागसे जन्मकी व्यर्थता होती ही है, अन्योंकी तो व्यर्थता सिद्ध ही है, किन्तु नारद आदिकी भी कभी प्राकृतोंके समान विशेष अवस्था हो जाती है, न होती हो तो लौकिकके समान कार्य न होना चाहिये. प्रह्लादने भी राज्य किया, जिससे भी यों ही समझमें आता है. बाहिरका ज्ञान जब तक है, तब तक तो यही अवस्था रहती है. यही समस्त शास्त्र कहते हैं कि इससे और कोई अवस्था कहीं थोड़ी भी अन्य नहीं है, इत्यादि अवस्थाओंका

पूर्ण विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये गोपियां ही तनु-धारिणी हैं.

इनकी अपेक्षा तो जो श्रोत्रिय ब्रह्मवादी वसिष्ठ आदि ब्राह्मण हैं, वे महान् होंगे? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं 'किं ब्रह्मजन्मभिः' ब्रह्म भावको प्राप्त हुवेको शौक्ल, सावित्र और याज्ञिक इन तीनोंसे क्या लाभ? कुछ नहीं. यद्यपि बाहरके ज्ञानमें उनका वेदार्थका अनुष्ठान करना और बड़े-बड़े यज्ञ करना तथा अन्तर्निष्ठतामें ब्रह्म-परायण होना दीखता है, तो भी इस प्रकारके कर्मकी अपेक्षा भक्ति अधिक है, कारण कि कर्म, प्रपञ्चमें स्वास्थ्य सम्पादन करता है, भक्ति यों नहीं करती है. वह तो प्रपञ्च छुड़ाती है, जो दुष्ट माने वा मनवानेका प्रयत्न करे वह दुष्ट है यों निर्णय किया हुआ है. प्रत्येक प्रकरणमें, प्रकरणके अनुसार उस-उस विषयकी प्रशंसा होती है, अतः विशेषताको ध्यानमें रखकर विषयको समझकर सिद्धान्तको स्थिर करना चाहिये. अतः भगवान्की अनन्त कथामें जिनको रस नहीं आता है, जिसमें कथा श्रवणमें प्रेम नहीं है, तो वेद-पाठ, यज्ञ आदि कर्म करने योग्य ब्राह्मण-देहकी प्राप्तिसे क्या लाभ? कुछ नहीं. यों होने पर भी ब्रह्मकुलमें जन्मलोकमें उत्कृष्टताका कारण है. युक्तिसे उत्कृष्टताका बाध होने पर भी, केवल प्रसिद्धिसे ही अन्तमें उत्तम-फलकी प्राप्ति होगी. यों यदि कहा, जाये, तो कहते हैं कि भगवान्की अनन्त कथामें जिसको रस प्राप्त हो गया है, उसको विविध ब्रह्म-जन्मोंसे कर्म पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करना है. कारण कि कथा रससे बाध्यमें ही अर्थात् साधन दशाके समय ही उत्कृष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि कर्मसे भी ज्ञानमें भक्ति ही अधिक उपकार करती है ।।५९।।

आभासार्थ: इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त करानेवाले ब्रह्म जन्म होते होंगे? इस प्रकारकी शंका कर इस ''क्वेमा स्त्रियो वनचरी'' श्लोकमें कहते हैं कि व्यभिचारके कारण परम्परासे भी उसका उपयोग नहीं है:

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णो क्व चैष परमात्मनि रुढभावः ।
नन्वीश्वरोनुभजतोविदुषोपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ।।६०।।

श्लोकार्थ: वनमें रहनेवाली और व्यभिचारके दोषसे दुष्ट ये स्त्रियां कहां? और परमात्मा श्रीकृष्णमें इनके ऐसे दृढ़ भावकी प्राप्ति कहां? जो अज्ञानी आपको साक्षात् भजते हैं तो आप भी उनको भजते हैं तथा अज्ञानसे सेवन किए हुए अमृतके समान उनका कल्याण करते हैं ।।६० ।।

व्याख्यार्थ: ये इस प्रकारकी गोपिएं जातिसे हीन, फिर वे स्त्रिएं जन्मसे

भी निकृष्ट हैं और स्थान करके भी निम्न(नीची) हैं. कारण कि वे वन-वनमें फिरती रहती हैं, वनमें वास तो उत्तम है, उसको हीन कैसे कहा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वनमें वास तब उत्तम कहा गया है, जब पहले उत्तम कुलमें जन्म हो, फिर गृहका त्यागकर भजनार्थ वनमें बसे वह वनवास उत्तम है. यदि केवल वनमें रहनेसे उत्तमता मानोगे तो 'वानर' भी तो वनमें रहते हैं, वे भी उत्तम माने जाने चाहिये. श्लोकमें 'वनवासिनीः' नहीं कहा है, किन्तु 'वनचरीः' कहा है. जिसका आशय है कि वे स्वच्छन्द घूमनेवाली हैं. दधि आदिके कारण जहां-तहां भ्रमण करती रहती हैं. रसविक्रय निषिद्ध कर्म है, जिससे इनके द्रव्य आदि पदार्थ भी लेने योग्य नहीं रहे हैं. इनका अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं है, जिससे दोषयुक्त है, व्यभिचारसे दुष्ट हैं; यों कोई कहते हैं.

'क्वेमाः स्त्रियः' पर श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरणोंका स्वतन्त्र लेख

'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक में व्रजाङ्गनाओंकेलिए 'व्यभिचारदुष्टाः' विशेषण दिया है, वह उचित नहीं हैं. धर्मशास्त्रमें विवाहित पुरुषका सेवन करनेवाली स्त्रीकेलिए कोई प्रायश्चित नहीं बताया है, तो विवाहित पतिका सेवन करनेवाली गोपियोंको 'व्यभिचारदुष्टा;' कैसे कहा? यदि स्त्री मात्रको ही व्यभिचार दोषवाली मानी जाय, तो उनसे उत्पन्न होनेवाली सन्तान अधर्म जन्य होगी तो उनका अग्निहोत्र आदि धर्मोंमें अधिकार नहीं होगा. तब तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्गका उच्छेद ही हो जायेगा और चतुर्वर्गके वर्णन करनेवाले शास्त्र भी व्यर्थ हो जायेंगे. यदि यह कहा जाय कि चतुर्वर्गके बोधक शास्त्र, भगवान्के पुत्रोंको लक्ष्य करके बने हैं, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं . भगवान्के पुत्रोंके लक्ष्यसे धर्मशास्त्र नहीं बने हैं. भगवान्की पत्नियोंके अतिरिक्त अदिति आदि स्त्रियोंकेलिए भी भागवतमें 'सती'पदका प्रयोग हुआ है, वह असङ्गत हो जायेगा. इस शङ्काका उत्तर 'तत्रायमाशयः'से दिया गया है. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; इन वर्णोंके तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम; इनके धर्म देहसे सम्बन्ध रखते हैं. धर्मशास्त्र, इन्हीं देहनिष्ठ धर्मोंके वर्णनमें प्रवृत्त हुआ है. अतः धर्मशास्त्र दैहिक धर्मोंका निरूपण करने वाला है भगवद्धर्मका निरूपण करने वाला नहीं है. जिस तरह दैहिक धर्मके निरूपणका अधिकार धर्मशास्त्रको है उसी तरह भगवद्धर्मोंके निरूपणका अधिकार भगवच्छास्त्रोंको है दोनोंके अधिकार अलग-अलग हैं. वर्णाश्रमधर्मोमें जो

'स्वधर्म' पदका प्रयोग होता है वह अभ्यासके द्वारा देहको आत्मा मान लिया है, इसलिये दैहिक धर्मको ही स्वधर्म कह देते हैं. वास्तवमें तो आत्माके धर्म ही 'स्वधर्म' शब्द वाच्य हैं. 'स्व' शब्द आत्माका ही वाचक है देहका नहीं. इसीलिये देहाध्यास वाले धर्मशास्त्रके अधिकारी हैं और ब्रह्मज्ञानी धर्मशास्त्रके अधिकारी न होते हुए भी भक्तिमार्गके मुख्य अधिकारी हैं.यह बात भगवान्के अवतार ग्रहण करनेके कारणमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादितकी है ''**तथा परमहंसानां मुनीनाम् अमलात्मनाम्, भक्तियोगवितानार्थम्**'' आप स्वच्छ हृदयवाले जीवन्मुक्त परमहंसोंके हृदयमें भक्तिकी सृष्टिकेलिए अवतार लेते हैं. यही बात व्यासजीके ''मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'' सूत्रसे बताई है. मुक्त अर्थात् देहाभिमानसे रहित जीवन्मुक्त ही भगवान्को प्राप्त करते हैं. इस भागवतशास्त्रमें भी भक्तिमार्गको लेकर ही सब अर्थोंका निर्णय है. भक्ति मार्गमें तो भगवान्से अतिरिक्तका भजन दोषजनक है ऐसा सिद्धान्त है. भागवत्में भगवान्ने ''आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्, धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत्स च सत्तमः'' यहां यही बताया है कि मेरे द्वारा बताये गये जो वर्ण और आश्रमोंके दैहिक धर्म हैं उनका परित्याग करके जो मेरा भजन करता है वह श्रेष्ठ है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दैहिक धर्मोंको त्यागकर भगवान्का भजन करना चाहिये. धर्मशास्त्रोंने अस्वधर्मको भी स्वधर्म माना है यह एक प्रकारका कपट है. इसीको लक्ष्य करके व्यासजीने भक्तिशास्त्र(भागवत्)का निरूपण करते समय यह प्रतिज्ञा की कि ''धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र'' इस भागवत्में, जिसमें किसी प्रकारका कपट नहीं. ऐसा धर्म(भगवद्धर्म) ही इसमें जानने योग्य है.इसीलिए भक्तिमार्गमें जिसका विधान है अथवा जिसका निषेध है उसे धर्मशास्त्र नहीं बताता.बताये भी कैसे? क्योंकि दोनोंका मार्ग ही भिन्न है.वात्स्यायनीय कामशास्त्रमें जिस तरह धर्मशास्त्रकी बात नहीं कही है.जिस तरह ऋषि प्रणीत धर्मशास्त्रका कामशास्त्र बाधक नहीं है, उसी तरह कामशास्त्रका बाधक भी धर्मशास्त्र नहीं है. वात्स्यायनीय कामशास्त्र भी ऋषिप्रणीत है इसलिये उसमें धर्मशास्त्रके विरुद्ध जो उपदेश है उसका बाधक धर्मशास्त्र नहीं है.क्योंकि दोनोंका विषय अलग-अलग है.कामशास्त्र केवल कामरसका निरूपण करनेकेलिए ही बना है, इसलिये कामरस जैसा है वैसा उसका निरूपण वात्स्यायनने किया है इसमें किसीका कोई विरोध नहीं है .

यहां भी भगवान्‌की प्राप्ति सहज नहीं है और जब तक भगवान् इन व्रजाङ्गनाओंको प्राप्त नहीं होंगे उतने समय तक ये स्वतन्त्र रहेंगी, तो उत्कट अनुरागके कारण यथेच्छाचरणसे इनका नाश हो जायेगा, इसलिये भगवान्‌ने इनको धर्ममार्गीय करके, विषयरागपूर्ति पूर्वक, धर्मशास्त्रीय नियममें स्थिर कर दिया.ऐसा करनेपर भी उनमें व्यभिचार दोष नहीं आया, ऐसा तो नहीं कह सकते. क्योंकि सहजभर्त्ता तो भगवान् हैं, उन्होंने उनसे भिन्न विवाहित गोपोंका ही भजन किया. वह भी व्यभिचार ही हुआ. इसीलिये मुख्य पटरानी श्री रूक्मिणीजीने कहा कि यह मनुष्यका शरीर जीवित होनेपर भी मुर्दा ही है. ऊपरसे चमडी, दाडी, मुंछ, रोएं नल और केशोंसे ढका है, किन्तु इसके अन्दर मांस, अस्थि, रक्त, कीड़े, मल, मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे हैं, इसे, वही मूर्ख स्त्री अपना प्रियतम मानकर सेवा करती है. जिसने आपके चरणारविन्दके मकरन्दकी सुगन्ध कभी नहीं सूंघी है. इसलिये भले ही भगवान्‌की प्राप्ति कठिन हो, तथापि भगवान्‌की प्राप्तिकी आशासे अन्यका भजन न करते हुए केवल भगवान्‌का ही भजन करते रहना यह भक्तिमार्गका निष्कर्ष(निचोड़) है. इन व्रजाङ्गनाओंको तो भगवान्‌ने अपने ही लिये प्रकट किया था, परन्तु मध्यमें कालविलम्ब होनेसे, उन्होंने भ्रमसे, पति बुद्धिसे ही विवाहित पतिसे व्यभिचार किया और उन विवाहित पतियोंसे सन्तान भी उत्पन्न की, इससे वे दुष्ट भी हुईं यह बात सुबोधिनीमें 'वस्तुतस्तु'से बताई.

अथवा धर्म दो प्रकारका है एक अन्तरङ्ग दूसरा बहिरङ्ग. इसमें प्रत्येक तीन तीन प्रकारका है. (१)विधिबोधित होनेसे किया जानेवाला भगवद्विषयक श्रवणादि धर्म अन्तरङ्गतम है. (२)योगादि साधनोंसे आत्मचिन्तनको अन्तरङ्गतर धर्म कहा है ''अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'' योगके द्वारा आत्मदर्शन करना ही परमधर्म है यह याज्ञवल्क्य स्मृतिमें कहा है. (३)फलको लक्ष्य न करके ईश्वरार्पण बुद्धिसे किया जाने वाला यागादि अन्तरङ्गधर्म है. इसी प्रकार (१)वर्ण और आश्रमका धर्म होनेसे स्वर्ग आदिकी प्राप्तिकी इच्छासे किया जाने वाला धर्म बहिरङ्ग है. (२)इससे भी निम्न श्रेणीका जो, जिसका स्वर्ग प्राप्तिफल है अनेक प्रकारके स्त्री–पुरुष जिसके अधिकारी हैं ऐसा पातिव्रत्य आदि और अनेक देवताओंके व्रत आदि हैं. जो स्मृति द्वारा बताया गया है वह बहिरङ्गतर धर्म कहा जाता है. (३)जो ऐश्वर्य प्राप्ति, आरोग्य लाभ आदि फलकेलिये अनेक प्रकारके देवताओंका भजनरूप स्मार्त धर्म है वह बहिरङ्गतम है. इन छ प्रकारके धर्मोंमें

पूर्वसे पूर्व धर्ममें प्रबलता है.अर्थात् बहिरङ्गतमसे बहिरङ्गतर प्रबल है बहिरङ्गतरसे बहिरङ्ग. इसी तरह बहिरङ्गसे अन्तरङ्ग धर्म, अन्तरङ्गसे अन्तरङ्गतर, अन्तरङ्गतरसे भी अन्तरङ्गतम श्रेष्ठ है. यद्यपि इनसे पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ हैं परन्तु उनका आचरण यदि असम्भव हो तो उत्तरोतर धर्मको करना चाहिये. प्रेमके अनन्तर व्यसनसे किया जानेवाला श्रवणादि, धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें धर्मका लक्षण नहीं है, धर्मका लक्षण तो "**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**", यह है. अर्थात् जो विधि(आज्ञा)से किया जाता हो वह धर्म है जैसे "**अहरहः सन्ध्यामुपासीत**" प्रतिदिन सन्ध्या करो. अन्तरंग और बहिरंग धर्मोंमें प्रवृत्ति होना या न होना इसमें अधिकार कारण है. मर्यादा मार्ग या पुष्टि-मार्ग इन दोनोंमेंसे भगवान् जिस जीवको जिस मार्गका मानते हैं वही मार्ग उसका अधिकार रूप होता है और उन-उन मार्गोंका निरूपण करनेवाले उनके शास्त्र हैं. इसलिये पूर्वमें बताये गये अपने-अपने अधिकारके धर्मोंके न करनेमें दोष है. भगवान्ने अर्जुनको पुष्टिमार्गमें अंगीकार किया था इसलिये धर्मशास्त्रमें जिसका निषेध है उस गुरुहनन कार्यके न करनेपर भगवान्ने उसका अनिष्ट फल कहा "**अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि**" यदि अहंकार(अभिमान)से मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा. यहां भी इन स्त्रीरत्नोंको पुष्टि-पुष्टि'में अंगीकार किया है इसलिये मर्यादामार्गीय धर्ममें उनका अधिकार नहीं है. किन्तु विवाहके पूर्व भी भगवान्के भजनमें ही उनका अधिकार है. इसीलिये स्वयं भगवान्का कहा हुआा "**दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा**" अपना विवाहित पति बुरे स्वभावका, भाग्यहीन, बूढा, मूर्ख, रोगी, निर्धन भी हो, तथापि उसका परित्याग नहीं करना चाहिये. इस प्रकारका धर्मका उपदेश भगवान्ने दिया उसको उन गोपियोंने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनका मर्यादा मार्गीय धर्ममें अधिकार नहीं था और अनधिकारीके हृदयमें धर्म कभी भी स्फुरित नहीं होता है. इसी बातको बतानेलिये भगवान्ने भी उपदेश दिया था. जिस तरह पुष्टिमार्गीय, मर्यादा मार्गीय धर्मको अंगीकार नहीं करते, उसी तरह मर्यादा-मार्गीय भी पुष्टि-मार्गीय धर्मको अंगीकार नहीं करते. इससे यह स्पष्ट है कि गोपियोंकेलिये मर्यादा-मार्गीय धर्म परधर्म है इसलिये उनकेलिये विवाहित पुरुषका भजन भी व्यभिचार ही है अतएव उन गोपियोंको 'व्यभिचार दुष्टाः' कहा वह ठीक ही है. जब भगवान् ही स्त्रियोंके सहज पति हैं तो भगवान्के साथ रूक्मिणी आदिका विवाह क्यों हुआ? विवाहके द्वारा ही जिनका निरोध अभीष्ट है, उन-उन रसोंका

अनुभव हो एवं मर्यादा स्थापन तथा लोक शिक्षा भी हो इसलिये विवाह किया. अदिति आदिमें सतीत्व कैसे कहा उसका समाधान करते हैं. भगवान्ने अदिति आदिको अपनी लीलाकेलिये मातारूपसे अंगीकार किया था इसलिये उनकेलिये भगवत्प्राप्ति पुत्रभावसे भजन करनेपर ही होती है और कश्यप आदिको भगवान्ने पिता रूपसे अंगीकार किया है इसलिये अदिति आदिको कश्यप आदिका प्रतिभावसे भजन ही स्वधर्म है. क्योंकि भगवान्ने उनको उसी रूपसे अंगीकार किया है. केवल विवाह हुआ है इससे ही कश्यप आदि एवं अदिति आदि पति-पत्नी नहीं माने गये हैं. उनका विवाह तो भगवान्की लीलामें उपयोगी है अतः भगवान्के विवाहके समान ही है.

(लेख समाप्त)

आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि वास्तवमें तो इनको भगवान्ने अपनेलिये ही प्रकट की थी, परन्तु मध्यमें समयमें देरी हो जानेसे अन्य गोपोंको भ्रमसे पति बनाकर उनसे सम्भोग द्वारा पुत्र आदि उत्पन्न कर लिये, जिससे वे व्यभिचारिणी और दुष्ट कही जाती हैं. जिस प्रकार अहल्या बृहस्पतिके भ्रमसे प्रवृत्त हुई तो भी दूषित कही गई. अतः दोष हो गया तो वैसे दोषको मिटाना ही योग्य है. कारण कि इस दोषसे वे दुष्ट नहीं हो गईं, जो त्याज्य हों यदि दुष्ट हो जाती तो यह जो कृष्णमें भाव है, वह निवृत्त हो जाता, उसके निवृत्त न होनेसे त्याज्य नहीं हैं. जैसे व्यभिचारिणी स्त्रियां त्याज्य होती हैं. व्यभिचार दुष्ट कही जानेवाली इन गोपियोंमें भगवद्भाव उत्पन्न होना ही आश्चर्य है. कहां कृष्ण निर्दोष-पूर्ण विग्रह और कहां इन व्यभिचार दुष्टाओंका उनमें इस प्रकारका प्रेम-पूर्ण दृढ़-भाव?

किन्हींका मत है कि भगवान्में निवेदित होनेके अनन्तर गोपोंसे जो इनका सम्बन्ध हुआ, जिससे वे व्यभिचारिणी हैं, क्योंकि बलसे भगाईको भी भगाई ही कहा जाता है. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि निवेदनके पश्चात् उनका गोपोंसे सम्बन्ध हुआ ही नहीं है, जैसा कि कहा है ''मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्'' गोपोंने केवल यों मान लिया कि हमारे पास वे हैं अर्थात् भावना-मात्रसे ही उन्होंने यों समझा, किन्तु वास्तवमें उनके साथ सम्भोग नहीं हुआ. यदि हुआ होता तो वे गोपियोंके प्रभावसे अथवा भगवान्के द्वारा भस्म हो जाते, यों न होनेसे निश्चय समझना चाहिये कि व्यभिचार हुआ ही नहीं है.

जो भाव करनेके अनन्तर वैसा दोष होवे तो, फिर भगवान्में भाव ही न

रहे. कारण कि जिसमें इन्होंने भाव किया है, वह साधारण नहीं है, किन्तु सदानन्द कृष्ण हैं. जिनमें भाव होनेके पश्चात् दोष होता ही नहीं है. अर्थात् अन्यमें मन जाता ही नहीं है और वे सदानन्द फलरूप हैं. उनमें भाव होना दोषरूप नहीं है. यदि उनमें भाव होना दोषरूप होवे, तो फलकेलिये कोई भी कर्म न करे. यह परमानन्दरूप स्वरूप तो उद्धारकेलिये ही प्रकट हुआ है. उसमें जो ऐसा भाव, वह सर्व पुरुषार्थका साधक है. इस प्रकार ब्राह्मण्यादि देवता रहितोंमें सर्व पुरुषार्थ साधक यह भाव प्रकट हुआ है. बिना कारणसे कार्य(भाव)की उत्पत्ति कैसे हुई? अथवा विरुद्ध कारणसे उनमें भावरूप कार्य कैसे उद्भव हुआ? यदि यों कहा जाये तो उसका उत्तर यह है, कि आपका कहना सत्य है. ये दोनों परस्पर विरुद्ध दीखते हैं, तो भी जो भक्त इस प्रकार तर्कोंको खटपटसे अनजान है और ईश्वरमें दृढ़-भाव करता है उसका कल्याण भगवान् अपनी योग्यताके अनुसार ही करते हैं न कि सेवककी योग्यताके समान करते हैं. यद्यपि यह विषय लोक और वेदमें भी प्रसिद्ध नहीं है, तो भी गोपिकाओंमें यह प्रत्यक्ष देखनेमें आया है, अतः वितर्कमें यह एक ही उपपत्ति है कि श्रीकृष्ण ईश्वर होनेसे कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ्य हैं. अतः कही सेवाको स्वीकार नही करते हैं, कहीं विपरीत फल भी देते हैं, भूलसे भी अपराध हो जावें तो प्राणोंका वियोग करते हैं, कहीं तो अधिक फल भी देते हैं. यदि कहो कि यों होनेसे प्रारब्ध ही नियामक है तो इसपर कहते हैं कि प्रारब्ध नियामक नही है क्योंकि उसको नियामक माननेसे ईश्वरमें ईश्वरत्त्व ही न रहेगा. कारण कि ईश्वर तो स्वतंत्र कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथा कर्तुं करनेकी सामर्थ्यवाला होता है, अदृष्टको नियामक माननेसे ईश्वर कर्माधीन होनेसे स्वतन्त्र न रहेगा तो फिर श्रीकृष्ण ईश्वर कैसे? अतः अदृष्ट नियामक नहीं है, ईश्वरको कोई नियममें चलानेवाला नहीं है, भगवान्में दोषोंकी कल्पना करनेसे जीवको दोष लगता है, अतः यों करना भूल है. लोकन्यायसे एकदेशीय दृष्टान्त देते हैं 'अगदराज इव' अमृत यदि भूलसे पीया हो तो भी अमर बनाता है, भूलसे अग्निका स्पर्श हो जावे तो वह जला देती है, इन दो दृष्टान्तोंका अभिप्राय बताते हैं कि अग्नि तब जलानेका कारण होती है जब वह अपने सजातीय काष्ठके समूहके साथ मिली हुई होती है यदि अग्नि विजातीय जल-समूहसे मिले तो दाहका कारण नहीं बन सकती. दूसरेमें ईश्वरत्व न होनेसे उससे श्रेय नहीं हो सकता है. वहां व्यभिचार दोष उत्पन्न करता है. भगवान् जीवमें अन्यथा करे तो भी दोष नहीं है. रोगको मिटानेवाले पदार्थको

अगद कहते हैं. जहां सर्व पदार्थोंकी शक्ति इकट्ठी होती है, उसको अगदराज अर्थात् 'अमृत' कहते हैं. भगवान्के योग्य तो यह ही दृष्टान्त है, प्रमाणोंका बल तो एक ही है वह भी अन्तिम नही है अतः वह तो बहुतोंको प्राप्त होता है. यदि अन्तिम होता तो कदाचित् किसीको प्राप्त होता. अतः जाना जाता है कि गोपियोंको जो यह ऐसा भाव उत्पन्न हुआ है, वह भगवान्के प्रमेयबलसे ही उत्पन्न हुआ है. 'अनुभजतः'का भावार्थ है कि भगवान्की इच्छानुसार सेवा करनी, श्लोकमें दिये हुए 'अपि' शब्दका भावार्थ बताते हैं कि ''**यदेव विद्यया करोति**'' इस श्रुतिके अनुसार ज्ञानके बिना जो भजन किया जायेगा वह फलसाधक न होगा, तो गोपियोंको ज्ञान बिना भजन, कैसे सिद्ध हुआ? इस शङ्काको मिटानेकेलिये 'अपि' शब्द दिया है. अर्थात् जो भक्त साक्षात् समीपमें विशेष भजन करता है, उसको किसी अन्य ज्ञानादि साधन बिना प्रभु-प्राप्ति शीघ्र हो जाती है. साधन भी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं. मन्त्र आदि द्वारा किया हुआ जो भजन है तो उस भजनके अनुरूप ही फल मिलता है. जैसे स्वयं अमृत अन्यकी मिलावट बिना भी, समीपमें सेवन करनेवालेका निश्चित श्रेय करता है वैसे ही गोपिकाएं भगवान्के समीप रहकर एवं अन्य साधन-रहित हो शुद्ध-भावसे विश्वास पूर्वक भजन करतीं थीं यह लोक प्रसिद्ध है, इसलिये 'उपयुक्त' शब्द दिया है, अतः उनका श्रेय स्वयं भगवान्ने किया, जिसमें कहना ही क्या है ।।६०।।

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरणका स्वतंत्र लेख

अथवा ''**अनन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्मभिः**'' इससे जो गोपियोंमें ब्रह्मादिसे भी विशेषता बतायी है उसका उत्तर ''क्वेमाः स्त्रियः''से दिया है. स्त्रियां स्वभावसे ही पुरुषमात्रमें कामवासनावाली होती हैं और भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं अतः उन भगवान्की कामवसनासे भक्ति करनेवाली गोपियोंका ब्रह्मा आदिसे उत्कर्ष कैसे हो सकता है, इस आशंकाका समाधान करनेकेलिए ''क्वेमाः स्त्रियः'' इससे, सब स्त्रियोंसे और सब पुरुषोंमें उन गोपियोंमें श्रेष्ठता बताते हैं. उनमें भी स्त्रीभावसे भक्ति करनेवाली इन स्त्रियोंमें स्त्रियोंसे पहले विशेषता बताते हैं 'इमाः क्व' अर्थात् कहां तो ये साधारण स्त्रियां और कहां व्रजाङ्गनाएं, इनमें आपसमें जरासी भी समानता नही हैं. यदि अन्य स्त्रियोंको स्त्री कहा जाता है तो, इन व्रजाङ्गनाओंको स्त्री भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य स्त्रियोंमें जो स्त्रीत्व(स्त्रीधर्म) है वह इनमें नहीं है. क्योंकि स्त्रियोंका पुरुषमें स्नेह, कामवासनाके

द्वारा ही होता है ऐसा नियम है. इन गोपांगनाओंमें जो भगवान्के प्रति प्रेम है वह कामवासनासे नहीं है. यद्यपि कामलीलाका भी इनमें निरूपण है परन्तु वह स्नेह काम द्वारा नहीं है, स्वाभाविक है. भगवान् स्वयं ही उन गोपियोंको कामलीलाका रस देना चाहते हैं इसलिये उनमें वैसे भावको सम्पादित करके कामरसका दान करते हैं. विलक्षणताको 'अवनचरी' पदसे बतातें हैं. इन व्रजांगनाओंकी भगवान् कालकर्म आदि सम्बन्धसे भी सदा रक्षा करते रहते हैं तो क्या अन्य पुरुषोंके सम्बन्धसे उन्हें नहीं बचायेंगे? वे तो सदा भगवान्की रक्षामें ही रहती हैं. यदि यह आशङ्का हो कि उन गोपियोंके भी पुत्र उत्पन्न हुए, क्या बिना गोपोंके सम्बन्धसे ही पुत्र हो गये? इसका उत्तर देते हैं कि भगवान्में सर्वभवन सामर्थ्य है अर्थात् भगवान् सब कुछ बन सकते हैं इसलिये भगवान् गोपरूपमें भी हो सकते हैं तो वे पुत्र गोपोंके न होकर भगवान्के ही हैं अथवा अलौकिक प्रकारसे भी वे भगवान्के ही पुत्र हैं गोपोंके नहीं. गोप तो महारासमें सम्मिलित अपनी स्त्रियोंको अपने पास ही सोई हुई मान रहे थे यह ''मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्''से स्पष्ट है अर्थात् गोपोंको केवल अभिमान मात्र ही था वास्तवमें वे उनकी पत्नियां नहीं थीं. भगवान्ने ही व्यवहार रक्षाकेलिये और इस बातका किसीको पता न लगे तथा रसपोषण हो इसलिये केवल भगवदीयता उनमें रखी अन्य स्त्रियोंमें नहीं. अतः 'व्यभिचारदुष्टाः' यह विशेषण सामान्य स्त्रियोंकेलिए है गोपीजनोंकेलिए नहीं. जीवमात्रके भगवान् पति हैं, उनमें भी स्त्रियोंके पति हैं ही व्रजांगनाओंसे भिन्न जो दूसरी स्त्रियां हैं उनका सम्बन्ध सदा अन्य पुरुषोंसे ही है इसलिये वे व्यभिचारदुष्टा ही हैं. अतः गोपीजनोंमें और सामान्य स्त्रियोंमें बहुत ही विलक्षणता है.वे गोपियां स्त्रियोंसे उत्कृष्ट थीं यह बता दिया. अब पुरुषोंसे भी वे गोपियां उत्कृष्ट थीं यह 'कृष्णे' पदसे बताते हैं. सदानन्द भगवान्के नारद-ब्रह्मा आदि अनेक भक्त हैं परन्तु गोपियोंके समान उन नारदादिकोंका भाव कहा है. यहां तक कि व्यभिचार आदि दोष जिसमें नहीं हैं उस लक्ष्मीमें भी ऐसा भाव नहीं है यह 'च' पदसे बताया है. 'क्व चैष'में जो 'एष' पद है उससे उद्धवजीने यह अपना अनुभव बताया. अर्थात् गोपीजनोंके समान किसीमें भाव है, ऐसा सुना तक नहीं तो देखनेको तो कहां मिले.

अथवा ''बर्हापीडं नटवरवपुः'' इस श्लोकमें वर्णित भगवान्का स्वरूप गोपिकाओंके भावके अनुसार है. भगवान्ने गोपिकाओंकेलिए ही कोटिकन्दर्प-

लावण्यको प्रकट किया और सदानन्द भगवान् उन गोपिकाओंके भोग्यरूपसे प्रकट हुए यह 'कृष्ण' पदसे स्पष्ट होता है. यद्यपि ब्रह्मादि देवताओंका भाव भगवान्में है तथापि गोपियोंके समान नहीं है. भगवान् गोपियोंकेलिये भोग्यरूपसे जैसे प्रकट हुए क्या कभी उसी तरहसे ब्रह्मादिकेलिए प्रकट हुए?

विषयसे विलक्षणता बताकर स्वरूपसे विलक्षणता बताते हैं ''एषः भावः क्व''का यह भाव लोक वेदमें अप्रसिद्ध है केवल अनुभवसे ही जानने योग्य है.

प्रकारसे विलक्षणता 'परमात्मनि क्व'से बताई है. सबको आत्मा ही प्रिय है, जहाँ जहाँ प्रियता होगी उसमें आत्मोपाधि अवश्य होगी. अर्थात् हम शरीरको आत्मा मानते हैं इसलिए हमें शरीर प्रिय है पुत्रादिकोंको आत्मा मान लिया है. इसलिए पुत्रादि हमें प्रिय हैं, परन्तु गोपियोंको तो आत्मासे भी अधिक प्रिय भगवान् हैं उन भगवान्में उनका भाव है. इन गोपियोंको आत्मा(अपने लिये)केलिये भगवान् प्रिय नहीं हैं किन्तु इनकी आत्मा भगवान्केलिये है इसलिये वह आत्मा इन्हें अच्छी लगती है. ब्रह्मादिकोंको तो भगवान् इसलिये प्रिय हैं कि भगवान् उनके नियामक हैं तथा उनका हित करते हैं.

उत्पत्तिसे विलक्षणता बताते हैं 'रूढभावः क्व' लोक वेदसे उत्पन्न न होनेवाला सहज भाव उनमें उत्पन्न था. अन्यमें ऐसा भाव न होनेसे भावकी उत्पत्तिसे विलक्षणता हुई. अथवा 'रूढभावः क्व' इस पदसे प्रमाणसे विलक्षणता बताई. और 'एष भावः' इससे प्रमेयसे तथा परमात्मनि'से साधनसे, 'कृष्णे' फलसे विलक्षणता बताई. अन्यत्र इस प्रकारकी विशेषता नहीं है. इतना सब होते हुए भी गोपियां भगवान्को ईश्वर नहीं जानती थीं उनका तो लौकिक ज्ञान ही था लौकिक ज्ञान तो निम्न श्रेणीका है फिर गोपियोंको ब्रह्मा आदिसे उत्कृष्ट बताना कैसे उचित है? इस आशङ्काका उत्तर 'नन्वीश्वरः'से देते हैं. यह आशय है कि फलकी अधिकतासे ही गोपियोंको ब्रह्मादि देवतासे अधिक बताया है. साधन विशेष अथवा अन्य प्रकार विशेषसे उनमें उत्कर्ष नहीं बताया. फलकी अधिकता गोपियोंमें है अन्यमें नहीं जो भगवान्को शास्त्रके द्वारा ईश्वर जानते हैं और ईश्वर स्वरूपसे भगवान्का भजन करते हैं तो क्या ईश्वर उनका श्रेय करते हैं? कदापि नहीं. उनके पुरुषार्थोंकी सिद्धि तो भगवान्के ज्ञानसे, भगवान्के वचन(वरदान)से अथवा भगवद्भक्तिसे ही होती है. भगवान् स्वयं आकर उनका कुछ नहीं करते.

कभी कभी भक्तिकी उत्कटतासे गजेन्द्र जैसेकेलिये स्वयं भगवान् पधारकर ही पुरुषार्थका दान करते हैं तथापि जिस श्रेयका दान गोपियोंको किया है उस श्रेयका दान अन्यको नहीं करते. यह बात अत्यन्त गोप्य है उसे 'अगदराज इवोपयुक्तः' इस दृष्टान्तसे बताई है. गोपियां विरहानल-संताप हृद्गत काम रोगको शान्त करनेकेलिये भगवान्के एक एक अंगको अपने हृदय आदि देशोंमें स्थापित करती हैं क्या ब्रह्मादि ऐसा कर सकते हैं? ब्रह्मादि तो सदा भगवान्से डरते रहते हैं. यहां तो गोपियोंकी मुख्यता है भगवान्की नहीं. गोपियोंके विषयमें भगवान् स्वतन्त्र अथवा प्रधान नहीं भगवान्के विषयमें गोपियोंको स्वतन्त्रता अथवा प्रधानता है. इस बातको 'उपयुक्तः' पदसे बताया है. जैसे ताप और रोगकी निवृत्तिमें औषधका उपयोग मुख्य नहीं है. औषधके उपयोग करनेवाला पुरुषकी मुख्यता है उसी तरह यहां गोपियोंकी मुख्यता है भगवान्की नहीं. यदि औषधका उपयोग करनेवाला पुरुष चाहे तो रोगनिवृत्तिके अनंतर भी रसायन औषधका सेवन कर सकता है. इसी तरह यदि गोपियां चाहें तो विरहताप शान्तिके अनन्तर भी भगवान्का इच्छानुसार भोग कर सकती हैं. इसी बातको बतानेकेलिये केवल 'अगद' पद न देकर 'अगदराज' पद दिया है.

अथवा ''साक्षात् यत् श्रेयः तत् किं तनोति अन्येषाम्'' ऐसी योजना करना. जो भगवान्के अधरामृतका एक बार भी आस्वादन कर लेता है उसका अनुराग फिर कभी अन्यसे होता ही नहीं इस प्रकारका साक्षात् श्रेयो रूप जो रस है उसे गोपियोंके सिवाय किसीको भी नहीं देते.

अथवा जो भगवान्को ईश्वर जानता है उसका भगवान् श्रेय करते हैं यह सत्य है तथापि जो ईश्वरको जानता है और अनुभजन करता है उसका श्रेय नहीं करते हैं क्या? अनुभजनका अर्थ है भगवद्भजनके अनन्तर स्वभजन जैसा कि गीतगोविन्दमें विरचित चाटुवचन ''**रचनं चरणरचितप्रणिपातम्**''से बताया है. हे राधे! मधुर वचन बोलनेवाले, चरणोंमें गिरनेवाले मधुमथनका अनुसरण कर ब्रह्मादिसे भी क्या भगवान् कभी मधुरवचनकी रचना करते हैं और चरणोंमें प्रणिपात करते हैं.

अथवा प्रत्येक पदमें काकु है क्या ज्ञानी जनका ईश्वर श्रेय करता है? भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर है. ब्रह्मादिकेलिये भगवान् ऐसा रूप प्रकट करके फल नहीं देते. इन गोपियोंकेलिये तो भगवान् अपने पूर्ण काम

आत्माराम आदि स्वरूप धर्मोंको भी बदल देते हैं और उन गोपियोंको अपने स्वरूप धर्मके विपरीत फल देते हैं. ब्रह्मादि देवताओंकेलिये स्वरूपको अन्यथा करना तो दूर रहा भगवान् अपनी वाणीकी मर्यादाको भी नहीं बदलते. अनुभजन करनेवालेको भगवान् क्या देते हैं यह पूर्वमें बताया है. अन्यकेलिये जो भगवान् श्रेय करते हैं क्या यों ज्ञानीका करते हैं? नहीं किन्तु वे अज्ञानीका करते हैं और वह भी उनके ज्ञानके अनुरूप ही करते हैं. भगवान्का स्वरूप आनन्दमय है आनन्दका ज्ञान अनुभवसे होता है वाणी, चक्षु आदिसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता ब्रह्मादि देवता पुरुष हैं अतः भगवान् उन्हें अपने स्वरूप(आनन्द)का दान नहीं करते इसलिये उन्हें स्वरूपका साक्षात् अनुभव नहीं होता अतः वे अज्ञानी कहे जाते हैं. गोपियोंको तो भगवान्के स्वरूप(आनन्द)का अनुभव है इसलिये उन्हें ज्ञानी कहा गया है. भगवान् साक्षात् श्रेय भी क्या देते हैं और साक्षात् स्वयं क्या करते हैं ये सब पहले बताया जा चुका है. किसका विस्तार करते हैं इसका वर्णन आ चुका है. ब्रह्मादिकेलिये भगवान् श्रेयोदान एक बार कर देते हैं परन्तु उस श्रेयका विस्तार नहीं करते, उन्हींमें चित्तकी एकतानता होना ही प्रेमका विस्तार है. और सभी प्रयत्न उन्हीकेलिये हो, यह भी श्रेयका विस्तार है. जैसा कि गीत गोविन्दमें कहा है ''**तत्र मम हृदयमतियत्नम्**'' . ''**विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोपि**''. अर्थात् आपको ही प्रसन्न करनेकेलिये मेरा हृदय प्रयत्न करता है, हे सन्तप्तेः! तुम इस आशङ्काको दूर हटा दो कि मेरे हृदयमें किसी अन्य कामिनीका प्रवेश है. मेरे हृदयमें तो केवल तुम ही व्याप्त हो रही हो इसलिये जिसका शरीर नहीं है ऐसे कामके अतिरिक्त और किसीका प्रवेश नहीं है. इस प्रकारका श्रेय कभी भी अन्यकेलिये नहीं करते. ब्रह्मादिकोंकेलिये उपयुक्त अगदराज(श्रेष्ठ ओषधि)की तरह भगवान् श्रेय नहीं करते. 'उप'का अर्थ समीप है अर्थात् ब्रह्मादिकोंके उप समीपमें एक आसन अथवा एक शयनपर भगवान् युक्त 'मिलते' नहीं. ब्रह्मादिकोंकेलिये तो भगवान्के दर्शन भी दुर्लभ हैं. ये गोपियां तो भगवान्का उपयोग करती हैं. अतः गोपियोंमें और ब्रह्मादि देवताओंमें बहुत ही तारतम्य है.

अथवा भक्तिमार्गमें दूसरेका भजन न करते हुए भगवान्का ही भजन करना मुख्य है. इन गोपिकाओंका तो अपने पतिके साथ भी सम्बन्ध था फिर इनकी ''एताः पर तनुभृतः''से कैसे प्रशंसा की. अर्थात् शरीर धारण करनेवालोंमेंसे गोपियां ही मुख्य हैं ऐसा कैसे कहा? इसका उत्तर ''इमाः स्त्रियो

व्रजस्त्रियों व्यभिचार दुष्टाः क्व'' ये व्रजस्त्रियां व्यभिचारदुष्ट कैसे हो सकती हैं. व्यभिचारसे दुष्ट न होनेमें 'अवनचरी' कारण है. वे गोपियां सर्वदा अपनेको भगवान् की उपभोग्या मानती थीं इसलिये सदा अपनेको अन्यसे बचाये रहती थीं. यदि वे व्यभिचारदुष्ट होतीं तो उनका भगवान्में ऐसा भाव कैसे होता. 'स्वदभावाः'में 'स्वद' पद दिया है उसका तात्पर्य यह है. कि उन गोपियोंमें भगवद्भाव अनवच्छिन्न(कभी न टूटने वाला) था. इसलिये उन गोपियोंमें भगवान्का रमण बाहर भीतर तथा रातदिन होता रहता था तो उनमें भगवद्भावसे रहितता आई कैसे? उसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है. यहाँपर जो विवाहित पतिके सम्बन्धके कारण जो 'व्यभिचार' शब्दसे कहा जाने वाला दोष है वह इनमें सर्वथा नहीं है. शङ्का करते हैं कि भगवान्ने जब गान किया 'तब पतिकी शुश्रूषा करती हुई उसे छोड़कर भगवान्के पास चली गई', कुछ गोपियोंको पतियोंने तथा अन्य सम्बन्धियोंने भगवान्के पास जानेकेलिये रोका तो भी वे भगवान्के पास चली गई. ऐसा जब कहा है, तो उन गोपियोंका पतिसे सम्बन्ध ही नहीं था ऐसा कैसे कह सकते हैं इस शंका समाधान यह है कि उन गोपियोंका उनके पतिके साथ जो सम्बन्ध था वह आभिमानिक था वास्तविक नहीं था. यह ''अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति'' आदिसे स्पष्ट है हे कमल नयन! जिस दिन हमने आपके चरणोंका स्पर्श किया उसी दिनसे हम किसीके सामने ठहरने में भी असमर्थ हो गई हैं, पति पुत्रादिकी सेवा तो कर ही कैसे सकती हैं. तथा ''मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्'' गोप योगमायासे मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी स्त्रियां हमारे पास ही हैं. इत्यादि प्रमाणोंसे उनका वास्तविक सम्बन्ध नहीं था. एक बात यह भी है, कि 'मन्यमानाः' इस गोपियोंकेलिये 'दारा' शब्द आया है. 'दारा' शब्द पुलिङ्ग है. इसलिये स्त्रीरूपसे उनका सम्बन्ध उन गोपोंसे नहीं था. यदि यह कहा जाय कि आभिमानिक सम्बन्ध भी सदोष ही है तो ''स एतावानास'' इस श्रुतिसे सम्पूर्ण सृष्टिको भगवद्रूप बताया है इससे आभिमानिक दोष निवृत्त हो जाता है. यदि यह आशंका हो, कि भगवान्ने गोपोंकी पृथक् स्थिति क्यों की, तो उसका उत्तर है, ''रसार्थं' 'स्थित्यर्थं च'' अर्थात् रसानुभवकेलिये तथा स्थिति रहे इसलिये गोपोंकी पृथक् स्थिति भगवान्ने ही की भगवत् सम्बन्धके पूर्व में भी, उनमें कोई दोष नहीं था और न भगवत्सम्बन्धके अनन्तर कोई दोष उनमें है. क्योंकि उन गोपियोंको भगवत्स्वरूपातिरिक्तमें भगवदात्मताकी स्फूर्ति नहीं है. वास्तवमें तो

फल प्रकरणमें होनेवाले रमणके पूर्व भी उन गोपियोंका स्वप्नमें भगवत्सम्बन्ध हो चुका था. ऐसा लक्षित होता है. नहीं तो गोपियां 'अस्प्राक्ष्म' हमने आपके चरणारविन्दका स्पर्श किया ''त्वयाभिरमिताः'' आपने हमको आनन्दित किया, इस प्रकार भूतकालके सम्बन्धकी बात न करती. एक बात यह भी है कि दूसरेके सामने जब खड़े रहनेमें भी असमर्थ हैं तो, उसके आगे होनेवाली रमण क्रिया में उनका पासमें रहना कैसे संभव हो सकता है? इसलिये इन गोपाङ्गनाओंका उन गोपोंके साथ किसी भी कालमें सम्बन्ध नहीं था. भगवान्के सम्बन्धको तो सदोष कह नहीं सकते सब प्रमाणोंका विरोध हो जायेगा. अन्तर्गृहगता गोपियोंकी बुद्धिमें भगवान् जार(उपपति) रूपसे थे अतः वे सदोष थीं. 'परमा..म'पदसे यही बताया है. ''**तमैव परमात्मानं जार बुद्धयापि सङ्गताः**'' 'उसी परमात्माका उन्होंने जारबुद्धिसे आलिङ्गन किया. अतः अन्तर्गृहगताओंका भजन इन गोपिकाओंके सदृश नहीं था. यहां शंका होती है कि ज्ञानादि साधनवालोंमें पहले गोपिकाओंके समान भाव न होनेसे, उनको अकृतार्थ बताया तो इन गोपिकाओंने ज्ञानादि साधनोंके अतिरिक्त ऐसा कौन सा साधन किया था जिससे इनको ऐसा फल मिला. इसका समाधान 'नन्वीश्वरः'से किया है. ईश्वर बिना किसी साधनकी अपेक्षा सब कुछ करनेमें समर्थ है. ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञानको पुरुषार्थका साधक न जानकर ज्ञानके अनन्तर जब भजन करते हैं स्वयं भगवान् उसका श्रेय करते हैं, भगवान्को भजनके अतिरिक्त किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है. परन्तु भगवान्ने गीतामें कहा है कि ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं**'' जो मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूं. इस भगवद् वाक्यसे अधिकारके अनुसार फल देते हैं. जहां स्वार्थ सिद्धिकेलिये भजन करनेवालेका भी भगवान् स्वयं श्रेय करते हैं तो भगवान्केलिये ही भगवान्का भजन करते हैं उनका साक्षात् स्वयं भगवान् श्रेय करते हैं इसमें क्या कहना यह 'अपि' शब्दसे बताया है जो भगवान्केलिये भगवान्का भजन करते हैं उनकेलिये उनके भजनके अनुरूप श्रेयका सर्वकरणसमर्थ भगवान्के पास भी अभाव है यह ''**न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा**'' इत्यादिसे बताया है. हे गोपियों तुमने कभी जीर्ण होनेवाली गृह शृङ्खलाको तोड़कर मेरा भजन किया है. यह तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष है. मैं देवताओंके समान आयु प्राप्त करके भी इस उपकारका बदला नहीं दे सकता इसलिये भगवान् जिस प्रकार श्रेय इन गोपियोंकेलिये करते हैं वैसा दूसरेकेलिये

नहीं. इसको बतानेकेलिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त है. जिस तरह बिना किसी अनुपानके अमृतका सेवन करनेवालेका अमृत श्रेय करता है उस तरह अमृतका श्रेय अमृत पान करनेवाला नहीं करता. इसी तरह यहाँ स्वार्थ सिद्धिकेलिये भजन करनेवाले ज्ञानीका अभीष्ट भगवान् करते हैं किन्तु ज्ञानी भगवान्का कुछ अभीष्ट नही करता क्योंकि ज्ञानीका भजन तो स्वार्थकेलिये है. यहां तो जिस तरह भगवान् गोपियोंका अभीष्ट करते हैं उसी तरहसे गोपियां भी भगवान्का अभीष्ट करती हैं.

अथवा निषेध उसीका किया जाता है जिसकी पहले प्राप्ति हो. यहां उसका अभाव है अतः दूसरे प्रकारसे इसकी व्याख्याकी जाती है. ''एता परं तनुभृतः'' इस लोकके पूर्वार्द्धमें व्रज सीमन्तिनीयोंका सर्वोत्कृष्ट बताया इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें साधनोंके द्वारा ऐसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकता यह बताया तो साधनोंके अभावमें इनको ऐसा उत्कर्ष कैसे प्राप्त हुआ. इसे आश्चर्यजनक मानते हुए जहाँ भगवत्कृपासे सर्वसाधन हीन जातीय पुलिन्दिनियोंमें भी उत्कर्षकी सिद्धि होती है वहाँ अङ्गसङ्गका जिनको अधिकार है उनमें उत्कर्ष हो इसमें क्या आश्चर्य है. अतः ''क्ष्मेमाः स्त्रियः'', में पुलिन्दिनियोंको सम्बोधित करके कहा है. अर्थात् कहां तो ये पुलिन्दिनियां और कहा भगवान्में पूर्ण अनुराग. यद्यपि ''ता नमस्यन्निदं जगौ''. ऐसा कहनेसे पुलिन्दिनियोंके देखें बहुत समय हो गया इसलिये उन पुलिन्दिनियोंकेलिये उद्धवजी 'इदम्' शब्दका प्रयोग नहीं कर सकते 'इदम्' शब्दका प्रयोग वहीं होता है जिसे हम सामने देख रहे हों, किन्तु उद्धवजी उन्हें भावनासे देख रहे हों ऐसा समझ करके ही उन्होंने 'इमाः' ऐसा कहा. अर्थात् ये पुलिन्दिनियां मानो उन्हें भावनासे सामने दीख रहीं हैं. यदि पुलिन्दिनियोंके पास पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कोई साधन होता तो संभव था कि उनका भगवान्में अनुराग हो जाता, किन्तु इनके पास तो पुष्टिमार्गीय और मर्यादामार्गीय दोनों प्रकारके साधनोंका अभाव है ऐसा समझकर 'क्ष्मेमाः' कहा. पुष्टिमार्गीय साधनका अभाव तो 'व्यभिचारदुष्टाः'से ज्ञात होता है. अपने विवाहित पतिका भजन करना ही व्यभिचार है, क्योंकि इस पुष्टिमार्गमें सर्वात्मभाव ही साधन है. उस सर्वान्मय भावमें विवाहित पतिका त्याग भी विहित है. ''**संत्यज्य सर्वविषयान्**'' ''**पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवान्**''. जगत्के यावद् विषय, पति, पुत्र, कुटुम्ब, भाई आदिका त्याग ही इस पुष्टिमार्गका साधन है. इन पुलिन्दिनियोंमें ऐसा न होनेसे व्यभिचारदुष्टता उनमें आई जिससे पुष्टिमार्गीय साधनका अभाव सूचित हो गया, मर्यादामार्गीय साधन भी

उनमें नहीं था यह 'वनचरी' पदसे सूचित है. मर्यादामार्गमें अधिकारीको ही साधन करनेका अधिकार होता है. ये तो वनचरी(वनमें घूमने वाली) थीं अर्थात् क्षुद्रजातिकी थीं, इसलिये उनका मर्यादामार्गीय अधिकार भी नहीं था. पूर्वजन्मका कोई अधिकार हो यह भी नहीं मान सकते, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता. यदि पूर्वजन्मका अधिकार होता तो, वे क्षुद्र जातिमें क्यों जन्म लेतीं. तब कैसे उन पुलिन्दिनियोंमें भगवद्भाव हुआ? इसका उत्तर 'नन्वीश्वरः' पदसे दिया है. भगवान् ईश्वर हैं अर्थात् किसी साधनकी अपेक्षा न रखते हुये कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं वे साक्षात् स्वयं श्रेयः करते हैं. शंका होती है कि व्रजललनाओं और पुलिन्दिनियोंका साधन तो एक ही भगवत्स्वरूप था तो फल भी दोनोंकेलिये एक होना चाहिये फिर पुलिन्दिनियोंसे व्रजाङ्गनाओंमें फलका उत्कर्ष कैसे हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि इसमें अधिकार भेद ही कारण है. इस फलभेदको और आधिक्यको 'अनुभजन' तथा 'अविदुष' इन दो विशेषणोंसे बताया है. व्रजललनाओंको भगवान्ने "**स्वागतं वो महाभागाः**" इत्यादि कहकर उन्हें लौट जानेकेलिये कहा परन्तु पुष्टिमार्गमें तो भगवान्का भजन करना स्वाभाविक है इसलिये गोपीजन अपने स्वभावकी दृढताके कारण भगवान्के कहनेपर भी वहांसे लौटी नहीं, वहीं खड़ी रही. उन्होंने भजन करनेवालेका अनुभजन नहीं किया किन्तु भगवान्ने ही उन व्रजाङ्गनाओंके मान आदिको दूर करनेकेलिये उन गोपियोंका अनुभजन किया. इन पुलिन्दिनीयोंमें ऐसा नहीं है. पुलिन्दिनियोंने तो "**दयितास्तनमण्डितेन कुङ्कुमे जाननकुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहुः**" "ये वृन्दावनकी पुलिन्दिनियां जब भगवान्को देखती हैं तब इनके हृदयमें भी प्रेमकी व्याधि लग जाती है उस समय ये भगवान्की प्रियतमाओंके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसर जो भगवान्के चरणोंमें लग जाती है गोचारणकेलिये जब भगवान् वृन्दावनमें पधारते हैं तो वही केसर घासपर लग जाती है उसे पुलिन्दिनियां अपने मुखपर तथा स्तनोंपर लगाती हैं. और अपने हृदयकी पीड़ाको शान्त करती हैं. इसमें 'दयिता' पदसे व्रजदेवियोंको कहा है. उनके सम्बन्धवाली केसरसे पुलिन्दिनियोंको भी भगवान्के सम्बन्धका अधिकार प्राप्त हो गया. अतः 'अनुभजनः' यह पद पुलिन्दिनियोंकेलिये ही है. 'अविदुषः' यह पद भी पुलिन्दिनीयोंके ही लिये है. "रसो वै सः" इस श्रुतिसे भगवान्को रसात्मक बताया है. उस रसात्मक स्वरूपका ज्ञान पुलिन्दिनियोंको नहीं है. इसका ज्ञान तो उन व्रजाङ्गनाओंको ही है. जैसा कि उन्होंने "वीक्ष्यालकावृतमुखम्"से वर्णन किया है.

यदि 'विदुषः' ऐसा पदच्छेद है तो ज्ञानी, माहात्म्य ज्ञानवाला होता है माहात्म्य ज्ञानवालेमें गोपियों जैसा भाव नहीं होता. अधिकारके अनुसार ज्ञान होता है और ज्ञानके अनुसार फल होता है जैसा कि ''मल्लानामशनिः'' यहां पर प्रतिपादित किया है. पुलिन्दिनियां तो बहुत थीं तो 'विदुषः' यहां एकवचन जातिके अभिप्रायसे दिया गया है जितनी भी पुलिन्दिनियां थीं वे सब समान थीं उस बातको सूचित करनेकेलिये एकवचनका प्रयोग है. 'विदुषः' इस प्रकार पुल्लिङ्गका निर्देश पुलिन्दिनीके शरीरको अभोग्य बतानेकेलिये है भगवान् ईश्वर हैं वे अनधिकारीका भी श्रेय करते हैं तो उन पुलिन्दिनियोंका श्रेय करें इसमें क्या आश्चर्य है. यह 'विदुषोऽपि' में आए हुए 'अपि' शब्दसे द्योतित होता है, इसमें 'अगदराज इवोपयुक्त' यह दृष्टान्त है. अमृत ऐसा विचार नहीं करता कि मेरेसे सम्बन्ध करनेवाला अधिकारी है अथवा नहीं. इसी तरह यहां भगवान् अधिकार अथवा अनधिकारका विचार नहीं करते. 'अगदराजः' इसमें अमृत, पीयूष आदि अमृतके वाचक शब्द हैं उनका प्रयोग न करके 'अगद' शब्दका ही प्रयोग किया है उसका आशय यह है कि पुलिन्दिनियोंका भगवान्का सम्बन्ध कामरोगकी शान्तिकेलिये ही है. क्योंकि उन पुलिन्दिनियोंका मनोरथ भी यही था कि हमारा कामरोग शान्त हो यह 'जहुस्तदाधिमृ'से बताया है. व्रजकी रत्नरूपा उन गोपाङ्गनाओंमें विरहदशामें उत्पन्न होनेवाले कामरोगके नष्ट हो जानेपर भी उसके आगे उन्होंने अनेक प्रकारकी रतिक्रीड़ाओंसे अखिल रसमयप्रियतमके स्वरूपामृतका आस्वादन किया यही उनका मुख्य फल था. इसलिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त गोपियोंकेलिये नहीं है पुलिन्दिनियोंके ही लिये है. वास्तवमें तो उन व्रजपतिकी प्रेमिकाओंमें तो विप्रयोग काल जो पीडारूप है उसमें भी उनका मन भगवन्मय, प्राण भी भगवन्मय थे यह स्वयं भगवान्ने तो 'मन्मनस्का'से बताया है. अर्थात् भगवान् आनन्दमय हैं तो विप्रयोग दशामें भी गोपियोंके मन, प्राण सब आनन्दमय थे. आनन्दका रोग बताना तो अनुचित है. इसलिये पुलिन्दिनियोंके ही लिये 'अगदराज' यह दृष्टान्त है. 'उपयुक्तः' पदमें जो 'उप' शब्द है उसका अर्थ समीप है तो समीपमें तो भगवान् पुलिन्दिनियोंके स्थित थे, व्रजाङ्गनाओंके साथ तो भगवान्का साक्षात् अङ्गसङ्ग हुआ था. इसलिये इस महान् अन्तरको देखनेसे यही सूचित होता है कि 'क्वेमाः स्त्रियः' यह सारा वर्णन व्रजललनाओंका न होकर पुलिन्दिनियोंका है. यद्यपि ''दृष्ट्वैमादिगोपीनाम्'' यहां पर और ''ता नमस्यन्निदं जगौ'' इस कथनसे यहांका

सारा प्रसङ्ग गोपियोंका ही होना चाहिये तथापि उद्धवजीने कालान्तरमें पुलिन्दिनियोंमें भी भगवद्भाव देखा था ऐसा लक्षित होता है. उद्धवजी आये तो उन्होंने नदी, वन, गिरि, द्रोणियां तथा पुष्पित वृक्षोंको देखा ''**सद्विनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्**'', इससे पर्वतोंपर रहनेवाली पुलिन्दिनियोंको भी देखा, यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है. उद्धवजीने पहले तो ''एतापरं तनुभृतः''से व्रजाङ्गनाओंकी स्तुति की, उनमें आश्चर्ययुक्त होकर पुनः पुलिदिनियोंको याद करके जहां पुलिन्दिनियोंमें भी ऐसा भाव है तो भगवान्की प्रिय गोपियोंमें ऐसा भाव हो इसमें क्या कहना? ऐसा जाना जाता है. इसलिये 'क्वेमाः' इससे पुलिन्दिनियोंकी ही स्तुति है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है. एक बात यह भी है कि 'इदम्' शब्दका प्रयोग किसीको सामने दिखाने केलिये किया जाता है तो क्या उद्धवजी भगवान्की प्रियतमा गोपियोंकेलिये 'इमाः' कह सकते हैं? उसमें भी फिर 'क्व' अर्थात् ऐसा भाव भगवान्में असम्भव है ऐसा कह सकते हैं? उन व्रजललनाओंकेलिये जिनमेंकी स्वाभाविक प्रेम है उनको स्त्रियां कहें यह भी असङ्गत है. स्त्रियोंका भाव तो पुरुषोंमें कामवासनासे ही हुआ करता है. गोपाङ्गनाओंका भाव तो कामवासना था ही नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है इसलिये 'स्त्रियः' यह पद उद्धवजी गोपियोंकेलिये नहीं कह सकते. भगवान्का अङ्गसङ्ग करनेवाली गोपीजनोंकेलिये उद्धवजी 'वनचरी' पदका प्रयोग कभी नहीं कर सकते और 'व्यभिचारदुष्टाः' ऐसा विशेषण क्या कभी परम भगवद्भक्त उद्धवजी गोपीजनोंकेलिये मुखसे निकाल सकते हैं. उद्धवजीको ''**कृष्णस्य दयितः सखा**'' कृष्णको प्यारा मित्र बताया है. भगवान् भी उद्धवजी को अपना अत्यन्त अनन्य प्रेमीभक्त मानते थे. ''**तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तम् एकान्तिनं काचित्**''. उद्धवजी सर्वदा भगवान्के सेवक थे. ''**तं वीक्ष्य कृष्णानुचरम्**'' इत्यादि वाक्योंसें उद्धवजीको भगवान्का अनन्य भक्त बताया है और जिन उद्धवजीने व्रजाङ्गनाओंके चरणकी धूलिको शिरोधार्य करनेवाले गुल्म लता औषधियोंमें जन्म लेने की अभिलाषा प्रकट की, वह सब यदि ''क्वेमाः स्त्रियः'' इस श्लोकमें व्रजाङ्गनाओंका वर्णन माना जायगा तो विरुद्ध हो जायगा. इसलिये 'क्वेमाः' इस श्लोकमें ''पूर्णाः पुलिन्द्य'' यहांपर उन पुलिन्दिनियोंका जिनका कि भगवत् सम्बन्ध हुआ है उसीको कहा है, यह ऊपर बतायी गई युक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है.

प्रभुचरणोंको 'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोककी अनेक व्याख्याओंमें यही

व्याख्या अत्यन्त प्रिय है, इस बातको आपने 'सर्वमनवद्यम्'से स्पष्ट बताया है.

आभासार्थ: आपके कहनेमें अन्योन्याश्रयदोष आता है, जिससे एकका भी निश्चय नहीं हो सकता है. फिर भगवान्में इस प्रकारका भाव ब्रह्म जन्मके अभावमें कैसे हुआ होगा. इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ईश्वरने वैसे किया, इसलिए मैंने कहा, ईश्वरने ऐसा कैसे किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान्की इच्छानुसार उन्होंने भजन किया, जिससे ईश्वरने किया. कारण कि ईश्वरकी इच्छा बिना भजन करानेकी कैसे हुई? जिससे दोष तो फिर वैसा ही रहा अतः एक साधनका निश्चय कर बताईए, भगवदिच्छा साधन है वा कोई दूसरा साधन है? यदि भगवान्की इच्छा साधन थी तो गोपियोंकी स्तुति क्यों? यदि दूसरा कारण ब्रह्म जन्म आदि है तो 'किं ब्रह्मजन्मभिः' इस कहनेका विरोध आता है, इस प्रकार शङ्काएं कर उनको 'नायं श्रियोङ्ग' श्लोकसे मिटाते हैं:

नायं श्रियोङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां उदगाद्व्रजवल्लवीनाम् ।।६१।।

श्लोकार्थ: रासोत्सवमें अपना भुजदण्ड गलेमें डालकर व्रज गोपियोंपर जो भगवान्ने जैसी कृपा की, वैसी कृपा एकान्त रतिवाली लक्ष्मीजीपर तथा कमल जैसी सुगन्धवाली एवं कान्ति युक्त अप्सराओंपर भी न हुई तो अन्योंपर कैसे होगी? ।।६१ ।।

व्याख्यार्थ: वास्तवमें भगवदिच्छानुसार भजन करनेमें भगवान्की इच्छा ही नियामक है, किन्तु ऐसी इच्छा तब तक किसीपर भी नहीं हुई है, इसलिये इनकी स्तुति हुई है नहीं तो जैसी कृपा इनपर हुई, वैसी अन्योंपर ही होती. जिनपर कृपा होनी चाहिये ऐसे सम्भावित स्थानोंको बताकर कहते हैं कि वहां भी ऐसी कृपा नहीं हुई है. विशेष प्रीति पात्र लक्ष्मीजी जिसको निरन्तर प्रेमका दान देते हैं, उसपर भी यह कृपा नहीं की है. स्वर्गकी स्त्रियां अप्सराऐं जिनके साथ इन्द्र उपेन्द्र भावको धारणकर रमण करते हुए भी यह प्रसाद उनको भी नहीं दिया है. विशेषमें वे अप्सराऐं कमल समान गन्धवाली तथा वैसी ही कान्तिवाली हैं और उनमें कमल जैसा भ्रम भी होता है. भगवान्को कमल प्यारे हैं, इस कारणसे कमल खण्डमें पूजितके समान उनमें कदाचित् स्थित हो जावे, उसका भी निषेध करते हैं. जब यों है तो अन्य, जो उन-उन अवतारोंसे सम्बद्ध हैं वे कैसे प्रसादको प्राप्त करेंगी? वह कौनसा प्रसाद है जिसको गोपियोंके सिवाय अन्य नहीं प्राप्त कर

सकी हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'रासोत्सव'के समय भगवान्ने जो अपना भुजदण्ड कण्ठमें डाल उससे रमण करते समय जो आनन्द गोपियोंको प्राप्त हुआ वही प्रसाद है. भगवान् रमणकेलिये अनेकरूप धारणकर इस प्रकार कभी भी रससे आप्लुत नहीं होते हैं. उसमें भी व्रज स्त्रियोंके साथ, वे तो मिलकर एकत्र नहीं रहती हैं सदैव दधि आदिके बेचनेकेलिये सर्वत्र घूमती फिरती रहती हैं, बड़े कार्यकेलिये जब महान् ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब भी भगवान् एक ही स्वरूपसे प्रकट होते हैं, यहां तो अनेकरूप धारणकर प्रत्येक गोपीको सबसे उत्तम आनन्द प्रदान करनेकेलिये उनसे रमण करते हुए अनेक प्रकारके रसोंको प्रकटकर आनन्दमें प्लावित किया है. अतः जाना जाता है, कि वैसी भाग्यवाली दूसरी नहीं हुई है और वैसा भगवत्प्रसाद कहीं भी प्राप्त न हुआ है, जिससे समझमें आता है कि उनकी वैसी अवस्था प्रमाणमें स्तुति न होते हुए भी सबसे उत्तम ही हैं ।।६१।।

आभासार्थ : उद्धवजीने गोपियोकी इस अवस्थाकी स्तुति ईर्ष्यासे की है, क्या इस अवस्थाकेलिए ईश्वर प्रार्थनाकी जाती है? यदि यों है तो ये अपने मनकी इच्छाके अनुकूल स्तुति की गई है जिससे समझा जाता है कि स्तुतिका वस्तुके निरूपणमें अर्थात् गोपिकाओंके स्तुतिके निरूपणमें कोई तात्पर्य नहीं है, इससे उत्कर्षकी सिद्धि कैसे होगी? इस प्रकारकी शंका मिटानेकेलिए 'आसामहो' श्लोक कहते हैं:

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमायपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।६२।।

श्लोकार्थ: आश्चर्य है कि वृन्दावनके गुच्छक, लता और औषधियां भी इनके चरण रज सेवन कर रही हैं, अतः इनके चरण रजकी प्राप्तिकी इच्छासे मैं भी चाहता हूं कि इन गुच्छक, लता और औषधियोंमेंसे एक कुछ भी होकर यहां उत्पन्न हो जाऊं क्योंकि इन्होंने जो आर्य पथ छोड़ना कठिन है, इसको त्यागकर अर्थात् पति आदिका त्यागकर, जिसकी खोज श्रुतियां भी अब तक कर रही हैं, उस मुकुन्दकी पदवीको प्राप्त कर लिया है ।।६२ ।।

व्याख्यार्थ: मैं इनके दासोंका दास भी बननेके योग्य नहीं हूं, तो इनकी भावना सम भाव मैं कैसे कर सकूंगा? यदि कोई पुरुष अपनी योग्यतासे विशेष कोई कार्य करता है तो वह निश्चय गिरता ही है, अतः मैं तो इनकी चरण रजके पानेकी इच्छा करता हूं, जिससे चाहता हूं कि वृन्दावनमें ही गुच्छक, लता और

औषधियोंमेंसे कुछ भी हो जाऊं, पहले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गममें जन्म लेनेकी इच्छा क्यों नहीं की? जिसके उत्तरमें कहा कि वैसा मेरा अधिकार नहीं, यदि अधिकार होता तो क्रिया द्वारा इनसे निकलना हो जाता, जिसके साथ समानता होती है वहां ही व्यवहार योग्यता होती है, समानताके न होनेसे भी अयोग्य हूं, फिर भी वैसा व्यवहार करुं तो पतन हो, वह मूर्खता ही है. यदि कहो कि वृक्षादिमें जन्म लेनेसे उसमें विशेष स्थिति करनी पड़ती है, जिससे भगवत् प्राप्तिमें विलम्ब होता है, यह ठीक है, तो भी जो जिसकी चरण रज चाहता है, वह उसका रूप हो जाता है अथवा उसका हो जाता है, इसलिये चरण रजकी प्राप्ति जिस जन्ममें मिले उस अल्प आयुवाले जन्मकी ही मैंने अभिलाषा की है. अतः मैंने तामस गुच्छक, राजस लता और सात्विक औषधियोंमें जन्मकी प्रार्थना की है, क्योंकि इनपर उनके चरणोंकी रज सदैव पडती ही रहती है. तुलसी, कुन्द जाति और व्रीहियोंमें जन्म लेनेकी प्रार्थना नहीं की है. उनमें तो हस्तका सम्बन्ध होता है और उनके फूलोंका भगवान्से और शिरसे सम्बन्ध होता है. यदि उनके वह मिषसे उत्कर्षकी प्रार्थना मानी जायेगी, और वृन्दावन परम उत्कर्ष उत्पन्न करनेवाला तथा भक्ति दाता है, 'अहो' यह आश्चर्य अर्थमें दिया है. क्या मैं जो इतना स्वल्प मांगनेकी प्रार्थना कर रहा हूं वह भी सिद्ध न होगी? साधन प्रकारसे ही अर्थात् इन प्रसाद प्राप्त गोपियोंके चरण रज प्राप्तिकी प्रार्थनारूप साधनके प्रकारसे ही उत्कर्ष होता है, वह ही फल देता है. अन्य प्रकारसे फलकी प्राप्ति नहीं होती है. 'किमपि' यह शब्द अनादरमें कहा है, यहां सत्व आदि गुणोंका उत्कर्ष नहीं है किन्तु रजका सम्बन्ध ही उत्कर्ष करनेवाला है. चरणोंकी रजसे जो उद्धार होता है, वह सतो गुणसे हुए उद्धारके समान ही है. इनके चरण रज द्वारा तो क्रमसे गोपियों जैसा भाव उत्पन्न होगा? अर्थात् पहले गुल्म आदिकोंमें जन्म, पश्चात् गोपियोंमें जन्म अनन्तर भगवान्में भावका आविर्भाव होगा? रजसे सीधे भगवद्भावकी प्राप्ति इस जन्ममें नही होगी तो किसलिए इस प्रकारकी प्रार्थना करते हो इस प्रकारकी शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि या 'दुस्त्यज' जो गोपियां जिसको कोई छोड़ नहीं सकता है वैसे आर्य पथको छोड़कर भगवान्की शरण गई हैं. अतः भगवद्भाव इनको ही सुलभ है अन्य किसीको नहीं. कारण कि 'क्वेमा स्त्रियः' इस श्लोकमें यह सिद्धकर बताया है कि ये गोपियां समस्त स्त्रियोंसे तथा सकल पुरुषोंसे उत्तम हैं, उद्धवजी कहते हैं कि मैं दोष युक्त होनेसे दुष्ट हूं, अतः

वह भाव मुझे प्राप्त होना असम्भव है. यों कहकर फिर गोपियोंके धर्मोंको कहते हैं. अपने पुत्र आदि सम्बन्धियोंका त्याग बहुत कठिन है. उसमें भी आर्य मार्गको छोड़ना अधिक कठिन है. उसके त्यागसे अपकीर्ति होती है. जिसकेलिये शास्त्र कहता है कि ''**सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**''. मानवालेको अपकीर्ति मरनेसे विशेष दुःखदायी होती है. यह आर्य मार्ग लौकिक है, जिसमें लौकिक पुत्र आदि स्वजन समझे जाते हैं. अलौकिक आर्य मार्गमें तो अलौकिक भगवान् ही स्वजन हैं. यदि लौकिक आर्य मार्ग तथा अलौकिक समान माना जावेगा तो फलमें व्यभिचार होगा अर्थात् लौकिक आर्य मार्गका फल भी भगवान् होना चाहिये जो होता नहीं. इस प्रकार पुत्रादिका एवं भगवान्के उपदेशका त्याग किया. यदि यों त्याग न करें तो चित्तमें बाहरके ज्ञानसे स्वास्थ्य हो जावे, अनन्तर मोक्षदाता भगवान्के मार्गका आश्रय करने लगीं, अर्थात् भगवान्को स्वजन समझ उनका भावसे भजन करने लगी. जो जिस धर्म मार्गपर चलता है, वह उस धर्मसे उसके समान हो जाता है, इससे ये भी मोक्ष देनेवाली हो गई. हम भी वैसे हो जावेंगे, जिससे भगवद्भजनसे भी वृन्दावनमें गुल्मलतादिमें जन्म लेना उत्तम है, यह उद्धवजीके कहनेका भाव है. जैसे वेदमें ब्रह्मभावका वर्णन है वैसे इस भावका वर्णन क्यों नहीं है? जिसके उत्तरमें 'श्रुतिभिर्विमृग्यां' कहा है अर्थात् श्रुतियां भी अब तक इस भावको ढूंढ रही हैं, विचार करती रहती हैं, किन्तु कह नहीं सकती हैं, कि यह इस प्रकार है, कारण कि, इस प्रकारके भाववालोंका कोई दृष्टान्त ही श्रुतियोंको नहीं मिला. भगवान्ने इस भावको अब गोपियोंमें प्रकटकर गोपियोंको ही दृष्टान्तरूप बताया है. यद्यपि श्रुतियोंको सर्वज्ञ कहा जाता है किन्तु वह सर्वज्ञता भगवान्के अभिप्राय जाननेमें समर्थ नहीं है, इससे श्रुतियोंकी सर्वज्ञतामें किसी प्रकार दूषण नहीं आता है. जिसको प्रथम स्कन्धमें ''व्यासाद्यैरीश्वरे'' इस श्लोकमें सिद्ध किया है इस सिद्धान्तको लेकर ही श्रुतियां कहती हैं ''यस्यामतं तस्य मतं'' कि जो कहता है, मैंने नहीं समझा, उसने ही समझा है. यों कहकर इस प्रकारके अज्ञानकी प्रशंसा की है. जिसका आशय यह है कि जो अपनेको ज्ञानी समझेगा वह आगे विशेष जाननेकी जिज्ञासा नहीं करेगा और जो कहेगा मैं नहीं जानता हूं, वह अधिक जाननेकेलिये प्रयत्न करेगा. जिससे सर्वोत्कृष्ट तत्वको जानकर उत्कृष्ट फल लाभ कर सकेगा ।।६२।।

आभासार्थ: सर्व जिनकी पूजा तथा आराधना करते हैं, वे इनके ताप

हरणमें लगे हुए हैं. तापके समय पूजाकेलिए भी पूज्यके स्पर्शका निषेध है. उसमें भी ये अङ्गभावको प्राप्त है इसलिए इनका अधिक उत्कर्ष 'या वै श्रियार्चित' श्लोकमें कहते हैं :

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ।।६३।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्ण भगवान्के जिस चरणारविन्दको लक्ष्मीजी तथा आप्तकाम सनकादिक एवं ब्रह्मादि देवोंने पूजा हैं और योगेश्वरोंने जिसका चिन्तन अपनी आत्मामें किया है, वह चरणारविन्द भगवान्ने रमण करते हुए जिनके स्तनों पर धरा हैं और उनका आलिङ्गन कर ये गोपियां तापसे मुक्त हो गईं ।।६३ ।।

व्याख्यार्थ: जिस लक्ष्मीको सर्वत्र फलरूप समझा जाता है, उसने भी अपनी कामनाकी सिद्धिकेलिये चरणारविन्दकी पूजा की है, किन्तु अपनी इच्छानुसार उस चरणारविन्दका उपयोग नहीं कर सकी हैं. ब्रह्मादि, सनकादि, जो पूर्णकाम हैं उन्होंने तथा सिद्ध योगेश्वर, जो सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, सर्व पुरुषार्थ जिनको प्राप्त हैं और सर्व साधन जिन्होंने वशमें कर लिये हैं, वे भी, उससे भी अधिक फलकी प्राप्तिकेलिये उनके चरणोंको पूजते हैं. चरणोंका पूजन तो बाहरकी अवस्थामें होता है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यदात्मनि', आत्मामें ध्यानकर भीतर पूजन किया है. फलरूप, सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्णके वैसे चरणारविन्दको, जिसमें भी वह प्रसिद्ध स्वतन्त्र फलदाता तथा स्वतः भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तक हैं, सर्वसमर्थ एवं अपने आप सम्बन्धसे भी अतिशय उत्तम चरणारविन्दको कौतुक(रास) क्रीड़ामें स्वयं अपनी इच्छासे नृत्य करते हुए थक जाती तब आप उनके स्तनोंपर धरते, उस समय वे गोपियां यों समझती थीं कि हमारे तापकी शान्तिकेलिये हमारे हृदयपर कमल वा पंखा अथवा चन्दन पड़ा है, इस प्रकार करना अर्थात् स्तनोंपर पैर धरना तो ढीठाई अथवा निर्लज्जताका काम है, इसलिये यह अयोग्य है. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि ''भगवता एव न्यस्तं'', भगवान्ने ही धरा है. भगवान्ने यों क्यों किया? जिसका उत्तर देते हैं कि भगवान् गोपियोंके अतिशय वश हो गये हैं, अतः उनका ताप शीघ्र मिटानेकेलिये यों किया है. अर्थात् स्वयंने ही शीघ्र उनके स्तनोंपर चरणारविन्द धरे हैं. इसलिये 'न्यस्तं' पद दिया है, जिसका अर्थ है 'धरा'. इसके अनन्तर गोपियोंने आलिङ्गनकर

अर्थात् अपने आधीनकर, अपने तापको विशेष प्रकारसे मिटा दिया. इससे यह बताया कि गोपियां प्रमाण और प्रमेय दोनोंसे उत्कृष्ट हैं. प्रमाणसे उत्कृष्टता यह है कि जो सबके पूज्य और आराध्य हैं, वे इनके ताप मिटानेका कार्य करते हैं और प्रमेयसे उत्कृष्टता यह है कि भगवान् इनके अत्यन्त वशमें हैं, जिससे ताप मिटानेकेलिये स्वयंने स्तनोंपर चरण धरे ।।६३।।

आभासार्थ : उद्धवजीने यह प्रशंसा अपनेलिए नहीं की है, किन्तु अन्योंके हृदयपर इनका प्रभाव पड़े, इसलिए की है. इस प्रकारकी शंका मिटानेकेलिए कहते हैं कि पहले भी नमस्कारकेलिए यह प्रारम्भ किया, यों प्रतिज्ञा होनेसे अब 'वन्दे नन्द' इस श्लोकमें उनको नमन करते हैं, जिससे बताया है कि प्रशंसाका मेरे पर प्रभाव पड़ा है :

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।६४।।

श्लोकार्थ : नन्दरायके व्रजको स्त्रियोंकी चरणारविन्दकी रजको मैं बार-बार वन्दन करता हूं. जिनका भगवत्सम्बन्धी गान त्रिलोकीको पवित्र करता है ।।६४।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजी कहते हैं कि जो गोपियां प्रमाण एवं प्रमेयसे उत्कृष्ट हैं, उनको नमस्कार करनेका मैं अधिकारी नहीं हूं. अतः नन्दके व्रजकी स्त्रीमात्रकी केवल चरणरजको ही बार-बार नमस्कार करता हूं. मुझसे तो वह रज बहुत उत्तम है और फलरूप है, इसलिये आदरके साथ वन्दन करता हूं. उद्धवजी जैसे ज्ञानी एवं भक्त तथा कृष्णके सखा यों कैसे करते हैं, यों करना तो बहुत आश्चर्यकी बात है? इस शङ्काको मिटानेकेलिये यों करनेका जो कारण है उसको लोकमें प्रकट करनेकेलिये प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ''यासां हरिकथोद्गीतम्'' केवल हरिकथासे भी उसका जोरसे जो गान करती हैं, जिससे तीन लोक पवित्र हो जाते हैं. इससे यह प्रकट किया कि तीन लोकको पवित्र करनेसे यह गान, गङ्गासे भी उत्तम है. गान तीन लोकको पवित्र करते हैं, इसलिये उनका कोई साधक-बाधक नहीं है ।।६४।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्के किए हुए निरोधका समर्थन इस प्रकार भी भगवान् करते हैं, जिससे भगवान्का माहात्म्य जान, दूसरे क्रमसे भगवान्के स्थानपर आए, जिसका वर्णन 'अथ गोपी' श्लोकसे करते हैं:

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।

गोपानामन्त्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ।।६५।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि गोपी, नन्द और यशोदाजी इनसे प्रार्थनापूर्वक आज्ञा लेकर और गोपोंसे भी जानेकी राय लेकर उद्धवजी जानेकेलिए रथपर चढ़े ।।६५।।

व्याख्यार्थ: उद्धवजी, गोपी, और यशोदाजीसे जानेकी प्रार्थनाकर आज्ञा ली, इन तीनोंसे ही प्रार्थना इसलिये की है कि इस प्रकरणमें ये तीन ही मुख्य हैं. पश्चात् मित्र बने हुए गोपोंसे सलाह की अर्थात् उनको जानेकी सूचना दी, यों क्यों किया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि उद्धवजी यादवोंमें श्रेष्ठ हैं. वास्तवमें उनकी श्रेष्ठता इसलिये है कि उसमें भक्ति प्रधान है और वह भक्तहित करनेवाली भी हैं. रथमें विश्रामकेलिये नहीं बैठे किन्तु पुरी जानेकेलिये बैठे ।।६५।।

आभासार्थ : उद्धवजीने पहले भी कई बार जानेकी तैयारी की थी, इसलिए किसीको विश्वास नहीं हुआ कि वे जाते हैं, किन्तु जब वे जानेकेलिए निकलकर रथमें बैठे, तब व्रजवासी भी श्रीकृष्णचन्द्र तथा उद्धवजीके वास्ते भेटें लेकर उनको विदा करनेकेलिए आए, जिसका वर्णन 'तं निर्गतं' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।

नन्दादयोनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ।।६६।।

श्लोकार्थ : उद्धवजीको रथमें चढ़ा देखकर सबने समझा कि वे निश्चयसे जा रहे हैं, अतः नन्द आदि सब अनेक प्रकारकी भेटें लेकर आए. वे देते हुए प्रेमके कारण नेत्रोंसे आंसू बहाते हुए कहने लगे ।।६६।।

व्याख्यार्थ: वे नन्द आदि सब आकर मिले. उनके हाथोंमें अनेक प्रकारकी भेंटें थीं. वे उद्धवजीको दीं, स्नेहके कारण नन्द आदि जो आये थे उनके नेत्र आंसुओंसे भर गये और वे यों कहने लगे ।।६६।।

आभासार्थ : उद्धवजीने जो उपदेश दिया उसका भाव हमारे हृदयमें जम गया है, यह जतानेकेलिए, उसके फलकी सिद्धिकेलिए गुरुको निम्न दो श्लोकोंमें प्रार्थना करते हैं:

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।

वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ।।६७।।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ।।६८।।

श्लोकार्थ : हमारे मनकी सब वृत्तियां श्रीकृष्णके चरणोंकी आश्रित होकर रहे, वाणी नामका स्मरण करे, काया, नमस्कार, पूजा आदि साधनोंमें लगा रहे, ईश्वर इच्छासे कर्मोंके कारण कहीं भी हम भ्रमण करें, वहां-वहां शुभ आचरण, दानादिसे भी विशेष रति ईश्वर श्रीकृष्णमें बनी रहे ।।६७-६८ ।।

व्याख्यार्थ: हमारे काया, वाणी और मन, श्रीकृष्ण सम्बन्धी कार्योंमें लगे रहें. जगत्में यही उत्कर्ष प्राप्त हो उसकेलिये ही प्रार्थना करनी योग्य है. लोकमें प्रसिद्ध, जो अन्य उत्कर्ष हैं, उनके मिलनेकेलिये प्रार्थना नहीं करनी चाहिये. यह जतानेकेलिये कहते हैं कि कर्मोंके कारण जिस किसी योनिमें हमारा जन्म हो तो वहां भी शुभ आचरण, जो सर्वकेलिये करना साधारण धर्म है. दान जो विशेषधर्म है, जिसकी उत्पत्ति वैश्योंमें ही होती है अर्थात् वैश्योंकी दान करनेमें उत्कृष्टता है. इन धर्मोंसे जो उत्कृष्टता होती है, उससे अधिक उत्कृष्टता श्रीकृष्णमें असाधारण रतिमें है, अतः हमको सर्वत्र वह रति प्राप्त होवे, यों प्रार्थनाकर दो बातोंकी गुरुसे याचना की है. एक हमारे सङ्घात(देहके अङ्गों)का भगवान्में विनियोग हो और दूसरा आत्माका भगवान्में स्नेह हो. जिसको आचार्यश्री विशेष स्पष्ट करते हैं, कि मनकी वृत्तियां एकादश हैं वे सर्व, श्रीकृष्णके चरणकमलके आश्रयमें, ज्ञानसे, क्रियासे और अहङ्कारपूर्वक स्थित रहें. चरणकमलमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार तो स्पष्ट हैं, शेष अन्य वृत्तियां गुणगानसे, भगवान्के साथ सलाप आदिसे स्वतन्त्ररूपसे प्रभुमें आ जायेगी, इस प्रकार होनेसे न्यूनता कुछ भी न रहेगी. आश्रय पद देकर यह बताया कि कभी, किसी तरह भी वृत्तियोंको चरणाम्बुज आदिका आश्रय करना चाहिये. इसलिये प्रसङ्गसे करनेका निषेध कर दिया, वाणी भी नाम ही बोलती रहे. नाम तो वहां(भगवान्में) ही पहुंचकर सर्व शक्तियोंसे युक्त हो जाता है. गुण और कर्म अन्य पदार्थोंको कहते हैं, किन्तु नामकी मुख्य शक्ति तो भगवान्में ही पहुंचती है. यहां श्लोकमें 'अभिधायिनीः' यह छान्दस् प्रयोग दिया है, जिसके देनेका आशय यह है कि वाणी लौकिक परायण न होवे, शरीर, उस भगवान्के नमस्कार, पूजा आदि साधनोंमें लगा रहे, इस प्रकार प्रकरणके अनुसार प्रार्थना की है ।।६७।।

कर्मोंसे भ्रमण तो होता है, किन्तु वह भ्रमण भी तब होता है जब ईश्वरकी वैसी इच्छा होती है. अन्यथा जो केवल कर्म ही भ्रमण करानेवाले माने जायें, तो वे कर्म स्वतन्त्र मानने पड़ेंगे. वे स्वतन्त्र नहीं है, स्वतन्त्र तो एक ईश्वर ही है. इसलिये श्लोकमें 'ईश्वरेच्छया' कहा है, अतः कर्मसे जो उत्कर्ष है, वह अप्रयोजक है, इसलिये 'यत्र क्वापि' जहां भी हमारा जन्म हो, कहा है. शरीर, वाणी और मन भगवान्में विनियोगके पश्चात् मङ्गलाचरण क्यों? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि जब तक वैसी अवस्था न हो तब तक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये. इनका विपरीत फल न होवे, इसलिये वैसी प्रार्थना करते हैं. श्रीकृष्णमें ईश्वर भाव ही सदा बना रहे, यों सबोंने मिलकर तीन प्रार्थनायें कीं ।।६८।।

आभासार्थ: इस प्रकारकी प्रार्थना होनेसे उद्धवजीको संतोष हुआ, जिससे उद्धवजीने मनसे ही उसको स्वीकार करते हुए कहा कि यों ही हो, अर्थात् आपके मनकी वृत्तियां श्रीकृष्णके चरण कमलकी आश्रित हो. वाणी नाम रटती रहे, कायासे नमस्कार पूजा आदि करते रहो, अनन्तर आप मथुरा आकर पहुंचे, जिसका वर्णन 'एवं सम्प्रार्थितो' श्लोकमें करते हैं:

एवं सम्प्रार्थितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ।।६९।।

श्लोकार्थ: हे राजन्! श्रीकृष्णभक्तिपूर्वक गोपोंसे प्रार्थित उद्धवजी, श्रीकृष्णसे पालित मथुरामें वापिस आ गए ।।६९।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें 'कृष्णभक्त्या' पदका आशय प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि किसीको ऐसी शङ्का हो जावे कि उद्धवजीने नन्द आदिके प्रार्थनासे अपना उत्कर्ष समझा अथवा उनको अन्य भजन है, यों समझा, यों नहीं है किन्तु 'कृष्ण भक्त्या' तथा ''मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे'' इन पदोंसे उद्धवजी सन्तुष्ट हुए. जब नन्द आदिमें भक्तिकी पूर्णता है तो प्रार्थना क्यों की? प्रार्थना करनेका यह भाव है कि, जो पूर्ण भक्त होते हैं, उनका सहज स्वभाव होता है कि वे अपने उत्कर्षको नहीं जानते हैं. जिससे वे सदैव दीनतासे गुरु वा प्रभुको प्रार्थना ही करते रहते हैं. जब नन्द आदि वैसे पूर्ण हैं, तो उनसे सत्सङ्गकेलिये वहां कुछ और समय क्यों न ठहर गये? जिसका उत्तर, नराधिप सम्बोधनसे दिया है. सेवकका कर्त्तव्य स्वामिके इच्छानुकूल ही होता है अर्थात् स्वामिकी जैसी आज्ञा होती है तदनुसार ही उतना कार्य कर सकता है. विशेष अन्य करे, तो अपराधी

होता है. आप राजा हैं, इसलिये आपको इस विषयका ज्ञान है ही. यदि कहो कि प्रार्थनाके फलस्वरूप आशीर्वाद वा स्वीकृति प्रत्यक्ष क्यों नहीं दी? आशीर्वादसे प्रीति(प्रसन्नता) ही मुख्य है, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजीने पहले ही 'परम प्रीतः' पदसे कर दिया है. श्लोकमें 'कृष्णपालिताम्' कहा है, इस पर शङ्का होती है कि, उद्धवजीके सिवाय अन्य भी सेवक विद्यमान थे, तो स्वयंने पालनका कार्य क्यों किया? इसके उत्तरमें आचार्यश्री कहते हैं कि वह विशेष सङ्कटका समय था, जबकि जरासन्ध आदिके आक्रमणका भय था. अन्य अक्रूर आदि पर भगवान्का उद्धवजीके समान पूर्ण विश्वास नहीं था, इसलिये उद्धवजीको ''**त्वं हि नः परमं चक्षुः**'' ''**वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री**'' कहा है. इसी विशेष अवस्थाके कारण आप व्रजमें नहीं पधारे, अतः उद्धव भी व्रजमें विशेष न ठहरकर मथुरा वापिस आ गये।६९।।

आभासार्थ : नन्द आदिको भगवदाज्ञानुसार सान्त्वना देना आदि कार्य उद्धवजीने दासभावसे ही किया है, यह जतानेकेलिए 'कृष्णाय' श्लोकसे निवेदनका वर्णन करते हैं:

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्।।७०।।

श्लोकार्थ : श्रीकृष्णको प्रमाणकर व्रजवासियोंमें जो भक्तिकी अधिकता देखी, उसका भगवान्के सामने वर्णन किया और प्राप्त की हुई भेंट भी दीं. अन्य जो भेटें मिलीं थीं, वे भी वसुदेव, राम और राजाको पृथक्-पृथक् दे दीं।।७०।।

व्याख्यार्थ: मिली हुई भेंटें सबको दीं, यह सम्बन्ध है. भगवान्को नमस्कारकर व्रजवासियोंके भक्तिका उद्रेक कहा. जैसा कि उद्धवजीने आकर उनमें भक्तिका उद्रेक बताया, वैसा पहले भगवान्ने नहीं कहा था, जिससे जाना जाता है कि बहुत करके आप इसको ध्यानमें नहीं लाये हैं, अतः भगवान्ने ''ताः मन्मनस्काः'' इतना ही कहा, क्योंकि इस प्रकारका उद्रेक आपने देखा नहीं था. तो क्या भगवान् जानते नहीं थे क्या? इसलिये आचार्यश्रीने 'प्रायेण' पद दिया है. विशेषमें कहते हैं कि जैसा प्रेमात्मिका भक्तिका स्वरूप शास्त्रोंमें निरूपण किया है, जिससे भी व्रजवासियोंमें विशेष भावका उद्धवजीने वर्णन किया है, इससे यह भाव अनिर्वचनीय है तथा दूसरे स्थानपर वा दूसरोंमें देखनेमें नहीं आया है. पश्चात् वसुदेवजीको भेंटें दीं, कारण कि वसुदेवजी यों न समझें कि अक्रूर मेरे

पुत्रोंको यहां ले आये, फिर उनको हमने मिलनेकेलिये भी वहां नहीं भेजे, इसलिये नन्दजीने सम्बन्ध व प्रेम छोड़ दिया. परन्तु भेंटें भेजकर बता दिया कि अपना मैत्री और भ्रातृत्वका सम्बन्ध स्थिर है. रामको भेंटें दीं, जिससे यह बताया कि नन्दरायकी आपमें वही बालभावना है. राजाको भेंटें दीं जिसका आशय है कि आपको भी हम राजा मानते हैं. अक्रूर आदिको भेंटें दीं, जिससे बताया कि आप यहांसे राम-कृष्णको ले गये, इस कारणसे हमारे मनमें किसी प्रकारका आपके प्रति विषमभाव उत्पन्न नहीं हुआ है ।।७०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्धके अध्याय ४४,
राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरणके पंचम अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा
विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय ४५

भगवान्का कुब्जा और अक्रूरजीके घर जाना

एवं पूर्वनिरोधस्य सान्त्वनोत्कर्षवर्णनम्।
कृत्वा भविष्ययोश्चैव सान्त्वनं विनिरूप्यते ।।का.१।।

कारिकार्थ : इस प्रकार उद्धव द्वारा सान्त्वना करानेसे प्रथम किए हुए तामस निरोधका उत्कर्ष सिद्ध किया, इस प्रकार सान्त्वन दूसरे निरोधमें नहीं करते हैं, जिसका वर्णनकर, अब होनेवाले राजस तथा सात्त्विक भक्तोंके सान्त्वनका वर्णन करते हैं ।।१।।

मथुरावासिनः सर्वे राजसाः परिकीर्तिताः।
सात्त्विकाः पाण्डवा भक्तास्तयोः सान्त्वनमुच्यते ।।का.२।।

कारिकार्थ : मथुरामें रहनेवाले भक्त राजस हैं और पाण्डव सात्त्विक भक्त हैं, इन दोनोंका सान्त्वन कहते हैं, उत्कर्ष नहीं कहते हैं ।।२।।

राजसत्वप्रसिद्ध्यर्थं स्त्रीपुंसोरत्र वर्णनम्।
प्रक्रियान्तररूपा हि किञ्चिद्द्वारा तथा कृताः ।।का.३।।

कारिकार्थ : स्त्री और पुरुष दोनोंके राजसत्वकी प्रसिद्धिकेलिए यहां छठे व सातवें अध्यायमें वर्णन किया है. पाण्डव सात्त्विक भाववाले हैं, उनको अक्रूरजी द्वारा सान्त्वना दिलाई है. सात्त्विक पाण्डवोंकी सान्त्वनाका राजसप्रकरणमें वर्णन इसलिए हैं, कि सान्त्वना देनेवाला अक्रूर, राजस है ।।३।।

अक्रूर उद्धवान्मुख्यः ततोऽग्रे प्रेषणं मतम्।
दासभावे तूद्धवस्तु शास्त्रतस्त्वयमेव हि ।।का.४।।

कारिकार्थ : अक्रूर उद्धवजीसे मुख्य हैं, इस कारणसे उसको अपने पधारनेसे पहले भेजा हैं. यों करनेसे उद्धवजीकी हीनता प्रकट होगी? इस शंकाको मिटानेके लिए कहते हैं कि उद्धवजी दासभावमें मुख्य हैं और अक्रूर शास्त्र द्वारा लौकिकमें मुख्य हैं, अतः अपने-अपने गुणमें मुख्य होनेसे, दोनों, स्वरूपसे समान हैं ।।४।।

स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः राजसत्वात्स्वरूपतः।
वाचान्यस्य निरूप्यं हि स्तुत्या च प्रेषणेन च ।।का.५।।

कारिकार्थ : प्रथम स्त्री सान्त्वन, प्रद्युम्न स्वरूपसे किया है, क्योंकि यह

राजस लीला है. अक्रूरकी सान्त्वना, वाणी, स्तुति और हस्तिनापुर भेजकर की है ।।५।।

पञ्चचत्वारिंशेध्याये कुब्जाक्रूरातिसान्त्वनम् ।
कायेन वचसा चक्रे भाव्यर्थमिति वर्ण्यते ।।का.६।।

कारिकार्थ : ४५वें अध्यायमें कुब्जा और अक्रूर दोनोंकी सान्त्वना की. कुब्जाको वरदान दिया था, अतः कायासे उसकी सान्त्वना की. अक्रूरकी वाणीसे सान्त्वना की, दोनोंको अति क्लेश था, इसलिए इनकी सान्त्वना पहले की है ।।६।।

आभासार्थ : इस प्रकरणमें प्रथम ११ श्लोकोंसे कुब्जाकी कथा कहते हैं. उस कथामें एकादश मनोवृत्तियोंको तृप्त करनेसे भी कुछ अधिक करना है, जिसका वर्णन 'अथ विज्ञाय' श्लोकसे प्रारम्भ करते हैं :

श्रीशुक उवाच

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।
सैरन्ध्राः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि सबकी आत्मा, सर्वदर्शी भगवान्, कामदेवसे संतप्त कुब्जाको जानकर, उसका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके घर पधारे ।।१।।

व्याख्यार्थ: उसके मनकी सब वृत्तियां तो पूर्ण करनी है, किन्तु उससे भी अधिक करना है, यों विचारकर भगवान् पहले उसके घर आप ही पधारे. कुब्जामें भक्ति नहीं थी, अतः यह दूसरा विषय है, इसीलिये 'अथ' शब्द दिया है, किन्तु उसका दुःख व्रजवनिताओं जैसा है, अतः उसको मिटानेकेलिये गये. इस अभिप्रायको प्रकट करनेकेलिये 'इति विज्ञाय' पद दिया है. जिसके कहनेका प्रकरणानुसार भाव है कि कुब्जा, कामसंतप्त थी. आप भगवान् हैं, इसलिए इसको जाननेकी आपमें सामर्थ्य है. परपुरुष होकर कामतृप्ति करना तो दोष है, इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि कोई दोष नहीं है, क्योंकि आप सर्वकी आत्मा हैं, अतः दुःख जानकर उसका उपाय अवश्य करना चाहिये. आप समदर्शी हैं, यह फलमुख कारण है. इसको कामपीड़ा पहले नहीं थी, क्योंकि देहसे कुबड़ी थी, अब देह सुन्दर हो गई और अन्तःपुरमें अधिकारवाले स्थान पर थी. जिससे स्त्री चरित्र पूर्णतः जानती थी, इसलिये कामकी पीड़ा विशेष होने लगी और वह इसके

योग्य ही है. वह भगवान्‌के पास आवे, वैसी सामर्थ्य उसमें नहीं थी, अतः आप ही उसके घर पधारे. भगवान्‌के केवल वहां जानेकी इच्छासे ही उसका काम निवृत्त ही हुआ, तो भी उसको प्रसन्न करनेकी इच्छासे वहां गये, उसका प्रिय हो, यों भगवान्‌ने मनसे विचार किया ।।१।।

आभासार्थ : इस प्रकार विचार करनेसे क्या होगा? उसका प्रिय करना है, तो वह उसके घर जानेसे होगा, इस शंकाके मिटानेकेलिए विचारमात्र करनेसे भगवदिच्छा होते ही उसके गृहका उत्कर्ष हो गया अर्थात् गृह सर्वोत्तम बन गया, जिसका वर्णन 'महार्होपस्करै' इस डेढ श्लोकसे करते हैं :

महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ।।२।।

श्लोकार्थ : सब प्रकारकी घरके योग्य बहुमूल्यवाली सामग्रीसे घर सुसज्जित हो गया. जिसमें कामको बढ़ानेवाली वस्तुएं धरी हैं. मोतियोंकी माला, पताका, चंदोवा, सोनेकेलिए शय्याएं आदि सब सजी हुई हैं. सुगन्धि धूप, दीप, फूलोंकी मालाएं और चन्दन आदि सिद्‌ध हुए धरे थे अर्थात् तैयार रखे हुए थे ।।२।।

व्याख्यार्थ: जैसे कुब्जाका लौकिक साधारण घर भी भगवदिच्छासे वैसा हो गया, इस प्रकार कुब्जा भी गोपियोंके समान होनी चाहिये, वैसी भगवान्‌की इच्छा योग्य ही है. गृहके सब भाग, पात्र आदि सर्व सामग्री अमूल्य थी, जिससे सारा गृह भरपूर हो गया था. इस प्रकार गृहका लौकिक उत्कर्ष वर्णनकर, अब शास्त्रीय उत्कर्ष कहते हैं. कामशास्त्रमें जो कामको बढ़ानेवाली सामग्री कही है, वह सब तैयार थी, जैसे कि चित्र, पुष्प मालाएं तथा उद्‌दीपक रसायन आदि. अब अलौकिक उत्कर्षका वर्णन करते हैं, मोतियोंके गुच्छोंसे, पताकाओंसे गृहके बाहरका भाग सुशोभित था. भीतरका भाग चंदोवा एवं सोने तथा बैठनेकेलिये पलङ्ग आदि, जिसको स्पर्श करनेसे सुख उत्पन्न हो, वैसे कोमल बिछोने आदि थे. फिर नित्य विशेषप्रकारसे उनको सुसज्जित किया जाता था. इसके सिवाय सुगन्धकेलिये धूप, प्रकाशार्थ मणिमय दीप, शीतलता आदिकेलिये चन्दन, पुष्प मालाएं. इसी भांति सुशोभित गृहका तीन तरहसे उत्कर्ष भगवदिच्छासे हुआ ।।२।।

आभासार्थ : पश्चात् भगवान्के पधारने पर कुब्जाने प्रेमपूर्वक सत्कार किया, जिसका वर्णन 'गृहं तमायान्तम्' श्लोकमें करते हैं :

गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात् सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा ।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास सदासनादिभिः ।।३।।

श्लोकार्थ : घरमें पधारते हुए भगवान्को देखकर कुब्जा शीघ्र ही आसनसे उठकर आते ही घबरा गई, फिर सावधान हो सखियोंके साथ आकर भगवान्से मिली, अनन्तर आसन आदि देकर उनका सर्वथा सत्कार किया ।।३।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें भगवान्की इच्छाका विषय 'गृह' है, अतः गृह भी कर्म है, इसलिये 'अवेक्ष्य' क्रियाके 'गृह' और 'तं' दो कर्म हुवे, जिसका सम्बन्ध इस प्रकार समझना. भगवान्ने इच्छा की थी, कुब्जाका गृह सर्व प्रकार सुन्दर हो जावें, अतः भगवान्ने आते ही प्रथम घरको देखा, पश्चात् स्वागत कराया, जिससे 'गृह', कर्म है और कुब्जाने तो भगवान्को देखा, जिससे 'तं' कर्म है. कुब्जा भगवान्को अपने गृह आते हुवे देखकर आसनसे सहसा उठी, तो घबरा गई, क्योंकि अन्तःकरणमें यह विचार हुआ कि इनका स्वागत मैं कैसे कर सकूंगी, जिससे ही घबराहट हुई, थोड़ी देरके बाद मनको सम्भाल, सखियोंके साथ भगवान्से मिलकर उनका सर्वप्रकार सत्कार करने लगी.

यह कान्त(पति) हैं, यदि पूजन आदिमें विशेष समय लग जायेगा, तो उसका काम शान्त हो जायेगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि इनका काम देरी हो जाने पर शान्त न होगा. आपका नाम 'अच्युत' है. आप जैसे पूर्ण हैं, वैसे सदा पूर्ण ही रहते हैं, उसके पूर्णस्वरूपमें किसी प्रकार, किसी अंशकी कमी नहीं होती है. आसन आदि वस्तुओंसे भी सम्मान किया अर्थात् सुन्दर सुवर्णके आसन, शय्या भी दिये. 'सत्', आसनका विशेषण है, जिसके देनेका आशय है कि वे आसन आदि सर्व पदार्थ नवीन हैं, किसीने ये अपने काममें नहीं लिये हैं ।।३।।

तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोपि तूर्णं शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ।।४।।

श्लोकार्थ : उद्धवजीका भी साधुपनसे सत्कार किया. वे सत्कार पाकर आसनका स्पर्शकर, पृथ्वी पर बैठ गए, श्रीकृष्ण भी लोकरीतिका अनुकरण करते हुए शीघ्र ही जाकर अमूल्य शय्या पर बिराजे ।।४।।

व्याख्यार्थ: कुब्जाने भगवान्की पूजा, पतिभावसे की और उद्धवजीका

पूजन, भक्त समझकर किया. यों समझा जाता है कि जिससे दोषरूप कामकी उद्धवजीमें निवृत्ति दिखाई. उद्धवजीको राजधर्मका पूर्ण ज्ञान है, अतः आप आसन पर न बैठकर केवल उसका स्पर्शकर पृथ्वी पर बैठ गये. कुब्जाको जो कुछ करना था, उसके हो जानेके अनन्तर भगवान् भी अपना कृत्य करने लगे. कुब्जाके मनोरथकी सिद्धिकेलिये धारण किये हुवे कामकी पूर्णता करनेमें थोड़ा भी यदि भगवान् विलम्ब करते, तो सम्पूर्ण जगत् काममय हो जाता. इसलिये आप शीघ्र ही शय्या पर जाकर बिराजे, किन्तु वह शय्या नवीन थी, किसीने अपने काममें नहीं ली थी. एवं कुब्जाने ही दिखाई थी एवं बहुमूल्य थी, जिससे यह शङ्का भी मिट गई कि यह शय्या अन्य किसीकेलिये है वा भगवान्केलिये है तथा बहुमूल्य थी. इससे भी उसकी उत्कृष्टता तथा भगवान्केलिये ही है, यह सिद्ध हो गया था. जहां शय्या धरी थी, वह स्थान भी जहां प्रथम बिराजे थे, उस स्थानसे पृथक् एवं एकान्तमें था. भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, वे बिना प्रार्थनाके स्वयं वहां कैसे गये? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'लोकाचरितान्यनुव्रत' भगवान्ने इस समय लौकिक चरित्र करनेका सङ्कल्प कर लिया, अतः स्वयं गये. कुब्जा लौकिकी स्त्री है, लौकिकरीतिको ही जानती है, उसका वैसा ही मनोरथ है, वह गृहस्थके समान भावको जानती हैं, ईश्वर भाव गुप्त होनेसे नहीं जानती है. विटव्यवहार (खङ्गव्यवहार) प्रसिद्ध होनेसे जानती है, अतः उसके मनोरथके अनुकूल लोकरीतिसे ही वह ग्रहण करनेके योग्य है. भगवान् भी साधारण लोगोंके समान चरित्र करने लगे. यों कहना अनुवाद नहीं समझना चाहिये, किन्तु वास्तविक यों किया है. यदि यों न करे, तो कुब्जाका निरोध सिद्ध न होवे, अतः निरोध सिद्धिकेलिये भगवान्से इस प्रकारकी लीला की है*।।४।।

*.'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीता श्लोकके भावकी चरितार्थता दृष्टिगोचर होती है–अनुवादक.

आभासार्थ: अनन्तर वह भी वहां गई, उसके संस्कारपूर्वक जानेका वर्णन 'सा मज्जनालेप' श्लोकमें करते हैं :

सा मज्जनालेपदुकूलभूषणस्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ।।५।।

श्लोकार्थ: वह भी स्नान, चन्दनका लेपन, वस्त्र, आभूषण, पुष्पोंकी माला, सुगन्धित अत्तर आदि, ताम्बूल और अमृतके समान आसव आदि

पदार्थोंका पान आदिसे अपने शरीरको सर्व प्रकार सजाकर अर्थात् भोग योग्य बनाकर, लाज युक्त लीलासे हंसती तथा विलासयुक्त दृष्टिसे देखती हुई लक्ष्मीपतिके पास आ पहुंची ।।५।।

व्याख्यार्थ: भगवदिच्छासे उसको संस्कृत करने योग्य सर्व पदार्थ सिद्ध हुवे धरे थे, जिनसे कुब्जाने प्रथम स्नानकर, चन्दन आदिसे शरीर पर लेप किया, वस्त्र तथा आभूषण पहने, अमृतसम आसव पीये, जिनसे शरीरमें स्फूर्ति हो और नशेसे देहकी विस्मृति हो, यों करनेसे यह बताया है कि कामशास्त्र कामकेलि करते समय जिन पदार्थोंका पान करना चाहिये, वे पान किये. 'आदि' शब्दसे यह भी बताया कि वहां आयुर्वेद शास्त्रोक्त चन्द्रोदय आदि रस भी धरे थे, जिनके सेवनसे कामकी जागृति होती है. इस प्रकार इन पदार्थोंके सेवनसे शरीरको सुसंस्कृतकर, उस भावको प्राप्त हुई. यों करनेमें इसको कुछ भी शङ्का न हुई, क्योंकि उसने समझा कि जिसके पास जा रही हूं, वे लक्ष्मीपति हैं, अतः निःशङ्क होकर माधवके पास पहुंची. उसने भगवान्केलिये अपने अन्तःस्थित सर्वभाव, क्रमसे सूचित किये, जिसका वर्णन करते हुवे कहते हैं कि कुब्जाने भगवान्को पति और अपनेको स्त्री समझा, अतः प्रथम सम्बन्धके समय जैसे लौकिकस्त्रियां लाज करती हैं, वैसी इसने भी लज्जा की. पश्चात् जब केलिमें प्रवृत्त हुई, तब हास करने लगी. अनन्तर भगवान्की चेष्टाओंको आदरपूर्वक देखने लगी. भगवान्की चेष्टाओंमेंसे, जिस प्रकारकी केलिकी इच्छा हो, उसको भाषण द्वारा प्रकट कहनेको 'सूनृत' कहते हैं, इस प्रकार सर्व क्रिया कुब्जाने की. आगे भगवान्के साथ भी यह क्रम करेगी, अतः प्रथमसे ही इस प्रकारकी चेष्टा करती हुई ही गई है ।।५।।

आभासार्थ : कुब्जा कान्ता हुई, जिससे उसमें भगवान्के धर्मोंका प्रवेश हुआ, अतः, जैसे भगवान्ने चाहा, वैसा उसने किया, इसका वर्णन 'आहूय कान्तां' श्लोकमें करते हैं :

आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ।।६।।

श्लोकार्थ : नव सङ्गमके कारण लज्जा आनेसे शंकावाली कान्ताके कंकणसे शोभित हाथको पकड़कर, शय्या पर बिठाकर उससे रमण करने लगे, जिसका केवल भगवान्को चन्दन अर्पण करनेका ही पुण्य था, उस पुण्यका यह

फल भगवान्ने इसको दिया ।।६।।

व्याख्यार्थ: कुब्जा भगवान्के पास गई, किन्तु वहां जाते ही प्रथम सङ्गमके कारण लज्जा आनेसे स्वयं प्रवृत्त होनेसे सङ्कोच करने लगी. अतः भगवान्ने कंकणोंसे सुशोभित हाथको पकड़कर शय्या पर बिठाया. कङ्कण धारण सुवासिनियोंका चिह्न है, इसका पति भगवान्के सिवाय अन्य कोई नहीं है. यदि भगवान् इसको ग्रहण न करे, तो इसका कङ्कण धारण करना ही व्यर्थ हो जाये. शय्या पर पासमें बिठाना, यह प्रथम सुरत है. इसके साथ जो प्रथम सुरत किया, तो यह कौन है? सर्वत्र, स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'रामया' यह स्त्री, भोगकेलिये ही है.

वेदमें कहा है कि 'नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्' अग्नि चयनकर, स्त्रीके साथ सङ्गम नहीं करना चाहिए, यह विशेष अवस्थामें निषेध है. दूसरे समयमें इस प्रकार स्त्रीसे सम्बन्ध करना दोष नहीं है. धर्म करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है, किन्तु यह तो परमानन्दका अनुभव कर रही है, इसका क्या कारण है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान्को चन्दन अर्पण किया, जिसके सिवाय अन्य पुण्य तो नाममात्र है अथवा चन्दन अर्पण किया, जिसके पुण्यका यह फल लेशमात्र है अथवा चन्दनके अर्पणके पुण्यकी लेशवाली यह है, अतः भगवान्ने इसको रमणमें गौण रख, स्वयं मुख्यरूपसे रमण करने लगे. इतना फल भगवान्ने आप ही इसको विशेष दिया, न कि यह परमानन्द इसको कर्मके फलसे मिला है. अथवा भगवान् सर्वसमर्थ हैं, इसको इतना ही फल स्वेच्छासे दिया है, यह जतानेकेलिए वैसा कहा है।।६।।

आभासार्थ: अनन्तर वह भी निर्लज्ज बन गई, जिससे अपनी इच्छानुकूल करने लगी. जिसका वर्णन 'साऽनङ्गतप्त' श्लोकमें करते हैं :

साऽनङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ।।७।।

श्लोकार्थ: वह कुब्जा कामसे तप्त स्तन, छाती तथा नेत्रोंके संतापको भगवान्के चरणोंको सूंघ कर मिटाती हुई अपने स्तनोंको मध्यमें लाकर आनन्द स्वरूप कान्तको दोनों भुजाओंसे जोरसे आलिङ्गनकर, बहुत दिनके काम-तापको शान्त करने लगी ।।७।।

व्याख्यार्थ: कुब्जाने बाहर तथा भीतरके तापको इस प्रकार मिटाया,

प्रथम बाहरका ताप, जिससे स्तन, छाती एवं नेत्र सन्तप्त थे, उसको भगवान्के चरणसे सम्बन्धकर, अर्थात् उसका स्पर्शकर, मिटाया और अन्दरके तापको, चरणोंको दूर सूंघकर उसकी गन्धसे मिटाया. भगवान्को अनन्त कहकर यह भाव दिखाया है कि ताप क्रमशः शान्त नहीं हुआ, किन्तु सर्व ताप साथ ही नष्ट हो गये. जिससे कुब्जाके केवल तापका दुःख मिटा, यों नहीं है, किन्तु उसको परमानन्दका भी अनुभव होने लगा, जिसको स्पष्ट करते हुवे कहते हैं कि स्तनोंके मध्यभाग, हृदयमें स्थित अन्तर्यामीको बाहर प्रकटकर, भुजाओंसे आलिङ्गन करते हुवे तापको मिटाया अथवा स्तनोंके मध्यमें आये हुवेको आलिङ्गन किया, यों करनेमें कोई दोष(अपराध) नहीं है, क्योंकि वे कान्त हैं और यह आलिङ्गन केवल अन्त तक सुखजनक नहीं है, किन्तु स्वरूपसे भी आनन्द देनेवाले हैं, क्योंकि वे आनन्दस्वरूप हैं, इसलिये ही तीन प्रकारका ताप नष्ट हुआ. यह काम-ताप, जो कोटि जन्मोंसे तप्त कर रहा था, वह भी अब मिट गया ।।७।।

आभासार्थ : इस प्रकार केवल चन्दन अर्पणका फल वर्णनकर, फलके अनुभवकेलिए जो भगवान्की सेवा की और रतिको उत्पन्न किया, जिसका फल भी कहना चाहिए, वह 'सैवं' श्लोकमें कहते हैं :

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ।।८।।

श्लोकार्थ : मोक्षके स्वामी, अति दुर्लभ ईश्वरको, केवल चन्दन अर्पण करनेसे प्राप्त किया. आश्चर्य है कि फिर भी वह मन्दभाग्या रही, क्योंकि उसने यह(श्लोक ९ में) मांगा ।।८।।

व्याख्यार्थ: यह सम्बन्ध पहलेसे उत्कृष्ट है, इसलिये यह वर दिखानेवाला हुआ है. यों होते हुवे भी फलकी प्राप्तिमें कोई मर्यादा नहीं है कि इतना ही मिलेगा, तो भी इसका भाग्य ही अल्प है, जिससे इसकी बुद्धि वैसी हो गई और मांगा भी बहुत कम है. इसीसे श्रीशुकदेवजी, उसकी निन्दा करते हुवे कहते हैं, कि 'दुर्भगेदमयाचत' जब देनेवाले समृद्ध हैं, प्रसन्न होनेसे देना चाहते हैं, तब थोड़ा मांगना मन्दभाग्यका चिह्न है और यह अच्छे भाग्य न होनेसे यों अल्प मांगा जाता है.

वह कुब्जा, इस प्रकार उपकार करनेवाले, आप ही पधारकर सर्व सुख देनेवाले, मोक्षके स्वामी, सर्व प्रकारके उपायोंसे जो प्राप्त नहीं होते हैं, जो ईश्वर

होनेसे दुष्प्राप्य हैं, यदि ईश्वर न होवे, तो साधनोंके आधीन होवें, वैसे प्रभुको प्रसन्न पाकर भी उनसे मोक्ष वा गोपिकाओं जैसी अवस्थाकी प्रार्थना न कर, केवल कुछ समयकेलिये सम्बन्धकी प्रार्थना की है, अतः दुर्भगा है. यद्यपि यह मांग भी स्वरूपसे उत्तम है, किन्तु कालसे परिच्छिन्न है. अर्थात् थोड़े समयका सम्बन्ध मांगा है, तो भी फलस्वरूप होनेसे साधनरूप नहीं है ।।८।।

आभासार्थ : कुब्जाने मांगा, उसका वर्णन 'आहोष्यतां' श्लोकमें करते हैं:

आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया ।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेम्बुरुहेक्षण ।।९।।

श्लोकार्थ : हे प्यारे! कुछ दिन तो मेरे साथ यहां रहो, हे कमलनेत्र! आपका सङ्ग मैं नहीं छोड़ सकती हूं, अतः यहां रहकर मेरे साथ रमण करो ।।९।।

व्याख्यार्थ: यहीं रहो, इन शब्दोंके कहनेका भावार्थ आचार्यश्री स्पष्ट करते हुवे कहते हैं, कि कुब्जाके इन शब्दोंका तात्पर्य यह है कि भगवान्को कहती हैं कि आपने अब तक विवाह तो किया ही नहीं है, तो कहीं भी आप सो जाओगे, जिससे तो यहीं शयन करना चाहिये. यदि आप कहो कि तुम्हारे पास कैसे सो जाऊं? यों क्यों कहती हो? इसके उत्तरमें वह फिर कहती है कि आप मेरे परम प्यारे हैं, इसलिये यों कहती हूं और मैं यों अन्तर्यामी स्थितिके रूपसे रहनेको नहीं कहती हूं किन्तु कुछ दिन और मेरे साथ रमण करो. अब यदि कहो कि इस प्रकारका आग्रह, वररूपसे क्यों मांग रही हो? मोक्ष आदि अन्य उत्तम वर क्यों नहीं मांगती हो? इस पर वह कहती है कि आप कमलनेत्र हैं, आपको देखनेसे ही सर्व प्रकारके सुखकी प्राप्ति हो जाती है तथा काम जागृत होता है, अतः आपका सङ्ग छोड़ नहीं सकती हूं।।९।।

आभासार्थ : यद्यपि भगवान्ने कुब्जाको अति सुख देनेका विचार किया था, किन्तु हतभाग्याने जो अल्प मांगा तो वही दिया, जिसका वर्णन ''तस्यै कामवरं दत्वा'' श्लोकमें करते हैं :

तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्द्धमत् ।।१०।।

श्लोकार्थ : उसकी इच्छाके अनुसार मान देनेवाले सर्वेश्वर भगवान्ने उसका सम्मान करके कामका वर दिया. अनन्तर कुब्जासे सत्कार पाकर

उद्धवजीके साथ अपने धाम आए ।।१०।।

व्याख्यार्थ: श्लोकमें भगवान्को मानद कहा है, अर्थात् सबको मान देनेवाले हैं, अतः इसका मान किया. जिसके रहस्यको आचार्यश्री प्रकट करते हुवे कहते हैं कि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं. आपने कुब्जाको भी उनकी गणनामें गिना था, जिनको मोक्ष तथा भक्ति देनेकेलिये आप आये हैं. अतः उस सङ्कल्पको सत्य करनेकेलिये याचना न होने पर भी वह भी दिया. आपने स्वधर्मसे कुब्जाका यही मान किया कि भगवान् सर्वेश हैं, अतः उसकी इच्छाके अनुसार मानवधर्म भी ग्रहणकर वह उसका मनोरथ पूर्ण किया. जिसके पूर्ण हो जानेके अनन्तर फिर वही अपना सहज ईश्वर–धर्म ग्रहण कर लिया. इससे यों भी समझा जा सकता है कि जैसे कुछ दिन रमण हो वैसे ही किया. जिस प्रकार भगवान्ने अपनी मायाशक्तिसे नारदको क्षणमें की हुई लीलाको ६० संवत्सरोंमें हुई की प्रतीति करवाई थी, वैसे ही यहां भी कुब्जाको प्रतीति करवाई. इससे यह बताया है कि यहांसे जानेके पश्चात् मेरा आना असम्भव है. अतः यह शङ्का नहीं करनी कि यदि आकाङ्क्षा भी हो तो मैं फिर आ जाऊं? क्योंकि और इच्छा हो, तब फिर चला जाऊं? जहां मैं जा रहा हूं, वहां मेरे बहुत समृद्धिवाले धाम हैं, इसलिये यहां आनेकी इच्छा होगी ही नहीं, यों कहकर अपने समृद्ध धामको चले आये ।।१०।।

आभासार्थ : इस कारणसे ही, भगवान्को प्राप्तकर, उनसे स्वयं कुछ भी देनेकेलिए प्रार्थना नहीं करनी, भगवान्को जो कुछ करना, वा देना हो, वह करें, वा देवें. जो इस प्रकार नहीं करता है, वह मूर्ख है, जिसको 'दुराराध्यं' श्लोकमें कहते हैं:

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम् ।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्वात्कुमनीष्यसौ ।।११।।

श्लोकार्थ : सब ईश्वरोंके ईश्वर, दुराराध्य भगवान्को आराधनासे प्राप्त कर, जो जीव, प्रसन्न हुए उन परमात्मासे अपनी मनोऽनुकूल याचना करता है, वह मूर्ख है ।।११।।

व्याख्यार्थ: श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि प्रथम तो उसकी आराधना करनी ही कठिन है, इसलिये ही हम जो मुक्त हैं, वे जो वैसे ही ढीठ(अविज्ञ(मूर्ख)) रह गये हैं. जो पालनकेलिये ही प्रकटे हैं, जो बिना आराधना करनेवालेकी भी पालना

करते हैं, जो काल आदिके भी ईश्वर हैं, जो सबके कालग्रासको भी निवारण करते हैं, ऐसे प्रभुकी आराधनाकर, और उनको प्रसन्न करनेके अनन्तर जो जीव अपने मनकी(इच्छानुकूल) याचना करता है, वह मूर्ख है. जैसे कोई महाराजाके पास जाकर, स्वयं भूखा एवं सर्व प्रकारके दुःखोंसे घिरा हुआ भी महाराजासे अपने पास रहनेवाले बन्दरकेलिये ही टुकड़ा मांगता है, तो वह मूर्ख ही है. वैसे ही अखिलेश्वर, आनन्दघन, घनश्याम प्रभुको प्राप्त करके भी आत्माकेलिये मोक्ष आदि न मांगकर मनरूप मर्कटकी इच्छानुकूल विषयानन्द मांगता है, तो वह मूर्ख ही है, क्योंकि मनके धर्म असत् हैं. वे आत्मामें केवल आरोपित हैं, अर्थात् वे मनके धर्म, आत्माके समझे जाते हैं. किन्तु वास्तवमें वे आत्माके नहीं हैं, अतः वे असत् विषयरूप होनेसे अनित्य, अल्प, और अन्तमें दुःखदायी हैं. अतः मनुष्य प्रमादसे वैसी प्रार्थना करनेसे मूर्ख समझा जाता है ।।११।।

आभासार्थ : अब 'अक्रूरभवनं' श्लोकसे दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं :

अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ।।१२।।

श्लोकार्थ : कुब्जाके मनोरथ पूर्ण करनेके अनन्तर दूसरा कार्यक्रम प्रारम्भ करनेकेलिए कृष्ण अपने साथ राम और उद्धवको लेकर अक्रूरके घर पधारे, क्योंकि कुछ अपने कार्य करानेकी इच्छा थी, साथमें अक्रूरके हितकी कामना भी थी ।।१२।।

व्याख्यार्थ: उस दिन अक्रूरको भी वरदान दिया था, अतः भगवान् उसके घर पधारे. अक्रूरको तो कुब्जासे प्रथम वर दिया था, फिर कुब्जाके पास पहले क्यों गये? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'कृष्णः' कृष्ण हैं, वे स्त्रियोंकेलिये ही आये हैं, यों हम पहलेसे कहते हैं. अक्रूरके यहां बलरामको इसलिये ले गये कि वहां उनका भी कार्य था, उद्धव उत्सवात्मक[१] होनेसे उसमें रस प्रधान ही है. रमण तो स्त्रियोंके साथ ही होता है, अतः कुब्जाके घर उद्धवजीको लेकर पधारे थे. बलभद्रको नहीं ले गये, कारण कि वहां भगवान् प्रधान थे. बलराम आवेशके कारण कदाचित् क्रोध करे तो रमण हो, या न भी हो. उस द्वैतसे रसाभास हो जावे तो वह अयोग्य देखनेमें आवे. यहां तो अक्रूरको सर्वभाव युक्तकर भेजना है, इसलिये योनिके भावकेलिये रामको और निमित्त भावकेलिये उद्धवजीको साथ लिया है. अक्रूरके बुलाये बिना, पराये गृहमें कैसे पधारे? जिसके उत्तरमें कहते हैं

कि 'प्रभुः', सबके स्वामी हैं. जिससे सेवकके घरमें उसको मान देनेकेलिये पधारते हैं. उनको बुलानेकी शक्ति किसमें है? अर्थात् किसीमें नहीं है. वहां पधारनेका दूसरा कारण कहते हैं कि अक्रूरको कहीं अन्य स्थान पर भेजनेकेलिये, उनसे भी वैसी इच्छा उद्भव करनेकेलिये, तथा अक्रूरका भी प्रिय करनेकेलिये जैसे प्रभु पधारते हैं, वैसे पधारे ।।१२।।

१.'सर्वं विस्मारकः उत्सवः' जो अन्य सबको विस्मृत करा देवे उसको उत्सव कहते हैं. उद्धव, रसप्रधान होनेसे अन्य सर्व भुला देते हैं, अतः उत्सवरूप कहे जाते हैं.

आभासार्थ : इसकी यह कथा २५ श्लोकोंमें कही जाती हैं, क्योंकि अक्रूर 'स्मार्त' है, अतः स्मार्त धर्मानुसार तत्त्वोंकी संख्या २५ कही जाती है. उन तीनोंको घर आते देख, अक्रूरने जो कुछ किया, वह 'स तान्नरवर' श्लोकमें कहते हैं :

स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिवन्द्य च ।।१३।।

श्लोकार्थ : वह, उन नरश्रेष्ठोंमें उत्तम अपने बांधवोंको देख, उठ खड़ा हुआ और बहुत प्रसन्न हुआ, तथा मिलकर अभिवन्दन किया ।।१३ ।।

व्याख्यार्थ: उसको तीनों ही तुल्य है, अतः मर्यादा अनुसार तीनोंकी पूजा की. जिससे बलदेव आदिमें विषमताका भाव नहीं है, यह सिद्ध कर दिखाया. नर उद्धवजी, नरवर बलरामजी और नरवर श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन तीनोंको अक्रूरने दूरसे आते देखा तो समझा कि ये अपने बान्धव आ रहे हैं. अतः लौकिक मर्यादानुसार घरमें कोई आवे तो उठकर उनका सत्कार करना योग्य है, इसलिये अक्रूर उठकर खड़े हो गये और उठकर सर्वप्रथम अत्यन्त प्रसन्न हुवे. [१]अक्रूर भक्त नहीं था, अतः साष्टाङ्ग प्रणाम नहीं किया. किन्तु प्रसन्न होनेके अनन्तर आलिङ्गन किया, उसके बाद अभिनन्दन किया अर्थात् सिर झुकाकर स्तुति की ।।१३।।

१.(पूर्वमें) जो अक्रूर भक्त था, वह तो मुक्त ही है.

आभासार्थ : इस प्रकार कायिक और वाचनिक नमस्कार कहकर, अब मानसिक नमस्कार 'ननाम' श्लोकसे कहते हैं :

ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ।।१४।।

पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ।।१५।।

श्लोकार्थ : अक्रूरने कृष्ण और रामको नमस्कार किया और तीनोंने उसका अभिवादन किया. हे राजन्! उसने आए हुए तीनोंका आसन आदिसे विधिपूर्वक सत्कार किया और अक्रूरने उनके पादोंका प्रक्षालनकर, प्रसादी जल अपने सिर पर धारण किया. पूजाके अनन्तर उसने दिव्य वस्त्र, गन्ध, पुष्प, मालाएं और उत्तम आभूषण भी दिए ।।१४-१५।।

व्याख्यार्थ: बाहरका नमस्कार तो लौकिक शिष्टाचार है, जिससे भगवान्ने भी दोनोंके साथ नमस्कार किया, इसलिये श्लोकमें 'तैरप्यभिवादितः' पद दिया है. श्लोकमें दो 'च' हैं, जिनका आशय प्रकट करते हुवे आचार्यश्री कहते हैं कि प्रथम 'च'से यह बताया है कि वे अक्रूरजीको भेंट देनेकेलिये फल ले आये हैं. दूसरे 'च'का आशय है कि उद्धवजीको भी साथ ले आये हैं. 'अपि' शब्द यहां बराबरी दिखानेके अर्थमें दिया है. तीनोंने भेंट अर्पण करते हुवे अक्रूरको नमस्कार किया. पश्चात् शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार, जैसे लोग, घरमें आये हुवे महापुरुषोंका पूजन करते हैं, वैसे अक्रूरने भी पधारे हुवे स्वबान्धवोंकी पूजा की. पूजाका प्रकार बताते हैं कि प्रथम सबको बैठनेकेलिये आसन दिये. यहां उद्धवजीने भी धर्मके अनुरोध(आग्रह)से बराबरीसे आसन ग्रहण किया. जैसे श्राद्धमें गुरु तथा शिष्य दोनों आसन पर बैठते हैं ।।१४।।

इसके पश्चात् पाद प्रक्षालनकर, वह जल मस्तक पर धारण किया. इससे अक्रूरने अपनी धर्मनिष्ठामें विशेष भक्ति प्रकट की. परीक्षितको 'नृप' कहकर यह बताया है कि आप धर्मको जाननेवाले हैं. इसके अनन्तर सुन्दर सुगन्धिवाले चन्दन, पुष्प, मालाएं और आभूषण आदि सामग्रीसे उनका पूजन किया, इस प्रकार पूर्वके साथ ही यह सम्बन्ध समझना है. 'पूजयामास'पदसे पूजा साधनरूपा है, जिसका तात्पर्य है कि अक्रूरने भगवान् आदिकी आराधना की ।।१५।।

आभासार्थ : इसके बाद अक्रूरने जो किया, उसका वर्णन 'अर्चित्वा' श्लोकसे करते हैं :

अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतो मृजन्।
प्रश्रयावनतोक्रूरः कृष्णरामावभाषत ।।१६।।

श्लोकार्थ : इस प्रकार पूजन करनेके बाद मस्तकसे प्रणाम करके और चरणोंको अपनी गोदमें लेकर धीरे-धीरे चांपते हुए अक्रूरजी स्नेहसे विनम्र होकर राम-कृष्णकी स्तुति करने लगे ।।१६।।

व्याख्यार्थ: अनन्तर अक्रूर उच्च आसन पर विराजमान् भगवान्के चरणोंको गोदीमें लेकर, सेवाभावसे उनकी चंपी करने लगा, स्नेहसे प्रणामकर, प्रथम ही देखे हुवे रामकृष्णकी स्तुति करने लगा ।।१६।।

आभासार्थ : अक्रूरने जिस प्रकार स्तुति की, वह प्रकार 'दिष्ट्या' श्लोकमें कहते हैं :

दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ।।१७।।

श्लोकार्थ : प्रसन्नता है, जो पापी कंस भ्राताओंके साथ मरा, अपने - अपने कुलका बड़े दुःखसे उद्धार किया है. अब वह वृद्धिको करेगा, यह सब हमारे भाग्यसे हुआ है ।।१७।।

दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।
सर्वैर्भावैरिह स्तुत्यो निरोधे ह्यधिकारिभिः ।।का.१।।
सर्वेष्वेव च भावेषु कृष्णोत्कर्षो निरूप्यते ।
अयुक्तं प्रार्थयेद्यस्तु तस्मै दद्यान्न सर्वथा ।।का.२।।
न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः नोत्तरस्यापि दास्यति ।
निरोधो ह्यन्यथा न स्यात् फलार्थं कर्म तद्भवेत् ।।का.३।।
ईश्वरः सर्वहितविदतो रोधो न दूषणम् ।
यथा बालकरोधो हि पित्रापि विनिरूपितः ।।का.४।।
निवर्तयति कामांस्तान् ज्ञानेन ग्रहिला मतिः ।
यदि स्यादुत्कटा दुष्टा निर्दुष्टा वा विचारतः ।।का.५।।

कारिकार्थ : दस श्लोकोंसे स्तुति की गई है, एक श्लोक दोषोंको मिटानेकेलिए कहा है और एक श्लोकमें प्रार्थना की है. यह स्तुति निरोधके अधिकारी भक्तोंने की है, अतः यह स्तुति सर्वभावोंसे पूर्ण है. सर्वभावोंमें श्रीकृष्णके ही उत्कर्षका वर्णन है. भगवान् भक्तको वह वस्तु देते हैं, जो योग्य हो. यदि भक्त अयोग्य वस्तुकी प्रार्थना करता है, तो भगवान् वह नहीं देते हैं. गोपियोंने प्रथम अयोग्य मांगा, जिससे उनका हित होनेवाला नहीं था, अतः

भगवान्ने नहीं दिया और देंगे भी नहीं. अर्थात् यदि भगवान् गोपियोंको संयोगरस दान करें, तो उनका निरोध ही न होवे. वह फलकेलिए केवल सेवारूप कर्म हो जावे. ईश्वर सर्वके हितकारी हैं. अतः निरोध करना दूषण नहीं है. यदि अज्ञ बालक कोई अहित करनेवाला कार्य करनेकेलिए आग्रह भी करे, तो पिता उस कार्यसे उसको रोकता है. अर्थात् करने नहीं देता है, जिससे वह बालक अहितसे बच जाता है. वैसे ही भगवान् भी जब देखते हैं कि जिस कार्यकेलिए मेरा भक्त मुझे प्रार्थना करता है और आग्रही है, तो परम पिता प्रभु ज्ञान देकर उस दुर्मतिको बदलाता है, जिससे वह बुद्धि निर्दोष होनेसे भक्त अपना हित समज लेता है ।।१-५ ।।

व्याख्यार्थ: प्रथम भगवान्ने जो अब तक कर्म दिये हैं, उनकी अभिनन्दन रूपा स्तुति करते हैं. अक्रूरको अपने समान भाववाला धर्म प्रतीत हुआ, इस प्रकार अक्रूरका भाव तामस है. यह तामस भक्तोंके समान इसको प्रथम ही हुआ है. यह पापरूप कंस बन्धुओंके साथ मरा, हमारे भाग्यसे ही मरा. यादवकुल जो महान् संकटमें पड़ा था, आप दोनों भ्राताओंने उस संकटसे उसका उद्धार किया है. जिससे कुलके सम्बन्धसे ही कुलके अनिष्ट होनेकी जो आशङ्का थी, वह आपने मिटाकर उसका इष्ट ही किया. उस एकको हटानेसे सबका जो ऐश्वर्य था, जिसे उसने अपने पास दबाकर रखा था, वह अब सबको अपने भागके अनुसार प्राप्त हो गया. कुलके दुःखसे मुक्ति और सर्व प्रकारके पापसे उद्धार भी हो गया, और वृद्धि होने लगी है. अक्रूरने ये दो ही देखे, अतः उनका ही अभिनन्दन (प्रशंसा) किया ।।१७।।

आभासार्थ : दोनोंके स्वरूपोंका वर्णन 'युवां प्रधान' श्लोकसे करते हैं :

युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ।।१८।।

श्लोकार्थ : आप दोनों प्रधान तथा पुरुषरूप हैं. जगत्के कारण तथा जगत् रूप हैं. आपके बिना यह जगत् कुछ नहीं है. कार्य-कारणरूप जगत् आप ही हैं ।।१८।।

व्याख्यार्थ: यहां भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये कि एक निमित्तरूप और एक बीजरूप है. इस प्रकार व्याख्या करनेसे यों तो समझा जायेगा कि ये आधिदैविक प्रधानपुरुष हैं. इस प्रकार ब्रह्मत्व करनेसे यह निर्धर्मककी

स्तुति हो जावेगी? इस शङ्काके निवारणकेलिये कहते हैं कि 'जगद्धेतू', आप जगत्के कारण हैं, अतः निर्धर्मक नहीं हो, कारणकेलिये हो. यदि प्रधानपुरुष हो, तो केवल [1]निमित्तकारण होंगे? इस संशयको मिटानेकेलिये कहते हैं 'जगन्मयौ', जगत्रूप होनेसे [2]उपादानकारण भी आप हो, जगत्रूप होनेसे विकारी बन जावेंगे, और मयट्, विकार अर्थमें नहीं है क्योंकि जगत् भगवन्मय नहीं हुआ है, किन्तु भगवान् जगन्मय हुवे हैं, जिससे भगवान् जगत्के कारणरूप हैं, अतः मयट् प्राचुर्य अर्थमें है, अर्थात् एक भगवान्, बहुत होकर जगत्रूप बने हैं. अतः यहां किसी प्रकार विकार नहीं है. यदि यों न माना जावेगा तो असत्से सत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी. अथवा भगवान्का विकार, जगत् होना चाहिये, ये दोनों हो नहीं सकते, अतः इस गीता वाक्यके अनुसार लोकमें जगत्के रूपका महत्त्व बताया है और भगवान्का माहात्म्य भी कहा है. जैसे यह यज्ञ अन्नमय वा घृतमय है, सर्व वस्तुमें घृत अधिक है, शुष्कता नहीं है. अन्न भी सबको अपनेसे भी अधिक ही मिलता है. इस प्रकार मान लेनेसे कालादिके समान निमित्त होनेसे भगवान् साधारण कारणरूप होंगे और मृत्तिकाके समान समवायिकारणपनसे भी साधारण बन जावेंगे. इसके उत्तरमें कहते हैं कि आपने जो दो विभक्त शक्ति प्रकट दिखाई हैं, उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है. जगत्में जो उत्तम है, अथवा अधम है, सर्वकी जड़ आप ही हैं. जहां अपनी सामर्थ्य अधिक प्रकट करते हो, वह उत्तम है और जहां अपनी सामर्थ्य स्वल्प प्रकट करते हो वह अधम है ।।१८।।

१.निमित्तकारण उसे कहते हैं, जो कार्यके पूर्व हो, तथा जिसकी कार्योत्पत्तिमें आवश्यकता हो. जैसे मिट्टीका घड़ा कार्य है और चाक व चाक चलानेका डण्डा निमित्तकारण है.

२.उपादान या समवायिकारण उसे कहते हैं जो आदि, मध्य, अन्तमें कार्यसे मिला ही रहे. जैसे घड़ेमें मिट्टी.

आभासार्थ : इस प्रकार जगत्का कारणरूप भगवान् हैं. यह निरूपणकर, अब भेद–अभेद पक्षोंके निराकरण करनेकेलिए कहते हैं कि जगत्का आधेय भी भगवान् हैं. 'आत्मसृष्टम्' इस श्लोकसे उसको समझाते हैं:

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरम् ।।१९।।

श्लोकार्थ : हे ब्रह्मन्! आपने रचे हुए इस विश्वमें आप ही रचनाके

अनन्तर उसमें अपनी शक्तियोंसे प्रविष्ट होकर अनेक प्रकारसे श्रुतिके कहे हुए तथा प्रत्यक्षमें आनेवाले पदार्थोंमें आप ही प्रतीत होते हैं ।।१९।।

व्याख्यार्थ: यह आत्मस्वरूप सृष्टि है, अर्थात् अपनी इच्छासे बनाई हुई इस सृष्टिका [१]सामवायि तथा [२]निमित्त कारण आप हैं. अतः यह सृष्टि आत्मरूप है, जिससे अभेदमें यह ऐच्छिकभेद, दोषरूप नहीं है, तो भी भिन्न सृष्टिमें भी जैसे यह दूषण न हो, इसकेलिये ही यों कहा जाता है. वह प्रकार स्पष्टकर, बताते हैं कि यह सारा जगत् सृष्टि बनानेके तरीकेसे आपने अपनेमें ऐसे ही बनाया है. अनन्तर उसमें अपनी शक्तियोंसे प्रविष्ट हुवे हैं, अतः सर्वसामर्थ्ययुक्त आपके अनन्तरूप दृष्टिगोचर होते हैं, तो भी वैदिक अर्थ दूसरे प्रकारका है. 'शब्द इति चेन्नान्यः' इस सूत्रमें वैसा निर्णय किया हुआ है, भ्रमसे जो भासमान् हो, वह भिन्न होता है. अथवा जहां कोई वस्तु भ्रमसे ग्रहण की जावे, वहां भेद है. इससे भगवान् सर्वके कर्ता हैं, यह असम्भव है. इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि जिस विषयको श्रुतिने प्रतिपादन किया है और जो विषय प्रत्यक्ष है, वह सब आप ही हैं. साधारण प्रत्यक्षसे, वस्तुका निरूपण नहीं होता है. अतः साधारण शब्द न देकर 'सामान्य'[१] शब्द दिया है. 'गोचर' शब्द भी विशेष्यके अधीन होता है, जैसे कि मृत्तिकासे घट बनता है, घटसे मृत्तिका नहीं बनती है. इससे घट 'मृन्मय'(मिट्टीसे बना हुआ मिट्टीरूप) कहा जाता है, मृत्तिकाको 'घटमय' नहीं कहा जा सकता है. इस प्रकार परामत्मासे जगत् बनता है जगत्से आत्मा नहीं बनती है. इसलिये जगत्को आत्मारूप कहा जाता है. विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् अपनी शक्तियोंसे जगत्में प्रविष्ट हुवे हैं, जिससे वह आधेय भी होता है. कहनेका सारांश यह है कि इसलिये जगत् भगवद्रूप है और भगवान् भी जगद्रूप हैं. अर्थात् आधार-आधेय आदि सर्व भगवान् ही हैं. यह ही शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवादका सिद्धान्त है. हे ब्रह्मन्! सम्बोधनसे यह बताया है कि ब्रह्मवादमें सर्व प्रकारकी उपपत्ति(प्रमाण) सिद्ध है, इसलिये इस अर्थको पुनः सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है ।।१९।।

१. श्लोक १८वें पर इन कारणोंकी व्याख्या १ व २ पाद टिप्पणीमें देखें.

२.सबमें समानरूपसे रहनेवाली जाति.

आभासार्थ : लोकमें एक वस्तुमें, नानात्व वा विचित्रता नहीं होती है. लौकिकन्यायके सिवाय केवल अलौकिकको तो मानते हैं, उनको 'यथा हि' श्लोकमें एक, अनेक होता है, उसे दृष्टान्त देकर समझाता है :

यथा हि भूतेषु चराचरेषु महादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ।।२०।।

श्लोकार्थ : जिस भांति चर-अचर भूतोंकी योनियोंमें पृथ्वी आदि अनेक प्रकारसे रहते हैं, उसी भांति आप अपनी इस सृष्टिमें स्वतन्त्रतासे प्रवेशकर, बहु प्रकारसे प्रकाशते हैं ।।२०।।

व्याख्यार्थ: पृथ्वीसे उत्पन्न स्थावर(वृक्ष-पर्वतादि) तथा जङ्गम(मनुष्य-पशु-पक्षी) आदि सर्व पदार्थोंमें पृथिवी आदिकी विलक्षणता सिद्ध है, तो भी जीवके सामर्थ्यसे कारणपनसे प्रविष्ट पृथिवी आदि नाना प्रकारसे भासते हैं. क्यों भासते हैं? इसमें हेतुपूर्वक युक्ति देते हैं, 'योनिषु'. चर एवं अचरभूत, जो इस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिसका कारण पृथिवी आदिका समवायिकारण है. बोनेके बाद बीज नष्ट होता है, इससे यदि पृथ्वी आदिका कारणपना प्रतीत न हो, तो इसलिये 'योनि' कहा है. अर्थात् बीजका नाश होते हुवे भी उसका समवायिकारण नष्ट नहीं होता है. जब बीजसे रही हुई समवायि कारणरूपा शक्तिसे पृथिवी आदिमें नानापन प्रकट होता है, तब भगवान्की अभिलाषाके अनुरूप योनिभाव को प्राप्त जगत्-कर्ता अक्षरब्रह्म, भगवान्में पूर्व ही विद्यमान् जगत्को भगवान्की सामर्थ्यसे अपनेमें प्रविष्ट करते हुवे अनन्त जगत्के आकारसे भासमान् होता है. जब वह जगत्की योनि अक्षरब्रह्म अनन्त जगद्रूपसे वृद्धि आदिमें बहुत वा अल्प परिग्रहके आविर्भावसे भासता है, तब भगवान् भी अपनी आत्मा(अक्षण ब्रह्म), जिनका कारण है, उन जगद्रूपोंमें बहुत प्रकारसे भासते हुवे भी एक ही हैं. जहां न हो, वहां शक्तिके आकर्षणसे विद्यमान् यदि हो जावे तो वह अनित्यता समझी जायेगी. अर्थात् कहीं है कहीं नहीं है, जहां नहीं है, वहां शक्तिसे खिंच जाते हैं, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'आत्मा' है अर्थात् सर्व व्यापक होनेसे सर्वत्र सदैव है. जहां, जब, जैसी लीला करनेकी इच्छा होती है, वहां ही स्वतः, स्वयं प्रकट हो जाते हैं. यहां भूतोंका दृष्टान्त दिया है. वे भूत तो परतन्त्र है. क्या ये भी परतन्त्रण हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मतन्त्रः', ये स्वतन्त्र हैं. दृष्टान्तकी अपेक्षा यहां जो नानात्व है, वह अन्य प्रकार कहा है. अर्थात् नाना रूपोंमें भी मैं एक ही हूं, यह आपका एकत्व, वादियोंने जैसे अपने मतमें जगत्को पृथक् कहकर एक ही ब्रह्म सिद्ध किया है, उसी प्रकारका है क्या? जिसके उत्तरमें कहा गया है कि नहीं, जगत् पृथक् नहीं है, किन्तु मैं जो कारणरूप हूं, वह मैं कार्यरूप होकर नानात्वसे

भासमान हो रहा हूं. जैसे चित्रपट(सिनेमा)में कारणका विशेष प्रकाश होता है, वैसे ही यहां भी कारणकी अपेक्षा कार्यमें अधिक प्रकाश होता है, अतः सर्वत्र, सर्वमें आत्मरूपसे भगवान् ही रूप हैं, योनि और बीज आदिका भेद इसमें नहीं है, यह निश्चय हो जाता है ।।२०।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान् ही जगद्रूप हुए हैं, यह बताकर अब कर्ता होनेसे जो दोष प्रतीत होते हैं, उनका 'सृजस्यदो' श्लोकसे निवारण करते हैं :

सृजस्यदो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमः सत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ।।२१।।

श्लोकार्थ : आप ही अपनी सत्त्व, रज और तमोरूप गुणशक्तियोंसे जगत्को रचते, पालते और संहार करते हैं, किन्तु उन गुण और कर्मोके बन्धनमें फंसते नहीं है, कारण कि आप ज्ञानकी आत्मा हैं, जिसके बन्धनका कोई कारण है ही नहीं ।।२१।।

व्याख्यार्थः श्लोकमें 'अदः' पद देनेका भावार्थ स्पष्ट करते हुवे आचार्यश्री कहते हैं कि यद्यपि प्रसिद्ध यह जगत्, भगवान्को स्फुरित नहीं हुआ, इसलिये 'इदं', प्रत्यक्षवाचक शब्द न देकर परोक्षवाचक 'अदः' शब्द दिया है. इस 'अदः' शब्द देनेसे स्फूर्ति न होनेमें कारण भी बता दिया. रजोगुणसे बनाते हो, तमोगुणसे लीन करते हो और सतोगुणसे पालते हो. 'गुण' शब्द देकर यह बताया है कि ये रजो, तम और सतोधर्म प्रकृतिके नहीं है, किन्तु मेरे धर्म हैं, अतः मेरी शक्तियां हैं, जिससे ही वे कार्य कर सकतीं हैं. 'शक्ति' पदसे यहां अभ्यास(बार-बार कार्य करना) नहीं है, इससे कर्मके बन्धनका भी निवारण किया गया है. यों होते हुवे भी लोकके न्यायसे भी कर्तृत्व ही का दूषण दूर करनेकेलिये ज्ञानसे उसका अभाव बताते हैं, 'न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा', उनके गुणोंके कर्मोंसे आप बन्धनमें नहीं आते हो, उनके गुणोंसे, मोह वा कर्मके वश होनेसे वा अनादर होते हुवे भी अनिच्छासे भी बन्ध होता है, किन्तु आपका बन्धन इस प्रकारका कालसे भी नहीं होता है, तो तुच्छ लोगोंसे तो सुतरां बन्धन नहीं होगा, कारण कि जब शास्त्र यों कहते हैं कि केवल ज्ञानसे ही बन्धन नहीं होता है तो आप तो ज्ञानकी, भी आत्मा हैं. आपके ही सामर्थ्यसे ज्ञान बन्धनका नाश करता है, तो जिसको सामर्थ्यसे ज्ञान, बन्धनका अभाव कर देता है, उस सर्वसमर्थको बन्धनमें डालनेवाला वहां भी कोई भी हेतु नहीं है अर्थात् कोई देश, काल और अवस्था

वैसी नहीं है, जो आपको बन्धनमें डाल सके ।।२१।।

आभासार्थ : सत्त्व गुणके उपाधिवालोंके ही अवतार होते हैं, यह मातुलके मारनेकी कथाओंसे प्रसिद्ध ही है, क्योंकि दूसरे प्रकारसे उनकी उपपत्ति नहीं होती है. यों उपाधिसे अवतारोंके माननेसे तो अवतारमें बन्धन होगा, इस शंकाका निवारण इस 'देहाद्युपाधे' श्लोकमें करते हैं :

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ।।२२।।

श्लोकार्थ : जन्म उसका होता है, जिसको देह इन्द्रियां, अन्तःकरण, स्वभाव आदि उपाधियां होती हैं. आत्मामें ये उपाधियां नहीं हैं, अतः उसका जन्म नहीं है, आप आत्मरूप हैं, अतः आपका जन्म नहीं है. आपमें भेद भी नहीं है, जिससे आपका जन्म या मोक्ष नहीं होता है. इसका यह कारण है कि आपमें अविवेक भी नहीं ।।२२।।

व्याख्यार्थ: देह, इन्द्रियां, अन्तःकरण, स्वभाव, कर्म और काल आदि उपाधियां जिसमें होती हैं, उसका जन्म होता है. यदि आप कहो कि मेरा भी वसुदेवके गृहमें जन्म हुआ है, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि आपका जन्म साक्षात् नहीं हुआ है, किन्तु नटके समान केवल वेष बदल लेनेको जन्म नहीं कहा जा सकता है. आपने तो नटकी भांति केवल वेष बदला है, जन्म लेनेमें भेद होता है. एक संघात(देहका त्यागकर, दूसरे संघातके ग्रहण करनेको जन्म कहा जाता है. जिसमें भेद होता है, वह भेद भी आपमें नहीं है, क्योंकि आप सबमें सर्वत्र व्याप रहे हैं. जो व्यापक है, उसमें भेद नहीं हो सकता है, कारण कि आत्मा होनेसे सर्वत्र व्याप्त हैं. व्याप्त होनेसे और भेदरहित होनेसे आप मूलरूप विष्णु हैं. अतः आपका न जन्म हो सकता है, और न मोक्ष होता है. जिससे आप सत्कर्म करनेकेलिये धर्मकी स्थापना आदि करें, यों करनेकी इच्छामात्र न होनेसे आपका बन्धन वा मोक्ष होता ही नहीं है. विष्णुकी भी स्मार्तसम्मत मुक्ति तो होती ही है, क्योंकि जब तक अधिकार है, तब तक अधिकारका कार्य करना ही पड़ता है. अतः जब तक विष्णुत्वका अधिकार है तब तक तदुनुकूल कार्य किये जाते हैं. जब अधिकारकी समाप्ति होती है, तब कार्य करनेका भी समाप्त होता है, तो स्मार्तमुक्ति हो जाती है. स्मार्तमुक्ति भी श्रुतिसम्मत है, यह बतानेकेलिये कहते हैं कि ब्रह्मवादियोंके भी एकदेशी मतमें ब्रह्मविद्यासे सर्व होता है, तो वह ब्रह्म कैसे

होता है? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि ''**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् आत्मानमेव अवेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् सर्वमभवत्**''. ''आत्माको ही माने कि यह पहले ब्रह्म था मैं ब्रह्म हूं'', ''उससे सब होता है''. श्रुतिके इन वाक्योंसे जैसे सर्वप्रपञ्च ब्रह्मरूप होता है, वैसे ही ''ब्रह्मवित् आप्नोति परम्'' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है. कर्मकाण्डमें भी, ''**परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्, इत्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः**''. 'परमेष्ठीका यह यज्ञ आगे था' यहांसे प्रारम्भकर, दर्शपूर्णमाससे सर्वका उत्कर्ष कहा है. इस प्रकार दर्श और पूर्णमाससे परब्रह्मका भी उत्कर्ष प्रतीत होता है. 'परमेष्ठी' पद ब्रह्मके पर्यायरूप(बदले)में दिया है. इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मा, ये तीन शब्द उस-उस प्रकरणमें ब्रह्मवाचक हैं, इससे जाना जाता है कि बन्ध-मोक्ष तो सभीका होता है. इस प्रकार वेदान्तियोंके एक पक्षवालेका मत है. और विशेषमें कहते हैं कि ''इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाच'','यह विद्या देवकीके पुत्र कृष्णको कही गई', इस उपाख्यानसे ब्रह्मविद्याका ग्रहण सिद्ध होता है, जिससे बन्ध और मोक्षकी सम्भावना होनेसे उनका निराकरण करना योग्य ही है. ये तो अविवेकसे प्राप्त पूर्वपक्ष है, जिनका निरूपण किया गया है. हम सब भ्रान्त होकर आपमें अविवेककी कल्पना करते हैं. वास्तवमें आपमें अविवेक है ही नहीं, क्योंकि अविवेक अर्थात् अधिकार तो सेवकको मिलता है. स्वामीमें अधिकारका स्थान(गुञ्जाइश) ही नहीं है. कारणकि स्वामी तो स्वतन्त्र स्वेच्छावान् होता है. लोकमें भी महाराजामें अधिकारका प्रयोग नहीं होता है अर्थात् महाराजा अधिकारी नहीं कहा जाता है. परमेष्ठी तथा 'ब्रह्म' शब्द यहां ब्रह्माके वाचक हैं, यदि यों न माना जावेगा तो 'यज्ञ, विष्णु हैं', इसमें जो दर्शपूर्णमासको यज्ञकी विधि कही है, वह व्यर्थ होगी. ब्रह्मविद्याका अधिकार, सान्दीपिनिकी तरह लीलासे ही सम्भव है, अतः हमारा ही अविवेक है जो आपमें बन्ध-मोक्ष मानते हैं, आप परब्रह्म हैं. परब्रह्ममें कभी भी यह सम्भव नहीं है ।।२२।।

आभासार्थ:तो अवतार कैसे होते हैं? इसका उत्तर 'त्वययोदित' श्लोकमें देते हैं :

त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः ।
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ।।२३।।

श्लोकार्थ : जगत्के हितकेलिए कहा हुआ आपका यह पुरातन वेदमार्ग, जब-जब असत् पाषण्डके पंथोंसे बाधित हो जाता है, तब-तब आप सत्त्वगुणको धारण करते हैं ।।२३ ।।

व्याख्यार्थ: जिस समय आपके कहे हुवे वेदपथको, विरुद्धमार्गका प्रतिपादनवाले पुरुष बाधा पहुंचाते हैं और वे बलिष्ठ होनेसे तथा कालके कारण सबोंकी बुद्धिका नाश हो जानेसे, उस बाधाको मिटानेमें तब भगवान् ही शक्त होते हैं, अतः भगवान् सत्त्वगुणको धारण करते हैं, जिससे सतोगुण बलवान् बनके, रजो और तमोगुणको दबा देता है. इससे भगवान्में विषमताका अभाव बताया है. अवतार समय नैर्घृण्य दोष नहीं होता है, जिससे उनके निषेधका कोई वचन नहीं कहा है।।२३।।

आभासार्थ : अब व्यासका अवतार हुआ है, बुद्धका तो नहीं हुआ है, जिससे वेदोंको तो पीड़ा नहीं है, तो फिर इस अवतार धारणका क्या प्रयोजन है? जिसका उत्तर 'स त्वं प्रभो' इस श्लोकमें देते हैं :

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतराणां राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ।।२४।।

श्लोकार्थ : हे प्रभु! वही आप आज अपने अंश बलभद्रजीके साथ भूमिके भारको उतारनेकेलिए यहां वसुदेवजीके घरमें प्रकट हुए हैं, कारण कि आपको दैत्योंके अंशरूप राजाओंकी सैंकड़ों अक्षौहिणी सेनाका नाश करना है, तथा इस यदुकुलके यशका विस्तार करना है ।।२४।।

व्याख्यार्थ: वह ही आप, केवल वेदके रक्षक नहीं हैं, किन्तु समस्त प्राणी मात्रके रक्षक हैं, क्योंकि आप 'प्रभु' हैं. क्रियाशक्ति भी आपमें पूर्णरूपसे विद्यमान है. अतः आपने सत्त्वरूप वसुदेवजीके अभिमानस्थान गृहमें प्रकट होकर यह दिखाया है कि अभिमान प्रकारसे ही सबकी पालना करूंगा, डरपोकोंकी तरह नहीं पालूंगा. इस प्रकार पालनेकी इच्छा वैकुण्ठमें बैठे हुवे केवल मनसे नहीं की है, किन्तु अपने अंश बलभद्रजीके साथ भूभार उतारनेकेलिये यहांकी भूमि पर प्रकट हुवे हैं. यह इस प्रकार कहा है कि मानों इस कथनकी भगवान्से सम्पत्ति ले रहा है. इस अवतारधारण करनेसे आपका महत्त्व विशेष प्रसिद्ध होगा, कारण कि आप सैकड़ों दैत्योंकी अक्षौहिणी सेनाका नाश करेंगे. यहां दैत्य तो दिखाई नहीं देते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि दैत्य ही राजा बन आये हैं. आपके प्रकट

होनेका दूसरा कारण हैं कि आपको वसुदेवके कुलके यशका विस्तार करना है. दो रूपोंसे प्रकट होनेके, दो कारण बता दिये हैं ।।२४।।

आभासार्थ : इस प्रकार प्रसङ्गसे अवतार और उसके कर्मोंकी स्तुतिकर, अब भगवान्‌के पधारनेकी 'अद्येश नो' श्लोकसे स्तुति करते हैं :

अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ।।२५।

श्लोकार्थ : हे ईश! आज हमारे घरोंका भाग्य उदय हुआ है, क्योंकि जो सर्वदेव, पितृदेव और नृदेवकी मूर्ति हैं और जिसके चरणसे निकली हुई गङ्गाजी त्रिजगत्‌को पवित्र करती हैं, वे जगत्‌के गुरु अधोक्षज आप, इन घरोंमें स्वयं प्रविष्ट हुए हैं ।।२५।।

व्याख्यार्थ: आप जिस दिन हमारे कुलमें उत्पन्न हुवे हैं, हम तब ही से भाग्यशाली हुवे हैं, किन्तु हमारे घर और घर सम्बन्धी भाई-बन्धु सब आज भाग्यवान् बने हैं, कारण कि घरमें तो आज पधारे हो, यदि आप कहो कि हम तो आपको निरोधके अधिकारी जानकर उसकेलिये पधारे हैं, न कि धर्मकेलिये अर्थात् घरको पवित्र करनेकेलिये नहीं पधारे हैं? इसके उत्तरमें अक्रूरजी कहते हैं कि आप ईश हो अर्थात् सर्व कुछ करनेकेलिये समर्थ हैं, अतः दोनों कार्य करनेमें समर्थ हो. यदि आप कहो कि तुम्हारे सम्बन्धके कारण ही घर भाग्यवान् है. अपनेसे पृथक् उनको भाग्यशाली क्यों कहते हो? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मेरे सम्बन्धसे उनका भाग्य तब मैं मानूं, जब कि मेरी इच्छासे आपका आगमन हुआ हो. अब तो आप स्वयं पधारे हो, अतः गृहके ही भाग्य हैं. यह आपका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि घर तो त्रिगुणात्मक है और भगवान्‌के योग्य तो वह है, जो निर्गुण होवे. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आप सर्वदेव, पितृदेव और नृदेवकी मूर्ति हैं. अतः घरोंका, जिससे उत्कृष्ट होता है, वह मूर्ति भी आपमें ही विद्यमान है, क्योंकि घर, पितर, देवता और मनुष्य, सबके योग्य होता है. पितर, देवता और मनुष्य तीनों ही घरमें सुखी होते हैं. वे घर अपने देवताकी प्रसन्नताके कारण ही उत्कृष्ट होते हैं, केवल देवके प्रसन्न होनेसे घर, घरकी योग्यतावाला होता है. यों नहीं होवे तो घर व्यर्थ है. इस प्रकार पितर तथा मनुष्यकी उत्तमता भी उनके देवताओंके प्रसन्न होने पर समझनी चाहिये. उसमें भी यदि देवोत्तम भगवान् प्रसन्न होकर घरमें पधारे, तो घरकी सबसे उत्तमता तथा योग्यता होती है. इसी प्रकार

पितर तथा मनुष्योंकी भी उत्तमता और योग्यता तो हुई, किन्तु शुद्धिकी भी अपेक्षा है. जिसकेलिये कहते हैं कि जिसके पादसे निकली हुई गङ्गाजी तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं, वह भी साक्षात् नहीं, किन्तु परम्परासे, उसका जल अपने पास आवे, देश और कालका अन्तराय भी होवे, दूसरा भी जल, उसमें मिल जावे, तो भी सबको पवित्र करता है, तो यहां तो साक्षात् वे चरण हमारे घरोंमें पड़े हैं, तो घरके भाग्यकी क्या सराहना की जावे? फिर भी रूपके भेदमें भेद होगा, जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि वह ही आप हैं. इसलिये आप ही प्रमाण हैं, क्योंकि आप जगत्के गुरु हैं, यदि मुझको तुम लोकगुरु कहते हो तो लोक मुझे क्यों नहीं लोकगुरु कर जानते वा मानते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आप 'अधोक्षज' हैं. ये लौकिक इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, अतः उनमें अज्ञान हैं. जिससे वे आपको जान नहीं सकते है. दूसरी बार घरमें प्रवेश, अभिनन्दनकेलिये कहा है ।।२५।।

आभासार्थ: यों भगवान्को पधारनेकी स्तुतिकर, अब अपनी इच्छित शरणागतिको 'कः पण्डित' श्लोकसे बखानते है :

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ।।२६।।

श्लोकार्थ: हे ईश! कौन ऐसा पण्डित है, जो आपकी शरण छोड़ दूसरेकी शरण ग्रहण करे? कारण कि आप भक्त प्रिय हैं, सत्यवक्ता हैं, सबके हितकारी सुहृद् हैं, कृतज्ञ हैं, भक्तोंकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, भक्त अपनी आत्मा दे तो आप अपनी आत्मा भी दे देते हैं, जिससे आपमे देहवत् वृद्धि-ह्रास नहीं है, अर्थात् सदैव आप एक रस हो ।।२६ ।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार आगमनकी स्तुतिके अनन्तर फलकी प्राप्तिकेलिये प्रार्थना करनी चाहिये. वह फल शरण ही है, उसके सिवाय कोई फल नहीं है. इसलिये शरणकी स्तुति करते हैं. प्राणियोंको प्रभुकी शरण ही लेनी चाहिये. पण्डित वह है, जो समझ सकता है, कि मुझे यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये, जो ऐसी बुद्धिवाला नहीं है, वह पण्डित नहीं. इसलिये ही कहा है कि 'बन्ध और मोक्ष'को जो समझ सकता है, वह पण्डित है. जिसके करनेसे बन्ध हो, वह अकर्तव्य है, अर्थात् नहीं करना चाहिये और जिसके करनेसे मोक्ष है, वह कर्तव्य है, अर्थात् उसको करना चाहिये. अतः भक्ति आदि साधनोंसे भी शरण अनायास ही फल देता है. इसलिये जब स्वतः सर्व साधनोंसे

श्रेष्ठ शरण है, तब उसका आश्रय करना ही योग्य है. आश्रय ही ऐसा साधन है, जो अपने आधीन है. जिससे वह सर्व देता है. मन तो चञ्चल है, क्षण-क्षणमें नवीन-नवीन पदार्थकी इच्छा करता है, तब जीव क्या-क्या मांगे? और कब मांगे और किससे मांगे? प्रत्येक पदार्थकी प्राप्तिकेलिये पृथक्-पृथक् देवोंकी आराधनारूप साधन करने पड़ते हैं. जीव इतने साधन करनेमें अशक्त है, अतः जीव शरण मार्गका ही आश्रय लेता है, किन्तु वह शरण भी अन्य देवोंकी शरण है तो उससे परम उत्कृष्ट फल न मिलनेसे वह शरण भी व्यर्थ है. अतः बुद्धिमान् अकर्त्तव्य तथा कर्त्तव्यको समझनेवाला आपके सिवाय अन्यकी शरण कैसे जावेगा? अर्थात् नहीं जावेगा. आपकी ही शरण लेगा, दूसरोंके साधनपनसे, वा गुरुपनसे भले मान ले, किन्तु उनकी शरण ग्रहण तो कभी भी पण्डित नहीं मानेगा. अन्य गुरु आदिका साधनरूपसे भी त्याग करनेसे सीधे आप प्राप्त नहीं होंगे अतः जब प्रथम अवस्थामें यों करना आवश्यक है, तब अन्यकी शरणकेलिये रोक कैसेकी जाती है? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि अन्य वह है, जिसका आपने बुद्धिसे ग्रहण नहीं किया है, किन्तु केवल नियामक हो, इससे गुरु आदि वैसे नहीं है, अर्थात् आपसे पृथक् नहीं है, जिससे उनके आश्रय करनेमें दोष नहीं है.

भगवान्की ही शरण लेनेमें छः कारण कहते हैं: उन छह(६) में दो हेतु, फलमें और चार हेतु साधनमें है. साधनमें जो हेतु हैं, वे भी अपने धर्मसे और आश्रितके धर्मसे कहने चाहिये, जो यों नहीं कहा जावेगा तो फल 'काकतालीय' न्यायके सदृश मिला हुआ समझा जावेगा, अब आश्रितके धर्मानुसार शरणागतिका कारण कहते हैं, जिसको सेवककी अपेक्षा है, अर्थात् जिसको सेवक चाहिये वह सेवकोंको देता भी है, वह ही स्वामी कहा जाता है, इसमें भी जब कोई भी स्वामी सेवकके धर्मको स्वीकार करता है, अर्थात् सेवकको जिस फलके प्राप्तिकी इच्छा है, वह देना स्वीकार करता है, तब स्वामी सेव्य होता है, इसलिये आप ही भक्त प्रिय हैं. आप लौकिक प्रभुके समान नहीं करते हो, लौकिक स्वामी तो फलकेलिये सेवा करनेवाले जब अशक्त होनेसे सेवा नहीं करते हैं. तब उनको वे स्वामी फल नहीं देते हैं, वे सेवक जितनी सेवा करते हैं, उतना ही फल पा सकते हैं, विकट देश वा समयमें यदि सेवा करनेमें अशक्त होनेसे कैसे भी दुःखी हो तो भी उसको वहां भेजते हैं, लौकिक स्वामी उसके दुःखों पर ध्यान नहीं देते हैं, सेवक पर पुत्रके सदृश दया नहीं करते हैं, किन्तु भगवान् यों नहीं करते हैं भगवान्(आपको तो भक्त प्यारे

हैं अतः भगवान् ही सेव्य है, भगवान् तो अपना ईश्वर धर्म ही देखकर भक्तका हित करते हैं जिसकी पुष्टिमें कहते हैं कि भगवान् सत्य सङ्कल्प हैं, जो सङ्ग्राममें शरण आकर कहता है कि 'मैं आपका हूं' और स्वयं गीतामें अर्जुन द्वारा प्रसिद्ध कराया है, कि मेरा भक्त नाश नहीं होगा इत्यादि वाक्योंसे भक्तका सर्व प्रकार हितकर उसको सुखी ही करते हैं, जो स्वामी सेवकके क्लेशको सहन करता है, उसके क्लेशको मिटाता नहीं है, उस स्वामीका मन शुद्ध नहीं है, जो अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं है उसकी वाणी पवित्र नहीं है, समय आने पर शरीरसे मित्रकी भांति सेवककी सहायता नहीं करता है, उस स्वामीकी काया अशुद्ध है, ये तीन ही लौकिक हैं, जिनको स्वतः करना चाहिये. इस कृतिको जानते हैं.जिससे इन धर्मोके करनेमें यह हेत बता दिया है. यहां तक ये सब दोषोंके अभाव बता दिये अब गुण बताते हैं अपने और पुत्रके समान भक्तोंका हित काया, वाणी तथा मनसे करते हैं. यह गुण है, प्रह्लाद पर आई हुई समग्र आपदाओंको मिटाया, यह मनसे हित किया, वाणीसे उद्धवजी द्वारा उपदेश भेजकर गोपियोंका हित किया, कायासे हम लोगोंका हित कर रहे हो इस प्रकारके भगवद्गुणमें कुछ भी सन्देह नहीं है. यदि भगवान्में कृतज्ञता नहीं होवे तो इस प्रकार धारा प्रवाहकी तरह कारणोंके कहनेसे भी उनका उत्कर्ष प्रकट न होवे.

अब उनके फलदातापनको कहते हैं. यदि कोई भी अपना अथवा अन्यका जिससे अनिष्ट हो वैसी वस्तु मांगता है तो प्रभु नहीं देते हैं. कारण कि आप सुहृद् हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं. सबके मित्र हैं सबका ही हित चाहते हैं अतः जो मनुष्य अपना अथवा अन्यके द्रोहका विचार नहीं करता है, उसको सब कुछ देते हैं. क्यों देते हैं? क्योंकि वह भजन करता है, भजन करनेवाला यदि एक ही वस्तु मांगता है, तो भी सब कुछ दे देते हैं. वैसे तो भजन करनेवाले अन्य भी होंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि 'आत्मानपि' यद्यपि भगवान् भजन करनेवालोंको देते हैं, किन्तु जैसे भजन करनेवाले भी समान भजन नहीं करते है, उनके भजनमें तारतम्य है, वैसे दानमें भी समानता नहीं होती है. भजनानुकूल ही फल मिलता है. जैसे जो भक्त भगवान्को आत्मा तक सब कुछ दे देता हैं उसको भगवान् भी वैसा ही देते हैं. लोकमें वैसा कोई दृष्टान्त है? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि 'भगवान्से जिसका सम्बन्ध है उसमें वृद्धि तथा ह्रास नहीं होता है, अतः दोनोंका निरूपण ही योग्य है. भगवान् जिसको जो विशेष सुख

आदि देते हैं, तो उसको फिर कम नहीं करते हैं. यदि दुःखादिक देते हैं, तो उसको फिर बढाते भी नहीं हैं. अथवा सर्व भक्तोंको समानरूप ही देते हैं, विषम नहीं देते हैं. भगवान्में वृद्धि ह्रास है ही नहीं, एक रसरूप है. वस्तु ही वैसी है, विषमता करनेकी इच्छा भी नहीं है, जो इच्छा वहां प्रयोजक है, इस प्रकार धर्मोंमें दोनों धर्म निरूपण किये हैं ।।२६।।

आभासार्थ : यों सब तरहसे स्तुति कर 'दिष्ट्या जनार्दन' श्लोकसे कुछ प्रार्थना करते हैं :

दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेहदेहादिमोहरशनां भवदीयमायाम्।।२७।।

श्लोकार्थ : हे जनार्दन! देवोंके ईश तथा योगेश्वर भी जिसके स्वरूपको कठिनाईसे प्राप्त कर सकते हैं, उन आपने यहां आज मुझे दर्शन दिए हैं यह बड़े भाग्यका विषय है एवं प्रसन्नताका द्योतक है, अत शीघ्र ही हमारे पुत्र, स्त्री, धन सम्बन्धी गृह और देह आदिमें आपकी मायासे प्राप्त मोह रूप बन्धनको तोड़ दो।।२७१।।

व्याख्यार्थ: पहले भी हम भक्त थे, किन्तु आपसे स्वरूपका ज्ञान नहीं था. जिससे पूरे भक्त नहीं थे, नाम मात्रके ही थे. आज तो आपने यहां पधारकर अपने स्वरूपका ज्ञान कराया है, अतः जब कल्पवृक्षको पहचान जावे तब उससे अपने अभिलषित मनोरथके मांगनेसे विलम्ब करना योग्य नहीं है. जिससे प्रार्थना करनी ही योग्य है, यह भाव है. यदि कहो कि इतने दिन नहीं जाना, आज ही कैसे पहचान लिया? जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि हे जनार्दन एक तो आप अविद्याको नाश करनेवाले प्रभु हैं, जब भी अविद्या नाश करो. दूसरा प्रसन्नताका विषय है, कि आज हमारे भाग्यका उदय हुआ है. इन दो कारणोंसे अब आपको पहचाना है. कारण कि योगी योगसे अपनी सामर्थ्यसे अर्थात् योगबलसे वश करते हैं, किन्तु आप उन योगेश्वरोंसे जाने भी नहीं जाते हैं तो वश क्या होंगे? आपके जो नियत स्वधर्म है, उनको अन्य साधन नहीं जना सकते हैं. इससे यह बताया है कि भगवान्के अभिप्रायको कोई नहीं समझ सकता है. जैसे काष्ठके भीतर अग्नि है, जिसको निकालनेकेलिये काष्ठको मन्थन करना अपने आधीन है. इस प्रकार भगवान्ने जो यह सङ्घात दिया है, वह अपने आधीन है. जिसके द्वारा दयालु भगवान्को प्रार्थनासे वशकर अपने कार्यकी सिद्धिकी जा सकती है. यह बहुत

अच्छा कहा है, कि दूसरी तरह अर्थात् इसके सिवाय कार्य सिद्धि नहीं होती है. यदि अलौकिक सामर्थ्यकी प्राप्तिकी जावे तो उससे भी नहीं होती है. कारण कि अलौकिक सामर्थ्यवाले देवोंके ईश भी आपको पा और जान नहीं सकते हैं. यों कहकर अब प्रार्थना करते हैं, पुत्र आदिमें जो मोह बन्धन है, उसको तोड़ो. यदि कहो कि मैं क्यों तोडूं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बन्धन आपने ही अपनी माया द्वारा किया है. अतः उसको केवल तोड़ो ही नहीं, किन्तु जड़से निकाल दो. केवल ऊपरसे काटनेसे फिर उगेगा तो काटनेवालेसे वैमनस्य हो जावेगा, इसलिये जड़से ही निकालके फेंकनेकी कृपा कीजिये।।२७।।

आभासार्थ : जो जैसा हो, उसको वैसा ही करना चाहिए भक्ति, प्रेमके वश होकर यदि विशेषकी जावे तो वह अयोग्य होगी, इस प्रकारका भगवान्का भाव शास्त्रके रहस्यसे सिद्ध है. यों भगवान्का कहना तो ''अहं भक्त पराधीनः'' वाक्यके विरुद्ध होगा, अतः अक्रूरने जो मांगा वह देना चाहिए था. जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि अक्रूरकी ज्ञानरूप भक्ति होनेसे मध्यमा भक्ति है. परमाभक्ति नहीं है, जिससे ''अहं भक्त पराधीनः''की उक्तिसे विरोध ही है. वैसे अयोग्य होनेसे भी नहीं दिया. भगवान्का अगले श्लोकमें 'त्वं नो गुरु'से विपरीत शब्द कहनेका क्या आशय है? जिसके उत्तरमें कहते हैं, कि जैसे शृङ्गार लीला गोप्य है, वैसे ही अवतार लीला भी गोप्य है, उसको प्रकट करना भगवान्को इच्छित नहीं है. इससे भगवान् उसको विपरीत कहते हैं:

जैसे भगवान्ने 'गोपिका गीत'से गोपियोंका त्याग इसलिए किया कि उनको अन्तरंग लीलाद्वारा आनन्द देना था, अतः बाहरका जो भाव था, उससे मुक्त करनेकेलिए विप्रयोगका दान किया. इसी प्रकार अक्रूरजीको लीलाकेलिए प्रकट किया है, किन्तु अब अक्रूरमें स्वरूपका अज्ञान होनेसे बहिर्मुखता है, तथा मैं ज्ञानी हूं, यों अपनेको समझकर प्रार्थना करते हैं. अतः इसके सर्व वचन असंबद्ध हैं, जिससे भगवान् उन सर्वका निवारण करनेकेलिए अक्रूरको मोहित करनेकेलिए प्रवृत्त हुए हैं, जिसका वर्णन 'इत्यर्चितः' श्लोकमें करते है :

श्रीशुक उवाच

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान् हरिः।
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव।।२८।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजीने कहा कि अक्रूरने इस प्रकार भगवान्का पूजन

किया तथा स्तुति भी की. तब भगवान् मन्द-मन्द हंसते हुए अक्रूरको मानो मोहित करनेवाले वचनोंसे कहने लगे ।।२८ ।।

व्याख्यार्थ: प्रथम कहते हुवे प्रकारसे अक्रूरने भगवान्का पूजन किया और अच्छे प्रकारसे स्तुति भी की, जिससे यह तो निश्चयसे जाना गया कि यह 'भक्त' है, तो भी भगवान् इश्वर होनेसे सर्व दुःख हर्ता हैं और यह भक्त है, अतः दोनोंकी पूर्ण रीतिसे विचारकर मुस्कुराते हुवे कहने लगे. मुस्क्यान कहते हैं, अल्प हासको अर्थात् अक्रूरको थोड़ा ही मोहित किया, फिर वचनोंसे मानो विशेष मोहित करते हुवे कहने लगे. विशेष मोहित करनेका आशय है कि उसको लीलासे वञ्चित नहीं किया, यदि प्राकृतत्व कर दें तो लीलासे दूर हो जावे ।।२८।।

आभासार्थ : भगवान् लौकिक और वैदिक शास्त्रोंके अनुसार दोनों प्रकारसे अक्रूरको मोहमें डालने लगे. जिसका वर्णन 'त्वं नो गुरुः' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें कहते है :

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ।
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ।।२९।।

श्लोकार्थ : भगवान् अक्रूरको कहते हैं कि तुम हमारे हमेशा गुरु, काका, प्रशंसनीय बन्धु हो. हम तो आपकी प्रजा, रक्षा, पालन और दयाके योग्य हैं ।।२९ ।।

व्याख्यार्थ: जिससे कल्याण होता हो, वैसा उपदेश देवे, वह गुरु है. क्षत्रियोंकेलिये धनुर्विद्या हितकारी है जिसका उपदेश आपने दिया है, अतः हमारे गुरु हैं. इस विषयको सिखानेवाला कोई अन्य गुरु नहीं है. भगवान् तो सत्यवक्ता हैं ही, इसलिये आपका गुरु अक्रूर ही है. 'नः' बहुवचन कहनेका तात्पर्य यह है कि आप केवल मेरे गुरु नहीं किन्तु बलभद्र आदि सर्व बान्धवोंके गुरु हैं, तथा काका(चाचा) हैं. बाल अवस्थामें भी आपने शिक्षा दी है, यह सब कोई जानता है. अपनी सन्ततिको पढानेका कर्तव्य स्पष्ट है, अर्थात् आप काका(चाचा) होनेके साथ गुरु भी हैं, 'च' कहनेका तात्पर्य यह है कि आप केवल पढाने और सिखानेवाले गुरु ही नहीं है, किन्तु साथमें हित करनेवाले भी हैं. अन्य कोई भी दूसरेको अपने घर नहीं बुलाता है तथा अन्यके घरमें कोई जात भी नहीं है. आप

कुलमें प्रशंसनीय हैं और महान् होनेसे प्रसिद्ध हैं. लोकमें(पितृव्य आदि व्यवहारमें) सापत्न्य भाव(सौतेले विचार)की तरह चचेरे भाईमें भीतर ईर्षा वा शत्रुता होती है, किन्तु आपमें वह भाव नहीं है. यह बतानेकेलिये अक्रूरको 'नित्य बन्धु' कहा है. अर्थात् सदा बन्धुओंका कृत्य, जो हित करनेका हो करता है, वह कर रहे हैं. इस प्रकार 'च' के साथ अक्रूरके पांच हितकारी धर्म कहकर अब उससे उल्टे पांच धर्म अपनेमें भगवान् बताते है. 'तु' शब्द अगले विषयसे इसको पृथक् करता है, आप गुरु होनेसे 'रक्षक' अर्थात् रक्षा करनेवाले भी है और हम रक्षा करनेके योग्य हैं. यदि कहा जाये कि अपनी रक्षा आप क्यों नहीं करते हो, जबकि भगवान्ने रक्षाके साधन आपको दिये ही हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यह सत्य है कि भगवान्ने साधन दिये हैं, किन्तु बुद्धि नहीं हैं, अतः साधन होते हुवे भी बुद्धिके अभावसे रक्षा नहीं कर सकते हैं. आप गुरु होनेसे बुद्धिमान् हैं. अतः हमारी रक्षा भी आप ही कर सकते हैं. काका हो, पिताके समान हो, इसलिये पोषण करनेवाले हो. हम आपके पुत्र हैं अतः पालनके योग्य ही हैं. 'च' से यह बताया कि हम आपके हित करनेवाले नहीं हो सकते है, किन्तु आप ही हमारे हितकारी बन सकते है. तात्पर्य यह है कि हम ही दयाके पात्र हैं. जो बड़े हैं वे श्लाघाके योग्य हैं, वे दयाके पात्र नहीं है, किन्तु वे दया पूर्वक हित करनेवाले ही होते हैं. कारण कि वे 'पति' अर्थात् पालक हैं. 'वः' शब्द देकर यह बताया है कि वसुदेव आदि, जो आप बड़े हैं उनकी हम 'प्रजा' हैं. यदि ऐसा सबकेलिये न कहे तो यह कथन केवल अक्रूरकी स्तुति मात्र ही जानी जावे ।।२९।।

आभासार्थ : यों लौकिक उत्कर्ष कह कर अब 'भवद्विधा' श्लोकसे प्रवृत्ति प्रकारानुसार वैदिक उत्कर्ष वर्णन करते हैं :

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ।।३०।।

श्लोकार्थ : आपके समान, महाभाग्यवाले, अतिशय पूजनीयोंकी सेवा, उन मानवोंको अवश्य करनी चाहिए, जो अपना कल्याण चाहते हैं. देवता तो स्वार्थी होते हैं, किन्तु साधु पुरुष परोपकारी होते हैं ।।३०।।

व्याख्यार्थ: लोकमें सर्व मनुष्य उनकी उपासना करते हैं. जो सर्व प्रकारसे श्रेष्ठ होते हैं, वे आप जैसे होते हैं यों कहकर उनका उत्कर्ष निरूपण किया. वे जैसे कैसे भी हों, किन्तु आप उनमें भी महान् भाग्यवाले हैं. यों कहकर उनकी

'अक्रूरजी की' सम्पत्ति बताई है. तात्पर्य यह है कि जो उपकार करनेवाले तथा बहुत सम्पदावाले एवं अत्यन्त योग्य होते हैं, उनकी ही सर्व सेवा करते हैं. उन सेवा करनेवालोंके गुणोंको कहते हैं कि जिनको अपने कल्याणकी इच्छा होती है, इससे स्वार्थकेलिए ही उपासना कही और यह भी बताया है कि जिसका फल प्रत्यक्ष है. इस प्रकारकी सेवाका अधिकार मनुष्योंको ही है. यह 'नृभिः' शब्दसे प्रकट किया है. इससे हमको यह अवश्य करनी चाहिये. यदि कहो कि शास्त्रमें देवता ही सेव्य कहे हैं, न कि कोई दूसरा सेव्य कहा है. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'देवाः स्वार्थाः' देवता स्वार्थी हैं. स्वार्थ जानकर ही हित करते हैं. साधु यों नहीं करते हैं अर्थात् साधु अपना स्वार्थ जानकर हित नहीं करते हैं, वे बिना स्वार्थ ही हित करते हैं, अतः देवोंसे भी साधुओंकी सेवा करना उत्तम है ।।३०।।

आभासार्थ : निवृत्तिमार्गमें तीर्थोंका सेवन करना कहा है, किन्तु उनसे भी साधुओंकी सेवा विशेष है. जिसका वर्णन 'न ह्यम्मयानि' श्लोकमें करते हैं :

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ।।३१।।

श्लोकार्थ : तीर्थ केवल जलरूप नहीं है, देवता, पाषाण और मृत्तिकारूप नहीं है, वे बहुत समय सेवा करनेके अनन्तर फल देते हैं. साधुपुरुष तो दर्शनमात्रसे ही फल देते हैं ।।३१।।

व्याख्यार्थ: तीर्थ किये कब समझना चाहिये, जब तीर्थोंमें स्नानकर उनके अधिष्ठाता आधिदैविक स्वरूपकी सेवा की जाती है, कारण कि केवल जल तीर्थ नहीं है, किन्तु जलके अभिमानी देवता तीर्थ हैं, वह देवता चैतन्य हैं. देवता तो चिदानन्दमयी होते हैं, यह ही शास्त्रोंकी मर्यादा है, इसी प्रकार मिट्टी वा पाषाण देवता नहीं है, लोकमें मन्दिर जो मिट्टी आदिसे बने हुवे है, और मूर्ति, जो पाषाण आदिसे बनी हुई हैं, उनको देवतारूपसे प्रसिद्धि है, उसका निवारण करते हैं कि वे ही देवता हैं, कारण कि शास्त्रमें वैसा प्रमाण है कि वे देवता नहीं हैं. यदि शास्त्रको न माना जावेगा तो शास्त्र केवल अनुवाद करनेवाला होकर अप्रमाण हो जावेगा, क्योंकि शास्त्रमें देव तथा तीर्थोंकी सेवाका उपदेश है और उससे हुई पवित्रता भी उत्तम मानी जावेगी, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वे बहुत काल तक शास्त्रकी विधिके अनुसार तीर्थकी सेवासे चित्तकी शुद्धि होती है, तीर्थसे जलमात्र नहीं किन्तु उसमें स्थित चिदानन्दमयी आधिदैविक मूर्ति समझनी. उसी

तरह मूर्तिमें भी स्थित आधिदैविक स्वरूप समझना चाहिये, उनके सिवाय शेष अप्रयोजक है. साधु भगवद्भक्त तो ज्ञानके उपदेशक और भक्तिके प्रवर्तक होते हैं, जिससे उनके दर्शन मात्रसे ही ज्ञान और भक्ति सिद्ध हो जाती है इसलिये फलसे भी भक्तका उत्कर्ष कहा है ।।३१।।

आभासार्थ : इस प्रकार स्तुति करके अक्रूरजीको मोहीतकर, अपनी इच्छाके अनुकूल करेंगें, यों जानकर 'स भवान्'से लेकर तीन श्लोकोंमें कुछ आज्ञा करते हैं :

स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया ।
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ।।३२।।

श्लोकार्थ : वे आप हम बान्धवोंका श्रेय करनेवाले हैं, अतः पाण्डवोंके कल्याण करनेकी इच्छासे उनकी अब क्या स्थिति है, उसको जाननेकेलिए आप हस्तिनापुर पधारे ।।३२।।

व्याख्यार्थ: तीन प्रकारके कार्य करते हैं: १.मोक्ष या भक्ति देनी है, २.पाण्डवोंको राज्य देना है, ३.शत्रुओंको मारना है. आप सर्व प्रकार उपकार करनेवाले हैं. उसमें भी ये तो सुहृद् हैं अर्थात् सम्बन्धी भाई तथा बहन आदि हैं. निश्चयपूर्वक इनकी पालना करनी योग्य है. पुरुषकी रक्षा पितृवर्ग करता है, या मातृवर्ग करता है. इसमें इनका पितृवर्ग रक्षक नहीं है, कारण कि पिताके परलोक होनेके अनन्तर चाचा आदि अनुकूल नहीं रहे हैं, किन्तु शत्रु जैसे हो गये हैं. शेष हम ही उनके सुहृद् रहे हैं, जिनमें आप ही उत्तम हैं. अतः उनके कल्याण करने केलिये एवं उनकी स्थितिको मालूम करनेकेलिये आप हस्ती नामवाले राजाके बनाये हुवे हस्तिनापुरमें पधारो. इससे आप छिपकर नहीं जाओ, प्रसिद्धरीतिसे जाओ. यों जाना निन्दित नहीं होगा, वे अब गुप्तस्थानोंमें नहीं रहते हैं ।।३२।।

आभासार्थ : वहां जाकर उनकी किस प्रकारकी स्थितिकी सूचना लेनी है, वह 'पितर्युपरते' श्लोकमें कहते हैं :

पितर्युपरते बालाः सह मात्रातिदुःखिताः ।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ।।३३।।
तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः ।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ।।३४।।

श्लोकार्थ : पिताके परलोकगामी हो जानेके अनन्तर सब बालक तथा

उनकी माता बहुत दुःखी होने लगे, अतः उनको राजाने अपने नगरमें बुला लिया है और वे वहां ही रहते हैं. सुना है, कि अम्बिकाका पुत्र महाराजा धृतराष्ट्र अपने भतीजोंका, पुत्रोंके समान पालन नहीं करता है, कारण कि वह एक तो बुद्धिसे दीन है और दूसरा वह अपने नीच पुत्रके वशमें है और स्वयं दृष्टिहीन भी है अर्थात् आंखोंसे तो देख नहीं सकता है किन्तु हृदयसे विचार भी नहीं कर सकता है ।।३३-३४।।

व्याख्यार्थ: पाण्डुके परलोक जाते समय ये अत्यन्त छोटे बालक थे. वे बहुत थे अर्थात् पांच थे. वे माताके साथ रहते थे. छोटे कहनेसे यह बताया है कि दया करनेके योग्य हैं. वे बहुत दुःखी थे, यह दयाका साधारण हेतु कहा है. उनका पालन करनेवाले हैं, या नहीं, इसलिये उनका परिवार बतानेकेलिये कहा है कि अपने नगरमें जिन्होंने मंगवाया वह कुटुम्ब है, किन्तु वे अपने स्थानमें स्थापित करनेवाले यदि शत्रु बन गये हैं, तो अतिशय अनर्थ होगा, इसमें भी मंगवाकर रखनेवाले राजा हैं, जिसका आशय है कि अब इनका राज्य नहीं है ।।३३।।

वे वहां साधारण अवस्थामें नहीं रहते हैं, किन्तु उनसे उपद्रव होनेकी शङ्का भी की जाती है, जिससे वे दुःखी हैं, यह भी शङ्का होती है. कारण कि यह अम्बिकाका पुत्र उन प्रसिद्ध निर्दोष विनयवाले भतीजोंसे समानताका व्यवहार नहीं करता है, क्योंकि उसमें एक सहज दोष यह है कि उसकी बुद्धि दरिद्री अर्थात् सङ्कुचित है. ऐसी बुद्धिवाला, जो न करने योग्य कार्य है, वे भी स्वार्थकेलिये करता है, किन्तु करने योग्य कार्यके करनेकी उसमें शक्ति नहीं होती है. स्वाभाविक दोष कहकर अब दूसरेके संसर्गसे आनेवाला दोष कहते हैं. 'दुष्पुत्रवशगः', उसका पुत्र दुर्योधन, कलिका अवतार होनेसे स्वभावसे दुष्ट है, इसलिये ही कलिकालके प्रभावसे उसके अधीन है. तथा पुत्र है, इस पुत्र मोहके कारण भी उसके वश हो गया है. स्वयं धृतराष्ट्रमें तो विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है, कारण कि 'अन्धदृक्', वह जातिसे अन्धा है, सर्व कार्य बोल-चाल-सुनकर ही करता है. सब कोई उस शब्दको मानता है, जो शब्द प्यारा लगता है. लोकमें पुत्रके वचन ही प्यारे लगते हैं, अतः जैसा पुत्र कहता है, वैसा करता है ।।३४।।

आभासार्थ : तब क्या करना चाहिए? इस पर 'गच्छ जानीहि' श्लोकमें कहते हैं कि आप वहां जाकर सारा समाचार जान लो :

गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ।।३५।।

श्लोकार्थ : आप वहां पधारो और देखो कि अब वे सुखी हैं कि दुःखी हैं. उसको जान लेनेके बाद, जैसे बान्धवोंको सुख प्राप्त होगा, वैसा प्रयत्न हम लोग करेंगे ।।३५।।

व्याख्यार्थ: 'गच्छ' यह एकवचन इसलिये कहा है कि अभी तो आप अकेले पधारो, क्योंकि अभी युद्धकेलिये नहीं जाना है, केवल सूचना लानी है कि वे सुखी हैं, या दुःखी हैं, अथवा सामान्य परिस्थितिवाले हैं? जाननेका उपयोग क्या होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि पूरी तरह जाननेके अनन्तर उसके अनुरूप कार्य करेंगे. क्या करोगे? इस पर कहते हैं कि जिस प्रकार बान्धवोंका कल्याण होगा, वह प्रकार करेंगे. यह सर्व, जाननेके अनन्तर करना है, क्योंकि जाननेसे प्रथम करनेसे वह कार्य सुखदायी नहीं होता है, अतः जाननेकेलिये आप अकेले पधारो, अर्थात् इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करना चाहिये. जो मोहित है, उसमें यह गुण होता है कि कहनेसे भी अधिक कर देता है, इसलिये ही धृतराष्ट्रकी भर्त्सना की गई है ।।३५।।

आभासार्थ : इतना कहनेसे कार्य हो जावेगा, यों जानकर भगवान् अपने घरको पधारे, जिसका वर्णन 'इत्यक्रूरं' श्लोकमें करते हैं :

इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ।।३६।।

श्लोकार्थ : भगवान्, हरि ईश्वर श्रीकृष्ण इस प्रकार अक्रूरको आज्ञा देकर सङ्कर्षण तथा उद्धवजीके साथ अपने घर पधारे ।।३६।।

व्याख्यार्थ: यहां श्रीकृष्णके जो 'भगवान्', 'हरि' और 'ईश्वर' ये तीन विशेषण दिये हैं, उस एक-एक विशेषणका भाव प्रकट करते हुवे आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि आप भगवान् हैं, इसलिये अक्रूर आपकी आज्ञा मानकर अवश्य जाकर सूचना ले आवेगा. अक्रूर बड़े हैं, तो भी आपने आज्ञा दी, कारण कि आप 'हरि' हैं. आप स्वयं क्यों नहीं पधारे? इसलिये कि आप ईश्वर हैं, सेवकोंके होते हुवे स्वामी कैसे पधारें? अब तो अक्रूरकी स्तुतिकर, अपनेसे भी उसमें विशेषता प्रकटकर, उससे सेवकपनका नीच कार्य और दूतपनका कार्य कराया. यह ईश्वरकी सेवा है, सङ्कर्षण या उद्धव दोनोंमेंसे कोई एक उसके

साथ जावेगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहा है कि आप इन दोनोंके साथ अक्रूरके घरसे पधारे, फिर आप अकेले अपने घरको पधारे, बीचमें दूसरा कोई कार्य नहीं किया, तो सीधे सब अपने-अपने घर गये ।।३६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्धके अध्याय ४६,
राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरणके षष्ठ अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा
विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.

अध्याय ४६

अक्रूरजीका हस्तिनापुर जाना

षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सात्त्विकानां निरूप्यते।
सान्त्वनं चान्यमुखतो निरोधो ह्यधिकारतः ।।का.१।।
भगवत्प्रेषितोऽक्रूरः कृत्वा सान्त्वनमग्रतः।
ज्ञानेन तत्प्रतीकारं मत्वा तच्चोक्तवान् स्वयम् ।।का.२।।
पाण्डवैर्ज्ञापिताशेषो विचारे कुशलो यतः।
अतः स्थित्वा गतिं बुध्वा स्वशक्तिं ज्ञातवांस्ततः ।।का.३।।
अन्यथा भगवत्कार्यं निरोधो न भविष्यति ।।

कारिकार्थ : इस ४६वें अध्यायमें भगवान्ने अक्रूर द्वारा सात्त्विक भक्त पाण्डवोंको सान्त्वना कराई. निरोध तो अधिकारके अनुसार होता है, भगवान्के भेजे हुए अक्रूरने ही समझा कि पाण्डवोंके सान्त्वनार्थ ज्ञान ही समर्थ है. वह सम्पूर्ण ज्ञान उनको अक्रूरने कहा है, कारण कि अक्रूरजी विचार करनेमें कुशल हैं, अतः वहां तीन मास रहकर पाण्डवोंसे सब समाचार विदित किए. जिसमें पृथा और विदुरने भी सहायता की है. जिससे इसके जाननेमें अक्रूरजीने अपनेको अशक्त नहीं समझा. शेष निरोधका कार्य भगवान्केलिए रखा, कारण कि निरोध अधिकारके अनुसार होता है. इसलिए अक्रूरजीने निरोध और पाण्डवोंको छुड़ाना, ये दोनों कार्य नहीं किए. यदि करते तो भगवान् निरोधादि कार्य कैसे करते ।।३।।

आभासार्थ : अक्रूरजीने जाकर पहले जो कार्य करनेकेलिए भगवान्ने कहा था, वह किया, जिसका वर्णन 'संगत्वा' श्लोकसे ६ श्लोकोंमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

श्रीशुक उवाच
स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितम्।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ।।१।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि वे(अक्रूरजी) हस्तिनापुर गए, जो पुरूवंशीय राजाओंके बनाए हुए मन्दिर आदिकी शोभासे शोभायमान है, वहां धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर और पृथाको देखा ।।१।।

व्याख्यार्थः वे अक्रूरजी अपने आप और भगवान्‌की आज्ञा पाकर हस्तिनापुर गये. श्लोकमें 'हास्तिनपुरं' कहनेका आशय यह है कि यह नाम रूढ़ि नहीं, किन्तु राजाने बनवाया है, इसलिये इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा है. यद्यपि जहां बहुत अधर्म हो, वहां नहीं जाना चाहिये, किन्तु यह पुरूवंशके राजाओंकी श्रीसे शोभित हैं, अतः जानेमें कुछ अड़चन नहीं है. नीतिके नियमानुसार प्रथम राजाका दर्शन करना चाहिये, अतः प्रथम उसका दर्शन किया. यहां व्यासजीने राजाका नाम धृतराष्ट्र न देकर अम्बिकापुत्र कहा, जिसका आशय यह है कि नामकी व्युत्पत्ति 'धृतं राष्ट्रं येन'के अनुकूल अर्थवाला कार्य न कर सकेगा. राजसभामें ही भीष्मको देखा, बादमें विदुर तथा पृथाको देखा. इनमें एक बतानेवाला, बतानेके योग्य, निरूपित किया है ।।१।।

सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं च गौतमम्।
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोपरान्।।२।।

श्लोकार्थ : वहां बाह्लीक, भूरिश्रवा आदि, भारद्वाज, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और भी उनके मित्र देखे ।।२।।

व्याख्यार्थः बाह्लीक शन्तनुके भ्राता, उनके पुत्र भूरिश्रवा आदि भरद्वाजके पुत्र द्रौण, गौतम, कृप, कर्ण अश्वत्थामा, दूर्योधन ये छः महारथी हैं, ये पुत्रोंके साथ कहनेसे उनके सहायक भी वहां थे. उसके बाद आगे उनको हरानेमें समर्थ बतानेकेलिये पाण्डवोंको भी गिनाया है, तथा लोकन्यायसे सर्व बान्धवोंका प्रिय करनेवाले सुहृद् मित्र भी वहां देखे ।।२।।

यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः।
संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम्।।३।।

श्लोकार्थ : अक्रूरजी सब बान्धवोंसे यथायोग्य मिले. उन्होंने अक्रूरजीसे मथुराके बान्धवोंके कुशल समाचार पूछे. अक्रूरजीने भी सबकी सब तरहकी कुशल पूछी ।।३।।

व्याख्यार्थः अक्रूर उनको नमस्कार आदि करते हुवे उनसे मिले. इसका माहात्म्य भी माताके नामसे प्रकट किया है. उन्होंने अक्रूरजीसे मथुरामें स्थित बान्धवोंके कुशल समाचार अच्छी प्रकार पूछे. अनन्तर आपने भी सब प्रकारके सबके कुशल वृत्तान्त पूछ लिये. कोई भी बात छोड़ी नहीं, इसलिये 'अव्यय' पद दिया है ।।३।।

आभासार्थ : बाहरी तौरसे पूर्णरीतिसे वृतान्तका ज्ञान ही होता है, अतः आप पूर्ण समाचार विदित करनेकेलिए वहां ठहर गए. वर्तमान समयका ज्ञान तो सुननेसे जान लिया, किन्तु भविष्यमें क्या होनेवाला है? जिसको जाननेकेलिए अन्यसे पूछकर निश्चय करना था, जिसका वर्णन 'उवास कतिचिन्' श्लोकमें करते हैं :

उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया ।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ।।४।।

श्लोकार्थ : अक्रूरजी, दुष्ट प्रजावाले, अल्प बलवाले, खलोंके कहने अनुसार चलने वाले राजाका वृत्तान्त जाननेकेलिए कुछ मास वहां ठहर गए ।।४।।

व्याख्यार्थ: अक्रूरजीको सिलसिले(क्रम)वार जब तक राजाको क्या करना है, इस वृत्तान्तका पूर्ण ज्ञान न हो जावे, तब तक वहां रहना पड़ा. समझा जाता है कि अक्रूरजी वहां तीन मास इस कार्य सिद्धिकेलिये रहे. प्रत्येक मासमें वे ही तिथियां फिर-फिरकर आती हैं. यहां रहकर अक्रूरजीको धृतराष्ट्रके तीन पदार्थोंका ज्ञान करना था, १.धृतराष्ट्रमें स्वयंमें जो दोष हैं, २.पुत्र आदिके मोहके कारण जो दोष उत्पन्न हैं, ३.दुःसङ्गके संसर्गसे जो दोष आये हैं, ये दोष, निमित्तसे भी होते हैं. अतः एक-एक दोषको जाननेकेलिये एक-एक मास रहना पड़ा था. इतना विशेष समय इसलिये लगा कि राजाओंकी जो मन्त्रणा गुप्त होती है, उसका ज्ञान पाना सरल कार्य नहीं है. एक-एक गुण और दोषका ज्ञान करनेके अनन्तर उसका निर्णयकर उसके परिणामका निश्चय करना, इसमें समयकी आवश्यकता रहती है. राजामें दोष इसलिये भी उत्पन्न हुवे हैं क्योंकि उनकी प्रजा और सन्तान दुष्ट थी. धैर्य आदि बल भी उसमें नहीं था और शकुनि आदि खलोंका संसर्ग भी था, इत्यादि कारणोंसे राजा धृतराष्ट्रका स्वभाव भी उनके कहनेके अनुसार हो गया था. जिससे वे दुष्ट प्रजा, पुत्र और खल-मित्र जो कुछ कहते, उसको ही श्रेष्ठ और हितकर समझता था ।।४।।

आभासार्थ : जो हो गया है, उसकी पहिचानका वर्णन 'तेज'से दो श्लोकोंमें करते हैं :

तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ।।५।।

श्लोकार्थ : पाण्डवोंमें जो तेज, सामर्थ्य, बल, पराक्रम, विनय आदि

सद्गुण थे और उनमें प्रजाका प्रेम भी था. ईर्षाके कारण दुर्योधन आदि इसलिए उनको सहन नहीं करते हैं, यह अक्रूरजीने समझ लिया ।।५।।

व्याख्यार्थ: पाण्डवोंके ललाटमें जो चमक थी, उनके इन्द्रियोंकी शक्ति, शरीरका बल, पराक्रम, ये सब धर्म क्षत्रियकी बड़ाई दिखानेवाले हैं. इन धर्मोंके कारण ही क्षत्रियोंमें वीर रस जागृत होता है. पाण्डवोंके सद्गुणोंका वर्णन करते हैं कि पाण्डवोंमें विनय आदि गुण हैं, जिससे मालूम होता है कि ये सतोगुणी हैं. इससे यह बताया कि इनका उद्धार करना तो भगवान्का स्वभाव ही है. धृतराष्ट्रके पुत्र आदि इनसे जो वैर करते है, जिसका कारण बताते हैं कि युधिष्ठिर आदिसे तो प्रजा, प्रेम करती है, उनसे नहीं करती है. इस प्रकार तीन तरह मत्सरता आनेसे वे सन्निपातके रोगीके समान त्रिदोषग्रस्त हो जानेसे उपायोंसे छूट सके जैसे नहीं रहे, जिसका फल सब प्रकारसे नाश ही है ।।५।।

कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ।।६।।

श्लोकार्थ : इस ईर्षासे धृतराष्ट्रके पुत्र आदिने इनको विषदान आदि देकर जो-जो पीडाएं दीं, वे सब पृथा और विदुरने अक्रूरको बता दिए ।।६।।

व्याख्यार्थ: त्रिदोषग्रस्त होनेसे उन्मत्तकी तरह दुष्कर्म करने लगे, जैसे कि भीमसेनको मारनेकेलिये विषके मोदक दिये, किन्तु वह पातालमें जाकर लौट आया. 'आदि' शब्दसे भीमको मारनेके अनेक उपाय किये, वे सब निष्फल हुवे. कभी-कभी अपमान भी किया, इत्यादि सर्व वृत्तान्त पृथा और विदुरने सुनाया. साथमें अपना भी साधारणरीतिसे सुना दिया. एकने स्वरूपका ज्ञान कराया, दूसरेने उनके हृदयके क्या-क्या भाव हैं, वे भी सुना दिये. श्लोकमें 'च' कहनेका आशय यह है कि इन दोनोंके सिवाय सामान्य जनताके मुखसे भी सर्व वृत्तान्त सुनकर, जान लिये ।।६।।

आभासार्थ : इस प्रकार भूतकालके विषयका ज्ञान कर लिया. अब आगामी जो कुछ होना है, उस ज्ञानके होनेमें भगवदीयत्व कारण है, अतः पृथा भगवदीय है, इसका निरूपण करनेकेलिए 'पृथा तु' इस श्लोकमें पृथाके भगवान्में नव प्रकारके भाव बताते हैं :

पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।
उद्देश्यं जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकुलेक्षणा ।।७।।

श्लोकार्थ : पृथा(कुन्ती) तो भ्राता अक्रूरजीको आए देख, उसके समीप पूछनेकेलिए आई, किन्तु अपने पितृकुलका स्मरण होते ही पृथाके नेत्र आंसूओंसे भर गए ।।७।।

व्याख्यार्थ: पृथाका जन्म तो शूरसेनसे हुआ है, किन्तु कुन्तीभोजकी पाली हुई सन्तति है. अतः उसका वसुदेव आदि ही पितृगृह है. इसलिये जैसे वसुदेव भ्राता है, वैसे ही अक्रूर भी भाई है. 'तु' शब्द देकर यह बताया है कि अब जो जिज्ञासाका प्रक्रम(सिलसिला) है, वह भिन्न है. अक्रूरजीका आना पृथा केलिये अलभ्य लाभ है. 'उद्देश्य' जो कुछ पूछनेका विचार था, वह सब उसको पृथाने बता दिया. पृथाका वास्तविक तो प्रथम गोकुलमें जानेके अनन्तर ही भगवान्में भाव हो गया था. इसलिये ही 'तु' शब्द तथा 'प्राप्त' शब्द कहे हैं. 'प्राप्त'का अर्थ केवल यहां आ गये नहीं है, किन्तु इसका गूढ आशय यह है कि अक्रूरको भगवान्ने भेजा है, इसलिये वे परम आप्त पुरुष हैं. पृथा, भाईके पास आकर पूछने लगीं, तो उसी क्षण पितृकुलका स्मरण होते ही लोककी भांति नेत्र आंसूओंसे भर गये ।।७।।

आभासार्थ : कायिक और मानसिकका निरूपण किया, अब वाचनिक भाव 'अपि स्मरति' श्लोकमें कहती हैं :

अपि स्मरति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे ।
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ।।८।।

श्लोकार्थ : हे सौम्य! हमारे माता-पिता और भ्राताओं, बहिनें, भतीजे, कुलकी स्त्रियां तथा सहेलियां हमें याद करती हैं ।।८।।

व्याख्यार्थ: 'सौम्य' सम्बोधन इसीलिये दिया है कि मैं जो पूछुंगी, उसका उत्तर आप पूर्णरीतिसे दोगे, क्योंकि आप चन्द्रकी तरह स्वच्छ हृदयवाले होनेसे 'सौम्य' कहे जाते हो. 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थमें दिया है अर्थात् यों हो सकता है, हम पाण्डवोंको माता-पिता और भ्राता याद करते हैं? अर्थात् जब आप यहां आये, तब माता-पिता वृद्ध होनेसे उन्होंने कुछ भी न कहा हो किन्तु भाईयोंने स्मरणकर कुछ कहा? 'मैं' मेरे शब्द कहकर अपना प्रियपन सूचित किया है अर्थात् मैं बान्धवोंको प्यारी हूं, वे मुझे प्यारे हैं. यद्यपि बहिनें दूसरेके घरमें गईं, जब पिताके घर आवे, तब उनके स्मरणकी सम्भावना हो सकती है, किन्तु विस्मरण भी हो सकता है, क्योंकि हृदयमें यदि ऐसा भाव उत्पन्न हो जावे कि

दूसरेको दे दी, अब यह पराई है, तो स्मरण किसलिये ? यदि ऐसा भाव हो जावे तो कोई उपाय नहीं हैं, जिससे कन्या व भगिनीको सदैव इस दुःखसे दुःखी रहना पड़ता है. यदि स्मरण किया जावे तो अपनेपनकी सिद्धि होनेसे दुःख नहीं रहता है, किन्तु प्रसन्नता होती है. भाईके पुत्र वसुदेव आदि एवं 'च' कहनेसे बहिनोंके पुत्र भी कहे हैं. कुलकी स्त्रियां अर्थात् जो पितृवंशमें विवाहित 'देवकी' आदि हैं, इनको 'जामि' कहा है. अपनी सखियां उनको भी स्मरण करना योग्य हैं, वे सब सखियां ही हैं. दूसरे 'च'से सब बालिका भी कही है. इस प्रकार सर्ववंशके स्मरणका पूछनेका भाव यह है कि सबकेलिये समान दुःख है ।।८।।

आभासार्थ : अन्य कोई स्मरण करे या नहीं करे, किन्तु मेरे भतीजे याद करते हैं कि नहीं, इसे 'भ्रात्रेयो भगवान्' श्लोकसे कहते हैं :

भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ।।९।।

श्लोकार्थ : भतीजे भगवान्, भक्तवत्सल, शरण देनेवाले श्रीकृष्ण तथा कमलनयन बलराम(क्या) बुआके पुत्रोंको याद करते हैं ? ।।९।।

व्याख्यार्थ: कुन्तीजी इस प्रकार जो पूछती हैं, जिससे जाना जाता है कि यह नन्दरायजीके घर आकर देख गईं हैं, इस बातको प्रथमस्कन्धके 'सा मां विमोहयति' श्लोकमें कहा है, अतः भगवान्का अनुभव होनेसे स्मरण आते ही पूछती हैं, स्मरण होनेके कारण जो सम्बन्ध है, वह बताती हैं कि पाण्डव बुआके पुत्र हैं, उनको याद करते हैं कि नहीं ? रामका भी वही सम्बन्ध है, इसलिये 'रामश्च' कहा है. तथा 'च' कहनेका यह तात्पर्य है कि जो भगवान्के भक्त उद्धव आदि हैं, वे भी याद करते हैं कि नहीं ? 'अम्बुरुहेक्षणः' यह विशेषण देनेसे यह जाना जाता है कि जैसे कमल, तापनाशक है, वैसे ही आप हैं, अतः हमारे तापको जान, अवश्य आकर उसका निवारण करेंगे, दृष्टिसे ही तापको नाश करेंगे ।।९।।

आभासार्थ : पृथा अपने दुःखका वर्णन 'सपत्न' श्लोकमें करतीं हैं :

सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ।।१०।।

श्लोकार्थ : मैं तो जैसे व्याघ्रोंके बीच हरिणी आ गई हो, वैसे शत्रुओंके बीचमें पड़ी हुई शोक कर रही हूं, ऐसी जो मैं हूं, उसको और पितृहीन बालकोंको श्रीकृष्ण अपने वचनोंमें सान्त्वना देंगे कि नहीं ? ।।१०।।

व्याख्यार्थ: व्यवहारमें ये नाममात्र सम्बन्धी हैं, वास्तविक तो ये शत्रु हैं. ये ऐसे शत्रु हैं, जो केवल अपकारकर शान्त हो जावे वह नहीं, किन्तु सर्व प्रकार नाश करनेवाले शत्रु हैं. जैसे हरिणीका व्याघ्रोंके मध्यमें आ जाने पर सर्वनाश होता है, वैसी ही हमारी भी दशा है. वैसी दशामें प्रसङ्गसे आनेके वचन, सान्त्वना करानेकेलिये समर्थ नहीं है, इस लोक तथा परलोकमें माता और पितासे हीन पाण्डव तो भ्राता हैं, मैं तो बुआ हूं, अतः आप स्वयं दोनोंको, विशेषरूपसे आकर सर्वको सुखी करूंगा, ऐसे वचन कहकर सान्त्वना देंगे? श्रीकृष्णमें अवस्था आदि दोष नहीं है, इसलिये आप भगवान् हैं और जिस दूसरोंमें दोष हैं, उनकेलिये 'बालक' पद विशेषणरूपमें दिया है, बालक होनेसे स्वतः असमर्थ हैं ।।१०।।

आभासार्थ: कुन्तीने इस प्रकार अपना मनोरथ कहा तो उस समय ही सामने भगवान् आ रहे हैं, यों समझ 'कृष्ण कृष्ण' श्लोकमें प्रार्थना करती हैं :

कृष्ण कृष्ण महोयोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ।।११।।

श्लोकार्थ: हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगी! हे विश्वात्मा! हे विश्वको अनुभव करानेवाले! हे गोविन्द! बालकों सहित क्लेशको प्राप्त मैं, आपकी शरण हूं, अतः शरणागतकी रक्षा करो ।।११।।

व्याख्यार्थ: यहां कृष्ण सम्बोधन दो बार देकर कृष्णके प्रति आदर व प्रेम प्रकट कर दिखाया, अथवा अचानक दर्शन होनेके कारण दो बार 'कृष्ण कृष्ण' कहा है. यदि कृष्ण कहे कि मैं तो यहां हूं ही नहीं, तुझे दृष्टिभ्रम हुआ है, जिसके उत्तरमें कहती हैं कि आप महायोगी हैं, इसलिये कहीं भी हो तो भी यहां दर्शन देनेमें समर्थ हो. यद्यपि महायोगी हूं, तो भी सर्वका परित्यागकर, यहां इतनी दूर आनेकी क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तरमें कहती हैं कि आप विश्वकी आत्मा हैं, अतः सर्वकी आत्मा होनेसे अपने देह आदिके प्रिय करनेकेलिये प्रयत्न करना ही आपका कर्त्तव्य है, अतः आत्माको सर्वथा आना ही चाहिये. यदि कृष्ण कहे कि मान लो आत्मा होनेसे मुझे आना ही चाहिये, तो भी अक्रूरकी भांति आना चाहिये, इस विशेष प्रकारसे आनेकी क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तरमें कहती हैं कि जब तक अलौकिक प्रकार नहीं किया जाता है, तब तक विश्वको अनुभव नहीं होता है, यह अलौकिक अनुभव उस बुद्धिमें होता है, जो बुद्धि अलौकिक होती है, इस प्रकार भगवान्को सम्बोधनकर, आनेका एवं उसके प्रकारका

वर्णनकर, प्रार्थना करती हैं. मैं आपकी शरणमें हूं, शरण आई हुईकी रक्षा करो. भगवान्, कोई भी साधारण शरण आता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं, सम्बन्धकी भी आवश्यकता नहीं देखते हैं, तो मैं भी शरण आई हूं, जिससे मेरी रक्षा करनेमें शरणागति भी हेतु है. शरण आई हुई मैं, बहुत दुःख पा रही हूं. यदि मैं शरण न भी आऊं, तो भी आप दयालु होनेसे मेरी दुःखी दशाको देख, मेरी रक्षा करो. न केवल मैं अकेली दुःखी हूं, किन्तु बच्चोंके समेत दुःखी हूं. कुन्ती भगवद्भक्ता होनेसे, जैसे भावावेशमें भगवान्के न होते हुवे भी भगवान्के दर्शन कर रही हैं, वैसे लाक्षागृहदाहकी भी स्फूर्ति उसको हो रही है, अतः यों कहती हुईं, रक्षाकी प्रार्थना कर रहीं हैं ।।११।।

आभासार्थ : तेरे पुत्र, भाई, पिता आदि सर्वसमर्थ हैं, फिर तू इतना सन्ताप क्यों करती हैं? इसका उत्तर ''नान्यत्तव पदाम्भोजात्'' श्लोकमें देती हैं :

नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम्।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात्।।१२।।

श्लोकार्थ : जब तक मोक्ष नहीं होता है, तब तक मरणका भय मिटता नहीं. अतः इस मृत्युरूप संसारसे डरनेवाले मनुष्योंका आप ईश्वरके चरणकमलसे अन्य कोई रक्षक मैं नहीं देखती हूं।।१२।।

व्याख्यार्थ: मृत्युरूप संसारसे डरे हुवे मनुष्योंका आपके सिवाय अन्य कोई रक्षक नहीं है, मनुष्यको प्रत्येक जन्ममें मृत्युसे और संसारसे भय होता ही रहता है, वह भय एक ही है. मनुष्यकी मृत्यु बहुत देखनी पड़ती हैं, किन्तु मृत्युका भय मृत्यु होनेसे मिट जाता है. किञ्च बार-बार जन्म लेकर जो मृत्युभय भोगना पड़ता है, जिसका कारण संसार है, उस संसारके मिट जानेके सिवाय मृत्युभय बना ही रहता है. इस संसारको मिटानेवाले भगवान् ही हैं. संसारभय और मृत्युभय दोनों स्वतन्त्र भक्तिके सिवाय नहीं मिटते हैं, इसलिये 'पदाम्भोजं' पद दिया है, अर्थात् भगवान्के चरणकमलके आश्रयके सिवाय ये दोनों भय नहीं मिटते हैं. भगवान्से मिटते हैं, यों न कहकर उनके चरणकमलसे मिटते हैं, यह कैसे कहा? इसके उत्तरमें कहती हैं कि वे चरणकमल 'ईश्वर'के हैं. ईश्वर सर्वसमर्थ होनेसे चरण द्वारा भी सब कुछ कर सकते हैं. भगवान् ईश्वर होनेसे दुराराध्य हैं, अतः जो फल चाहता है, उसकी प्रवृत्ति उनमें, बिना सन्देह निश्चित् पूर्णरूपसे होनी कठिन हैं. चरण तो नियत है अर्थात् भक्ति करने(सेवा करने)में किसी प्रकार दुर्लभता नहीं है, अतएव भक्ति

मार्ग, फल देनेमें तथा अवश्य फलप्राप्ति करानेमें निश्चित् किया हुआ है. ईश्वर द्वारा फलकी प्राप्ति निश्चित् नहीं है, क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र है, फल दें, न भी देवे. उनकी इच्छा पर निर्भर है, आप ईश्वर होनेसे मोक्षके अधिपति हैं, यह मृत्यु जब तक मोक्ष नहीं देता है, तब तक रहती हूं, मोक्ष तब होता है, जब जन्म लेनेका कारण संसार(अहन्तामममतात्मक तथा आशा) निवृत्त हो जावे, यह निवृत्त हुआ तो मृत्यु भय व संसारभय स्वयं स्वतः निवृत्त हो जाता है ।।१२।।

१.चरणका तात्पर्य है 'भक्ति', अर्थात् भगवच्चरणोंके आश्रयरूप भक्ति द्वारा संसार नष्ट हो जाता है.

आभासार्थ : कुन्तीकी इतनी प्रार्थनाके अनन्तर भगवान् प्रार्थनाको अपनी प्रसन्नतासे स्वीकारकर, तथा इसको प्रसन्नकर, तिरोहित हो गए, वैसे भगवान्को फिर 'नमः कृष्णाय' श्लोकमें नमस्कार करती हैं :

नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ।।१३।।

श्लोकार्थ : शुद्ध स्वरूप, ब्रह्म, परमात्मा, योगेश्वर, योगमूर्ति श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करती हूं, मैं आपकी शरण आई हूं ।।१३।।

व्याख्यार्थ: कुन्तीने जब सम्बन्ध बताने तथा नमन करनेकी इच्छा की, तब भगवान् छिप गये, कारण कि नमस्कार और सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि नमस्कार भगवद्भावसे की जाती क्रिया है, उसमें लौकिकभाव नहीं होना चाहिये. यदि लौकिक सम्बन्ध हुआ तो भगवद्भाव न रहेगा, जिससे नमस्कार भी उपयुक्त न होगा.

अब नमस्कार करनेकेलिये उनके स्वरूपका वर्णन करती हूं. 'कृष्णाय'. आप सदानन्दरूप हैं. यह 'कृष्ण' नाम अवतार पर होते हुवे भी आपके सदानन्द आदि धर्मोंमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं आती है अर्थात् आप अवतारदशामें भी उन धर्मोंसे युक्त हो, जिसकेलिये 'शुद्धाय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि अवतारसे सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्याकृति आदि दृश्यधर्म आपको स्पर्श नहीं करते हैं, आप शुद्ध ही हैं, यों कहकर काल आदि सभी धर्म आपमें नहीं है, यह भी बता दिया. यदि आप कहो कि जो जगत्में आया उसको जगत्के धर्मका सम्बन्ध तो होगा ही, तो इसके उत्तरमें मेरा कहना है कि जीवको अन्य सम्बन्ध होता है, आप 'ब्रह्म' हो, अतः आपको नहीं होता है. यदि कहो कि जीव

भी वस्तुस्वरूपसे ब्रह्म है, इससे मुझमें क्या विशेषता है? इसके उत्तरमें मेरा कहना है कि जीव 'आत्मा' है, आप 'परमात्मा' हैं, अर्थात् आप आत्माओंकी भी आत्मा होनेसे उत्कृष्ट आत्मा हैं. यदि आप कहो कि मैं आत्माओंकी भी आत्मा मूलरूप हूं, तो मेरा आगमन कैसे हुआ? आगमन तो अंश हो और परिच्छिन्न हो, उसमें होता है, अपरिच्छिन्नमें नहीं होता है? इसका उत्तर यह है कि आप अपरिच्छिन्न मूलरूप हैं, किन्तु साथमें योगेश्वर भी हैं. योग वह अलौकिक कार्य कर सकता है, जहां बुद्धि नहीं पहुंचती है, फिर आप तो उस योगके ईश्वर हैं, तो अपना कहीं भी आना क्यों नहीं कर सकते हैं? योगकी जो सामर्थ्य है, वह भी आप भगवान्की ही है, इसलिये 'योगाय' विशेषण दिया है कि भगवान् ही योग है, इससे जो सामर्थ्य देखी गई है, वह किसी प्रकार कुछ भी अयोग्य नहीं है, अतः जिस प्रकार अवतार लेने पर भी अन्यधर्मोंसे लिप्त नहीं होते हो, उसी प्रकार पूर्ण होते हुवे भी आ सकते हो, उस समय भी परिच्छिन्नता आपको स्पर्श भी नहीं करती है, इस प्रकार हम लोगोंकी भी पालना अवश्य करोगे, यह निश्चयकर मैं आपकी शरण आई हूं, शरण आने पर पालना आवश्यक है ।।१३।।

आभासार्थ : इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'इत्यनुस्मृत्य' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी करते हैं:

श्रीशुक उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ।१४।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! आपकी परदादी इस प्रकार सम्बन्धियोंको जगत्के ईश्वर श्रीकृष्णका स्मरणकर दुःखी होकर जोरसे रोने लगीं ।।१४।।

व्याख्यार्थ: अपने सम्बन्धी, पिता आदि एवं, श्रीकृष्णको श्लोकमें 'च' दिया है, जिससे बलरामजी तथा भगवान्के गुण कहे हैं, 'जगदीश्वर' विशेषण देकर यह बताया है कि आप जगत्के ईश्वर हैं, अतः आपको सर्वकी पालना करनी ही है, चाहे वे बहिर्मुख हो, भगवान् छिप गये, जिससे कुन्तीके मनमें संशय उत्पन्न हुआ कि हमारी रक्षा करेंगे कि नहीं करेंगे? इस भावके आने पर तुम्हारी परदादी जोरसे रोने लगी, वंशको तो दूर करेंगे, केवल एक परीक्षितकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करेंगे, इस प्रकार तुम्हारे वंशमें स्त्रियां भी भक्त हुई हैं, यह

बतानेकेलिये श्रीशुकदेवजीने कुन्तीका नाम न लेकर कहा है कि 'तुम्हारी परदादी', परीक्षितकी सुभद्रा, दादी है और कुन्ती, परदादी है ।।१४।।

आभासार्थ : भगवान्ने जो सान्त्वना दी, वह तो पाक्षिक समझी जाएगी, अतः भगवदीय सान्त्वना देते हैं, जिसका वर्णन 'समदुःखसुख' श्लोकमें करते हैं :

समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः ।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ।।१५।।

श्लोकार्थ : अक्रूरजी और बड़े यशस्वी विदुरजी, कुन्तीके साथ बराबर सुख तथा दुःखका अनुभव करते हुए उसके पुत्रोंके जनक 'धर्म' और 'इन्द्र' आदिका प्रभाव कहकर सान्त्वना देने लगे ।।१५।।

व्याख्यार्थ: यों तो इस विषयमें अक्रूर सान्त्वना देते हैं, यह उचित नहीं है, किन्तु अक्रूर महान् प्रसिद्ध पुरुष है, उनको अनिष्ट या इष्टमें दुःख-सुख समान है, तो भी महत्ताके कारण सान्त्वना देनी योग्य ही है, विदुर भी वैसे ही हैं, अतः वे भी सान्त्वना देवे, यह योग्य है. विशेषमें यद्यपि इसको दोनों तुल्य हैं, तो भी यह धर्मपक्ष है, इसलिये सान्त्वना देकर, मार्ग बताया है. इसलिये विदुरजी महायशस्वी माने जाते हैं. यों करनेसे ही धर्म होता है, अन्य प्रकारसे धर्म नहीं हो सकता है, केवल सान्त्वना दी. इनका दुःख देखकर युद्धकेलिये तैयार न हुवे, क्योंकि 'कुन्ती', भोजको दी गई है. इसमें यह प्रेरणा दी कि कुन्तीको अपनी रक्षाकेलिये धर्म आदिकी प्रार्थना करनी चाहिये. यदि ये(विदुर,अक्रूर) युद्ध करें तो सर्व प्रयत्न व्यर्थ हो जावे, इसलिये तुम्हारे पुत्रोंके जनक 'धर्म' आदिसे ही तुम्हारा दुःख दूर होगा, यों कहकर सान्त्वना दी, किन्तु स्वयं युद्धमें प्रवृत्त न हुवे, यह योग्य ही किया ।।१५।।

आभासार्थ : अक्रूरजी, कुन्ती और उसके पुत्रोंके दुःख देखकर सहन नहीं कर सके, जिससे मनमें यह विचार आया कि यदि इस कुकृत्यके कारण धृतराष्ट्रको धिक्कारूंगा और उससे मुझे इनसे लड़ना पड़ेगा तो मैं इसको मार सकूंगा, किन्तु अब इसके घरमें रहता हूं, घरमें रहनेवाला, घरके स्वामीके अधीन होता है, इसलिए जब घर छोड़ा, तब राजाको सम्बोधन करते हुए 'यास्यन्' श्लोकमें इस प्रकार कहने लगे:

यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।
अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ : जाते समय अक्रूरजी बान्धवोंके समक्ष, कुपुत्रोंके कहने पर सब कुछ करनेवाले, विषमदृष्टि राजा धृतराष्ट्रके पास आकर, रामकृष्णने जो कहलाया था, वह सब कहने लगे ।।१६।।

व्याख्यार्थ: धृतराष्ट्र राजा है, राजा होनेके कारण उसको सब कहना चाहिये, यदि न कहा जायेगा तो मर्यादाका उल्लङ्घन होगा, इसलिये निःशङ्क होकर राजाके पास आ गये. यदि कहो कि जैसे भगवान्को कोई नहीं कह सकता है कि ऐसा करो या वैसा करो, वैसे राजा भी भगवन्मूर्ति होनेसे कहने योग्य नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह तब हो सकता है, जब राजा अपने स्वरूपको समझ, समदृष्टिवाला हो, यह धृतराष्ट्र तो विषमदृष्टिवाला है, अतः इनको कहना चाहिये कि विषम क्यों हुआ है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'पुत्रलालसम्', पुत्रमें मोहवाला है. पुत्र चाहता है कि मैं जीता हूं, तब तक पाण्डवोंको राज्य न दूंगा, जीवित होंगे तो कभी न कभी राज्य ले लेंगे, इसलिये इनका कैसे भी नाश करना चाहिये, वैसी दशामें क्या करना चाहिये, पाण्डवोंका नाश करना चाहिये या पुत्रका नाश करना चाहिये, इस विचार करनेमें धर्मशास्त्रकी आज्ञा तो यह है कि जो दुष्ट हो, उसका नाश करना चाहिये, दुष्ट तो पुत्र हैं, जिनका नाश न कर, पाण्डवोंका नाश कराने पर कमर कसी है, अतः यह राजा विषम है. अपना स्वाभाविकधर्म, शास्त्रमें कहे हुवे धर्ममें बाधा डालता है अर्थात् दुःस्वभाव या दुःसङ्ग, शास्त्रीयधर्म करने नहीं देता है. यद्यपि राजाको तो राज्यसिंहासन पर बैठकर शास्त्र नियमानुसार ही कर्त्तव्य करने चाहिये, विषमता नहीं करना चाहिये, इसलिये वैसे राजाको समझाना ही योग्य है. यदि कहो कि यों है, तो एकान्तमें समझा दो, उसके उत्तरमें कहते हैं कि एकान्तमें कहा जायेगा तो लज्जा न होगी, अतः बान्धवोंके समक्ष कहनेसे कुछ लज्जा आ जावे, तो इस विषमताका त्याग कर दे और वचन कहनेसे किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट न होगा. यह विषम है, दूसरे तो अविषम ही रहेंगे, फिर मुझे कहना भी आवश्यक है, क्योंकि मैं जो कुछ कहता हूं, वह मेरी ओरसे नहीं है, किन्तु वसुदेव आदि बान्धवोंने जो कुछ कहा है, वही मैं कहता हूं, उन्होंने भी जो कहा है, वह अपनेपनसे हितकेलिये कहा है, न कि विषमबुद्धिसे कहा है ।।१६।।

आभासार्थ : 'भो भो वैचित्र' इस श्लोकसे लेकर नौ श्लोकोंमें अक्रूरके वचन हैं :

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन।

भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ।।१७।।

श्लोकार्थ : अक्रूरजी कहने लगे कि हे विचित्रवीर्यके पुत्र! कौरवोंके कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले, आपके भ्राता पाण्डुके परलोक पधारने पर आप राज्य सिंहासन पर बैठे हैं ।।१७।।

व्याख्यार्थ: अक्रूरने सर्वभावोंसे सर्व प्रकारके वचन कहे, जिनमेंसे प्रथम रज, सत्त्व और तमभावसे कहे, वे लौकिकप्रकारसे तीन श्लोकोंमें कहकर समझाये. दो बार सम्बोधन इसलिये दिये हैं कि अन्धे होनेसे देख नहीं सकते हैं. 'धृतराष्ट्र' शब्दका अर्थ है जिसने राष्ट्रको धारण किया है, किन्तु आपने राष्ट्रको वास्तविक रीतिसे धारण नहीं किया है, अतः आपमें धृतराष्ट्रता नहीं है. यदि धृतराष्ट्र न कहकर 'प्रज्ञाचक्षु' कहा जावे तो मर्ममें भेद हो जावे. यदि व्यासका पुत्र कहा जावे तो भी मर्म स्थान पर चोट आवे. स्त्री–पुत्रादिकका सम्बन्ध हीनताका प्रतिपादक है, राजत्व हीनताको प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, इसलिये बनावटी पिताके नामसे सम्बोधन देनेकेलिये 'वैचित्रवीर्य' कहा है. यह विचित्रवीर्यका क्षेत्रज पुत्र है. राजा होते हुवे भी 'त्वं', यह एकवचन जो कहा है, जिसका आशय है कि तूं अपने जन्मकी तलाशकर कि मेरा जन्म कैसे हुआ है? फिर तूं कुरुवंशमें उत्पन्न हुआ है, इसलिये उसकी कीर्तिको बढ़ाना तुझे योग्य है. यहां 'वर्धन' शब्द देकर धृतराष्ट्रको यह सूचना दी है कि तूं अब वंशकी कीर्तिका छेदन कर रहा है, राज्य चलानेकेलिये पुत्रकी आवश्यकता है, अतः पहले उस कार्यकेलिये आपको पैदा किया, किन्तु आप अन्धे निकले, जिससे आप राज्यकेलिये अयोग्य हुवे, इसलिये फिर दूसरा पाण्डु उत्पन्न किया, जिसने राज्य सम्भाला. उसके परलोक हो जानेसे अब राज्यासन अपने हाथ कर, राजा बने हैं, यह जो कुछ आप कर रहे हो, वह अयोग्य ही हैं, यों प्रकट देखनेमें आता है ।।१७।।

आभासार्थ : आपने सब कुछ किया तो भी आपको सात्त्विकभावसे व्यवहार करना चाहिए, इसलिए 'धर्मेण' श्लोकमें सात्त्विकतासे बोध करते हैं:

धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन्।

वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ।।१८।।

श्लोकार्थ : यदि धर्मसे पृथ्वीका पालन करोगे, अच्छे, आचरणसे

प्रजाको प्रसन्न करोगे, अपने सम्बन्धियोंसे समानतासे व्यवहार करोगे तो कल्याण तथा कीर्तिको प्राप्त करोगे ।।१८।।

व्याख्यार्थ: इस श्लोकमें अक्रूर धृतराष्ट्रको सात्त्विकभावसे पालन करनेकी राह बताता है. भगवान्ने यह प्रपञ्च दो प्रकारसे उत्पन्न किया है, एक नाम प्रपञ्च, दूसरा रूपप्रपञ्च. कारण कि वे दोनों परस्पर एक दूसरेकी पालनासे सहायता करे, अतः हे राजन्! आप भी केवल देहसे नहीं किन्तु नामप्रपञ्च शास्त्रकी आज्ञारूप धर्मके साथ पृथ्वीका पालन करो. यदि दोनोंसे पालन न करे, एकसे करोगे तो वह पालन, अङ्गरहित अर्थात् अपूर्ण होगा, अतः धर्मके सहयोगसे पालन करना चाहिये, केवल करणरूप धर्मसे पालन करनेसे योगीके समान इसका पालन होगा, किन्तु इस प्रकार करनेसे, जैसे योगके द्वारा पालन करनेसे योगीके योगका क्षय होता है, वैसे ही आपके धर्मका भी क्षय हो जावेगा, अतः दोनोंके सहभावसे पालन करनेसे इस लोकमें लौकिक सुखकी प्राप्ति और परलोकमें आनन्दकी प्राप्ति होगी, अब इस लोकमें कीर्ति भी हो, जिसकेलिये आप सर्वप्रकारसे प्रजाके मतका रञ्जन करो, वह तब होगा, जब आप अपने स्वभावको सुन्दर बनाओगे, जिससे प्रजाका आपमें प्रेम हो. आपकी लोकमें बाहरकी भी कीर्ति हो, जिसका साधन यह है कि आप, जो योग्य भाग पाण्डवोंका है, वह उनको दे दो, तो आपकी लोकमें विशेष कीर्ति होगी. कुटुम्बमें भी आपकी कीर्ति हो और अपकीर्ति जो हो रही है, वह मिट जावे. इसलिये अपने सर्व सम्बन्धियोंसे समान व्यवहार कीजिये, यों करनेसे राजा श्रेय और कीर्तिको प्राप्त कर सकता है. आप करोगे तो आप भी कल्याण और यश पाओगे ।।१८।।

आभासार्थ : उपरोक्त वचनोंके अङ्गीकार न करनेसे तामसवचन 'अन्यथा' श्लोकमें कहते हैं :

अन्यथा त्वाचरंल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ।
तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ।।१९।।

श्लोकार्थ : जिस प्रकार मैंने कहा है, उसी प्रकार यदि राजा आचरण नहीं करता है, तो उसकी लोकमें निन्दा होती है और वह मरनेके अनन्तर अन्धतम नरकमें पड़ता हैं, इसलिए आप अपने पुत्र तथा पाण्डवोंमें एक जैसी बुद्धि रखकर, समान व्यवहार करो ।।१९।।

व्याख्यार्थ: अब अक्रूरजी कहते हैं कि यदि राजा अन्य प्रकारसे पृथ्वीका

पालन करता है, तो प्रजाका राजामें प्रेम नहीं रहता है, यदि उसमें भी समबुद्धि न रख, विषमबुद्धि करता है तो कीर्ति तथा श्रेयकी प्राप्ति न होकर तुम्हारी निन्दा भी होगी. न केवल निन्दा, किन्तु अन्धतमःकी प्राप्ति होगी, अर्थात् महान् दुःख भोगोगे, अतः बाध करनेवालोंके वश होते हुवे भी राजाको सबसे समान व्यवहार करना चाहिये, आप राजा हैं, अतः आप वैसा उपाय करो, जिससे पाण्डुके पुत्र और आपके पुत्रमें भेदभाव न कर, समानतासे व्यवहार करो. वैसा उपाय करो, जिससे सबको समान दीखनेमें आ जावे. यदि आप पूछो कि मैं विषमताका किनसे व्यवहार कर रहा हूं? उसके उत्तरमें अक्रूरजी कहते हैं कि पाण्डव और अपने पुत्रोंसे समान न चलकर भेदभावसे चलते हो, और 'च' शब्दसे यह भी बताया है कि पाण्डवोंके सम्बन्धियोंमें भी आप समभावसे नहीं चलते हैं, इस विषमताको छोड़, सबसे समभावसे व्यवहार करो ।।१९।।

आभासार्थ : इस प्रकार लोकनीतिके अनुसार राजाको ज्ञान देकर अब शास्त्रके न्यायसे तीन-तीन श्लोकोंमें पूर्वके समान सतो, रजो और तमोभावसे कहते हैं :

नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह।
राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ।।२०।।

श्लोकार्थ : कभी, किसीके साथ, यहां सदा स्थिति नहीं है. हे राजन्! स्त्री और पुत्रादिकोंकी तो क्या बात है? परन्तु अपना शरीर भी सदा साथ नहीं रहता है ।।२०।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि सब जो कुछ करते हैं, वह अपने स्वार्थ सिद्धिकेलिये ही करते हैं, किन्तु उसमें कालबाधा करता है, इसीलिये जिस, देहादिककी रक्षा आदि हम हित समझकर करते हैं, वह हित नहीं है, किन्तु अहित है, अतः बाहरके भावकी स्थापना करनेकेलिये यत्न नहीं करना चाहिये. इसको समझानेकेलिये कहते हैं कि इस लोकमें सर्वदा किसीके साथ किसीकी भी स्थिति, काल करने नहीं देता है, जब अलौकिक ज्ञान देना होता है, तब उग्रवचन कहे जावे, तो बोध नहीं हो सकता है, अतः स्नेह दिखानेकेलिये कोमल वचनसे सम्बोधन दिया है, हे राजन्! जिसमें ममता है, उसकी भी अपने साथ सर्वदा स्थिति नहीं रहती है, यदि उसमें व्यभिचार देखनेमें आवे तो कहते हैं कि जिस अपनी देहमें कोई व्यभिचार नहीं देखता है, उस अपने देहकी भी अपने साथ सदैव स्थिति, काल करने नहीं देता है,

तो जो पुत्रादिककी देह अपनी समझी जाती है, उनकी सदा स्थिति कैसे रहेगी? 'आदि' शब्दसे भ्राता, पुत्र आदि सब समझने चाहिये ।।२०।।

आभासार्थ : यह सर्वदा स्थिति तब होती है, जब आत्माको देहसे भिन्न समझ, उसमें स्थिति करे, इसलिए 'एक प्रसूयते' श्लोकमें देहसे आत्माकी भिन्नता निरूपण करते हैं :

एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुस्कृतम् ।।२१।।

श्लोकार्थ : जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही लीन होता है, अकेला ही पुण्यके फल, सुखको भोगता है, तथा अकेला ही पापके फल, दुःखको भोगता है।।२१।।

व्याख्यार्थ: अपने पिता और पुत्रसे जन्म और मरणका अनुभव लेना चाहिये, इस न्यायके अनुसार अक्रूरको, जो इस प्रकार अनुभव हुआ है, उसका निरूपण करते हैं. मातासे उत्पन्न होता है अर्थात् जन्म लेता है. कालके द्वारा भूमिमें लीन हो जाता है. इस प्रकार आदिमें, जन्म समयमें और अन्तमें, लीन होनेके समयमें वही एक ही है. उपलक्षण न्यायसे सर्व क्रियामयका एक ही कर्त्तापन निरूपणकर, ज्ञानका अन्त तो आत्मामें ही होता है, इस प्रकार कर्मसे भोग भी एक ही करता है. जैसे कि एक ही पुण्यरूप कर्म, जिसका फल, स्वर्ग आदि है, पुण्यरूप कर्म, कारण है और स्वर्ग आदि फल कार्य है, कार्य और कारणका अभेद है, जिससे केवल 'सुकृत' कहा है. श्लोकमें 'अनु' शब्द कहनेका तात्पर्य है कि कर्म करनेके अनन्तर फलका भोग किया जाता है. पुण्यके फलरूप सुखके भोगके समय अन्योंका भी मिलन होता है. जैसे कि हास्य क्रीड़ा आदिमें देखा जाता है, किन्तु दुष्कृत अर्थात् पापके फल, दुःखके भोगमें तो अकेला ही दुःख भोगता है. 'च' शब्द देनेका आशय यह है कि यदि पाप मिलकर किया है, तो दुःख भी साथ ही भोगना पड़ता है, अतः दुष्कृतकी भी सुकृतके समान व्याख्या करनी चाहिये ।।२१।।

आभासार्थ : सुख अथवा सुखके साधनोंकेलिए पाप नहीं करना चाहिए, यह 'अधर्मोपचितं वित्तं' श्लोकमें वर्णन करते हैं :

अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।
सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ।।२२।।

श्लोकार्थ : मूर्खका अधर्मसे संचय कर, बढ़ा हुआ धन, दूसरे पुत्र आदि पालने योग्य हैं, इस मिष(बहाने)से ले जाते हैं, जिससे धन ले जाने पर, जैसे जलके जीव, जलके अन्यत्र चले जाने पर, जल बिना दुःखी होते हैं, वैसे यह मूर्ख भी अकेला हो, दुःखी होता है ।।२२।।

व्याख्यार्थ: धनकी उत्पत्ति धर्मसे होती है अर्थात् धन, धर्मसे प्राप्त होता है, किन्तु उसकी वृद्धि अधर्मसे भी हो सकती है, तो जो धन अधर्मसे बढाया हुआ है वह देखकर अन्य जनतामें रोष बढ़ता है, जिससे वे दूसरे जो अधर्मी वा अधर्मसे प्रेरित लूटेरू हैं, वे धन छीन लेते हैं. अपनेमें सामर्थ्य न होनेसे, उनको रोककर धन बचाया नहीं जा सकता है, और धर्मकी वृद्धिके समय धनीके मनमें यह विचार होता है कि सम्बन्धियोंको खिलाना चाहिए. धनी अतीशय लोभी होवे, तो सम्बन्ध बना रहे, इसलिये सम्बन्धियोंको भोजन कराता है. धनके मदमें कहता है कि मुझे अपने धनकी अपेक्षा नहीं है, भले ये ले जावें, इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे धनका क्षय हो जाता है, जिससे उसका जीवन नष्ट वा दुःखी होता है. इसको समझानेकेलिये दृष्टान्त देते हैं. जैसे जलके जीव मत्स्य आदिका जल ही प्राण है, अतः वे नदीमें ही रहते हैं, उस नदीका जल नहरों द्वारा मनुष्य अन्यत्र ले जाते हैं, किन्तु जो जलके जीव समझते हैं, वे उन नहरों द्वारा वहां चले जाते हैं, जो बेसमझ हैं, वे वहां ही जलके बिना अकेले रहनेसे दुःखी वा नष्ट होते हैं, वैसे ही अधर्मसे बढाये हुवे धनवाला भी धन लुट जाने पर नष्ट होता है ।।२२।।

आभासार्थ : यदि मैं अब धन देकर उनका पोषण आदि करूंगा तो बादमें वे मेरा उपकार करेंगे, इस विचारका 'पुष्णाति' श्लोकमें खण्डन करते हैं :

पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ।।२३।।

श्लोकार्थ : मनुष्य जिनको अपना समझ अधर्मसे पालन करता है, वे प्राण, धन और पुत्र आदि उस मूर्खको उपकार किए बिना पहले ही दुःखी अवस्थामें छोड़ देते हैं ।।२३।।

व्याख्यार्थ: प्रारम्भ तो अन्यसे करते हैं, किन्तु अन्तमें उन सबोंको पुत्र पर ही लाकर समझते हैं, ये सब अपने हैं. मित्र व सम्बन्धी हैं, वैसी बुद्धि जो होती है, वह केवल विचारमात्र ही है, वास्तवमें वे मित्र नहीं है किन्तु शत्रु हैं. यदि शत्रु न हो तो उपकार करें. उपकार न करनेसे निश्चयसे समझना चाहिये कि वे शत्रु

ही हैं. शत्रु होते हुवे भी वे बलात्कारसे उसका धन छीनते नहीं हैं, किन्तु उसकी मूर्खताका लाभ उठाते हैं. लौकिक, वैदिक नित्यकर्म तो करना ही चाहिये, इसलिये उनको भोजन कराना ही पड़ा. यदि यों हो, तो उसका उत्तर यह है कि इस प्रकारका भोजन दानरूप नहीं है, जिससे परलोकमें लाभ हो, किन्तु यह भोजन पिशाचभिक्षाके समान है. इस प्रकारके भोजनसे इस लोकमें उपकार हो सकता है. यदि वे कृतज्ञता दिखावें, वह भी नहीं है, जिससे इस कियेका कोई फल नहीं है, न केवल इतना ही है, किन्तु प्रसङ्ग आने पर किसी भी आपदाके समय त्याग देते हैं. अब बाहरके और भीतरके सब समान हैं, यह बताते हैं. प्राण, धर्म और पुत्र आदि हैं. अन्दरके, बाहरके या मध्यमें दोनोंके उपयोगी होते हैं, आदि शब्द कहकर यह बताया है कि बहारके सब ही ग्रहण किये हैं. प्राण शब्दसे इन्द्रियोंको समझना चाहिये, क्योंकि उनका पोषण किया जाता है. आसन्य प्राण मुख्य प्राण है, वह तो स्वयंका पोषण करता है, उसका कोई पोषण नहीं करता है. 'अनुप्राणान्ति', 'अण्डेषु पेशिषु' इत्यादि वाक्योंमें कहा है कि जब तक मुक्ति नहीं होती है, तब तक प्राण और इन्द्रियोंका आपसमें वियोग नहीं होता है. मुक्ति होते ही कृतार्थता होती है, तदनुसार आपका 'अकृतार्थ' कहना बाधित है, यदि यों कहते हो तो, वह सत्य है, किन्तु प्रत्येक विषयको प्रकरणानुसार समझना चाहिये. जीव दो प्रकारके हैं. एक 'चर्षणी' जीव हैं, जिनकी हंमेशा एकलोकसे दूसरे लोकमें जाकर, क्रममुक्ति होती है. दूसरे, स्थिर जीव हैं, जिनको लोकान्तरमें जाना नहीं पड़ता है, उनकी यहां ही मुक्ति हो जाती है. यदि यों न माना जायेगा तो पुरञ्जनके उपाख्यानमें जो कहा गया है, कि देहमें प्राणादिके होते ही जीव प्रवेश करता है अर्थात् देहमें जीवने एकाकी प्रवेश किया है. जैसे एकाकी प्रवेश, वैसे ही एकाकी निर्गमन होता है, इसका बाध होगा, इससे इसको प्रथम प्रवेश मान लो, यों भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'वीरसूरपि नेष्यति' वाक्यसे विरोध होगा, अतः यदि यों मान भी लिया जावे तो राय अर्थात् धन भी बाहरके प्राण हैं, जैसे कि कहा है, 'अर्था बहिश्चराः प्राणाः', यों कहकर दो सिद्धान्त बताये हैं, एक शरीरसे प्राणीका उत्क्रमण होनेके पक्षमें, साथमें अन्योंका भी निकलना और दूसरा उत्क्रमण न होकर यहां ही लीन हो जाने पर यहां ही सर्वका त्याग, क्योंकि श्रुतिमें दोनों प्रकार कहे हैं. क्रम मुक्तिके अधिकारी चर्षणी जीवके देहत्यागके समय प्राण आदि साथ जाते हैं. ''ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'', इस श्रुतिके अनुसार सद्योमुक्तिके

अधिकारी स्थिर जीवके प्राण आदि साथमें नहीं जाते हैं, अतः इस प्रकार समझने पर कोई विरोध नहीं रहता है. स्थिर जीव सद्योमुक्ति योग्य बनता है, वह प्राणादिको अयोग्य बनाकर यहां ही छोड़ता है वह योग्य ही है ।।२३।।

आभासार्थ : जैसे, जिसको मारनेकेलिए जब लेकर जाते हैं, तो उसको अकेला ही ले जाते हैं, किन्तु विवाहके समय तो बारात(जान)को बाजे-गाजेके साथ लाया जाता है, जिसका वर्णन 'स्वयं किल्बिष' श्लोकमें करते हैं :

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ।।२४।।

श्लोकार्थ : उन प्राण आदिसे त्यागा हुआ और सच्चे अर्थको न समझनेवाला वह मूर्ख, प्रयोजन भी सिद्ध न कर, स्वधर्मसे विमुख हो, अपने किए हुए पापको साथ लेकर अन्धतममें प्रवेश करता है ।।२४।।

व्याख्यार्थ: धनके उपार्जन करने और बढ़ानेमें जो पापका संचय किया है, उसको साथमें लेकर अन्धतमःमें जाता है. प्राण आदि सब उसको छोड़ देते हैं, कोई साथ नहीं चलता है. यदि उसकी गति उच्च होवे, तो प्राण आदि सब उसके साथ जाते हैं, छोड़ते नहीं है, यह बतानेकेलिये कहा है कि अर्थको नहीं जानता है, यदि इस प्रकार न माना जावे, तो योगशास्त्र व्यर्थ हो जावे, जैसा कहा है 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' कि वह उस पूर्वाभ्याससे ही खींचा जाता है, स्वयं अवश हो जाता है, अतः वैसी अन्तर्मुख इन्द्रियोंका हित ही करना चाहिये न कि उन इन्द्रियोंका, जो संसारके आवेशके कारण दुष्ट हो गई हैं. इसलिये कहा है कि इन्द्रियोंको अन्तर्मुख न करनेवाले प्रमत्तको असत् इन्द्रियरूप घोड़े, रथी सहित उलटे मार्ग पर ले जाकर विषयरूप चोरोंके पास फेंग देते हैं, उन विषयरूप चोरोंके आधीन होनेसे वह प्रमत्त संसारमें प्रवृष्ट हो जाता है न कि हीन गति पाता है, अतः इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न स्वभाव होनेसे स्वभावानुसार कर्म करनेसे वैसा फल मिलता है, जैसा कि 'निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतां याति' निन्दित नीच कर्म करनेसे जीव स्थावरयोनिको नित्य पाता है, अतः वैसे पुरुषका अपुनरावृत्ति अथवा अधोमार्ग गमन, दोनोमें त्याग करना चाहिए. ऐसे पुरुषकी मुक्ति न हुई अथवा होगी नहीं, इसलिये इसको 'आसिद्धार्थ' कहा गया है. जिन भक्तोंकी भगवदिच्छासे 'सद्योमुक्ति' होती है, उनके भी प्राणादि साथ नहीं जाते हैं ,यहां ही लीन हो जाते हैं, जैसे निरुद्ध गोपियोंके, वे अर्थ कोविद न

होते हुवे भी उनमें परित्याग तो है ही, अतः इस पक्षको पृथक् करनेवाले दोनों पदोंका विचार करना चाहिये, अर्थात् उनका आशय समझना चाहिये. जैसे मुक्तिमें अपुनरावृत्ति है, वैसे ही अन्धतममें जाने पर भी अपुनरावृत्ति है, अर्थत् जिसका अन्धतममें प्रवेश होता है, वह लौटके नहीं आता है. जैसे ''अन्धतमः प्रविशन्ति'' श्रुतिमें कहा है और केवल इन्द्रियोंका पोषण करनेवाला ही 'सम्भूति'की उपासना करता है. जैसे श्रुति कहती है 'अविद्यामुपासते', बिना ज्ञानके तथा जिसकेलिये कोई प्रमाण नहीं है, वैसा जो लौकिक और निषिद्धकर्म है, उसको जो करता है, वह तमको ही प्राप्त होता है. ज्ञानके साथ जो कर्म किया जाता है वह वैदिककर्म है. ''य एवास्मि स सन् यज'' इस श्रुतिके अनुसार स्वरूपको समझकर जो यज्ञ आदि कर्म किया जाता है, उसका फल 'मुक्ति' है, इसको जतानेकेलिये कहते हैं कि आप स्वधर्मसे विमुख होके जो कर्म करते हैं वह न स्वधर्मके अनुकूल सर्व भोग आदि करो।।२४।।

आभासार्थ : बुद्धिमान्को ज्ञानसहित धर्मको और धर्मसहित भोगको करना चाहिए, जिसका वर्णन 'तस्माल्लोकमिमं' श्लोकसे करते हैं :

तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम्।
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ।।२५।।

श्लोकार्थ : हे राजन्! इसलिए इस लोकको स्वप्न, माया एवं मनोरथके समान जानो, आत्मासे आत्माको वशकर, हे प्रभु! शान्त तथा समदृष्टि बनो ।।२५।।

व्याख्यार्थ: अक्रूरजी धृतराष्ट्रके इस 'लोकके अनुसार पुत्रका कहना भी मानना चाहिये' शङ्काका उत्तर देते हैं, कि यद्यपि लोक भी यों कहता है किन्तु वह लोक भी स्वप्न, माया और मनोरथकी भांति चिरकाल नहीं रहता है, तो उसका अनुसरणकर अपना पुरुषार्थ क्यों नाश किया जाये? 'स्वप्न' तामस है, 'माया' राजस है और 'मनोरथ' सात्त्विक है, इस प्रकार जगत् उत्कृष्ट और अपकृष्ट होते हुवे भी स्थिर नहीं है. उत्पत्ति भी होती है, मरण भी होता है, किन्तु पहले व पश्चात् इस देहके साथ स्थिति तो रहने कि नही है अर्थात् यह देह तो पृथक् ही है, अतः त्यागनी ही है, इसलिये देहको स्वप्न आदि तुल्य कहना उचित ही है. यों कहकर राजाको यह समझाया कि यह राजाका शरीर उत्तम है, ऐसा विचार हृदयसे निकाल दो, अर्थात् इस प्रकार समझकर अन्तःकरणसे निश्चय कर

लो कि यह आत्मा देहसे पृथक् है, इसमें तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र आदिमें भी उदासीन होकर(प्रेम निकालकर) रहो. इसलिये कहा है कि सम होके रहो. यदि सम होकर रहा जाये, तो फिर यह मुझे करना है, वैसा विचार हो नहीं सकेगा, इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'शान्त' हो जाओ. यदि शान्त होना ही उपाय है, तो सब यों क्यों नहीं करते? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आप 'प्रभु' हो अर्थात् आप विवेकवाले तथा यों कर सकनेमें समर्थ हैं, दूसरे समर्थ नहीं है, क्योंकि विवेकवाले नहीं हैं ।।२५।।

आभासार्थ : इस प्रकार ज्ञानका उपदेश मिलनेसे धृतराष्ट्र संतुष्ट होकर 'यथा वदति' श्लोकमें उत्तर देते हैं :

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।

तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ।।२६।।

श्लोकार्थ : धृतराष्ट्र कहने लगे कि हे दानपते! आप अमृतवाणी बोलते हैं, जिससे मैं इस प्रकार तृप्त नहीं होता हूं, जैसे मनुष्य अमृतसे तृप्त नहीं होता है ।।२६।।

व्याख्यार्थ: इस प्रकार व्यासजी, भीष्मपितामहजी तथा अन्योंने भी उपदेश दिया है, वह ज्ञान मनमें क्षणमात्र ही स्थिर रहता है, अनन्तर मन, ज्ञानके विपरीत ही आचरण करने लगता है. फिर उपदेश मिलता है तो विपरीत कार्य करनेकेलिये पश्चात्ताप होता है और मनको ज्ञान भी आ जाता है, किन्तु वह भी स्थिर नहीं रहता है, जिससे मन फिर उल्टे मार्ग पर चलने लगता है, यों अनेक बार होनेसे मैंने समझ लिया कि हमारे मनका यही स्वभाव है. जब यह निश्चय हो गया तब पश्चात्ताप निवृत्त हो गया, अब मन ज्ञानको भी मानता है, किन्तु तदनुसार न चलकर विषमता भी करता है, इस सिद्धान्तको जो नहीं समझता है, उसको यह सिद्धान्त समझाता है.

धृतराष्ट्रजीके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जब वह यों करता है, तो उसका अनिष्ट होता है, मैं पुत्रका नाश नहीं चाहता हूं तो मेरा अपना दोष होता है, किन्तु जीव स्वयं कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है और न कोई दूसरा कुछ भी करनेमें समर्थ है, जो कुछ करना कराना है, उनमें ईश्वर ही समर्थ हैं. धृतराष्ट्रने यों कहनेसे यह बता दिया कि युद्धका उद्यम मैं करा रहा हूं, यह विचार गलत है.

हे दानाध्यक्ष! आप धर्मशास्त्रको अच्छी तरह जानते हैं, जिससे आप धर्मको जानते हैं, किन्तु काल, स्वभाव एवं ईश्वर इच्छाको नहीं जानते हैं, परन्तु जो वाणी बोलते हो वह सत्य और प्रिय है. स्मृतिमें भी कहा है कि सत्य कहना किन्तु वैसा सत्य कहना जो सुननेवालेको प्रिय लगे. आप वैसे ही बोल रहे हो, कारण कि दानपति हो. इसलिये अभी भी आपके वचन श्रवण करनेमें श्रद्धा है, आपकी इस वाणीसे मुझे तृप्ति नहीं होती है. मैं नहीं चाहता हूं कि अब मत कहो, मैं तो फिर भी सुनना चाहता हूं. जैसे मरणधर्मवाला मनुष्य, अमृतपानसे तृप्त नहीं होता है, चाहता है, कि और भी पीवूं ।।२६।।

आभासार्थ : ज्वरवाला पुरुष श्रद्धालु होनेसे गंगामें स्नान करते हुए तृप्त नहीं होता है किन्तु उसका शरीर स्नानको सहन नहीं कर सकता है, वैसे ही मैं तो आपकी ज्ञानरूप वाणी सुननेसे तृप्त नहीं होता हूं किन्तु मेरा मन उसको सुनना अथवा करना नहीं चाहता है, 'तथापि' इस श्लोकमें इस बातको कहते हैं :

तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ।।२७।।

श्लोकार्थ : हे सौम्य! जो कि आपकी वाणी सुन्दर है, तो भी पुत्रके प्रेमके कारण विषम हुए चंचलमनमें वह वैसे नहीं ठहरती है, जैसे सुदामा पर्वतकी बिजली नहीं ठहरती है ।।२७।।

व्याख्यार्थ: जो कि सत्पुरुषोंके मनमें सत्यरूप वाणी ठहर जाती है, क्योंकि वाणी मनकी स्त्री है, तो भी, जैसे स्त्रीका मन, वैश्याप्रेमी पतिमें नहीं ठहरता है, वैसे मेरे इस चञ्चलमनमें चञ्चलताके कारण आपकी सत्य वाणी नहीं ठहरती है. चञ्चल होने पर भी यदि वाणीके योग्य काम करनेवाला हो, तो भी उसमें स्थिर हो जावे, किन्तु यहां वह भी नहीं है. जैसे जलके प्रवाहसे भूमि नीचे-ऊपर होकर विषम बन जाती है, वैसे ही मेरा मन भी पुत्रके प्रेमप्रवाहके कारण विषम बन गया है, जिससे आपकी वाणी मेरे मनमें वैसे नहीं ठहरती है, जैसे मालाके आकारवाली सुदामा पर्वतकी बिजली क्षणमात्र भी नहीं ठहरती है. दण्डके आकारवली तो क्षणमात्र देखनेमें भी आती है. विद्युत तथा सौदामिनी दोनों शब्द बिजलीके वाचक हैं ।।२७।।

आभासार्थ : जब चित्तवृत्तिका निरोध करानेवाला योग विद्यमान हैं, तब यत्न क्यों करते हो? इसका उत्तर 'ईश्वरस्य' श्लोकमें देते हैं :

ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ।।२८।।

श्लोकार्थ : जिस ईश्वरने पृथ्वीका भार उतारनेकेलिए यदुके कुलमें अवतार लिया है, उसके करनेकी विधिको अन्यथा करनेकी किस पुरुषमें शक्ति है?।।२८।।

व्याख्यार्थ: ईश्वरने प्रथम ही यह निश्चित निर्णय कर लिया है कि इस कर्तव्यको इस प्रकारसे करना है. उसको अन्यथा करनेमें कौन समर्थ है, अर्थात् कोई नहीं. यह विज्ञान तब प्राप्त होता है, जब मनुष्य, वृक्ष बोनेकेलिये पहले आल-वाल बनाये, अनन्तर उसमें बीज बोनेका कार्य करे. यों परिश्रम करनेसे, जैसे इस विषयका ज्ञान हो जाता है, वैसे ही यहां भी विधि अनुसार परिश्रम करनेसे जाना जा सकता है, इसमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं है. इस प्रकार करनेसे विवेकी मनुष्य समझ जाता है कि ईश्वरके विचारित कर्त्तव्यको कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है और न उसका स्वरूप भी हिला सकता है. 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैवं सुकृतं विभुः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ईश्वर किसीका पाप वा पुण्य ग्रहण नहीं करते हैं, अतः वे उदासीन नहीं रहते हैं, इसलिये पुत्रप्रेमसे चित्तका विषम बनना तो अज्ञानसे होता है. यदि कहो कि ईश्वर वैसा करते हैं, तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'भूमेः भारावताराय', भगवान्ने अब भूमिके भारको उतारनेकेलिये अवतार धारण किया है. यदि यों न होवे तो अवतार ही धारण न करे, जिससे समझा जाता है कि भगवान्ने अन्य प्रकार विचारा है, इसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि यों स्वीकार करनेसे 'यदा यदा ही धर्मस्य' वाक्यका विरोध होगा, अतः अवतार धारण करनेका कोई दूसरा कारण होगा अथवा अवतार हुआ ही नहीं है यों कल्पना कर लो. यदि यों कहो तो यों नहीं है, यों मान लेनेसे शास्त्र निष्फल हो जावेंगे, अथवा सबकी मुक्ति हो जावेगी. यदि कहो कि शास्त्र, अधिकार पर है, तो इस पक्षमें भी दूषण है, जैसे वह मान लेता है कि सर्वगुणोंकी सम्पत्ति मुझमें है, वैसी दूसरेमें नहीं है, इस प्रकार कहनेसे सबोंका, शास्त्रसे विश्वास ही न रहेगा. अतः व्यभिचार होनेसे अर्थात् शास्त्रमें ही अविश्वास होनेसे ईश्वरकी इच्छा स्वतन्त्र है, यों मान लेना चाहिये. यदि कहो कि यों मानने पर शास्त्रकी विफलता होगी, तो इसके उत्तरमें कहा जाता है, कि आपका कहना सत्य है, किन्तु शास्त्र सर्वत्र प्रमाण नहीं हो सकता है, किन्तु जहां

ईश्वरकी इच्छा होती है, वहां 'शास्त्र प्रमाण' होता है, जैसे साधन करते हुवे भी फलकी प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु ईश्वरकी इच्छा होवे, तो साधनसे फलकी प्राप्ति हो जावे. यद्यपि शास्त्र ही सर्वत्र प्रमाण हैं, किन्तु कदाचित् शास्त्रानुसार कर्त्तव्य करने पर भी जब फल नहीं होता है, तब ईश्वरके इच्छाकी कल्पना की जाती है अर्थात् शास्त्रोक्त साधन तो किये, किन्तु ईश्वरकी इच्छा फल देनेकी नही है, इस प्रकारके भाव अन्तःकरणमें स्वतः उदय हो जाते हैं, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं. अग्नि जल रही है, वहां मणि रखनेसे अग्नि शान्त हो जाती है, तब किसी शक्तिकी कल्पना करनी पड़ती है. वह शक्ति कहांसे मणिमें वा अग्निमें आई? इस विषयमें हम उदासीन हैं, अर्थात् कुछ कह नहीं सकते हैं, ऐसे स्थल पर ईश्वरकी इच्छा ही नियामक है, यों समझना चाहिये. ईश्वर होनेसे उस पर हम दबाव तो डाल नहीं सकते है. लोकमें भी महाराजाकी आज्ञा दो प्रकारकी होती है, एक सामान्य दूसरी विशेष आज्ञा. जैसे कि देश सर्व प्रकार उपद्रव रहित होनेसे शान्त और सुखी है किन्तु कोई व्यक्ति महाराजाकी इच्छासे दुःखी होता है, इस प्रकारकी महाराजाकी इच्छासे जो आज्ञा है, जिससे राज्य तो निष्कण्टक चलता ही रहता है, किन्तु केवल वह व्यक्ति दुःखी है, यह विशेष आज्ञा है, अतः अपनी इच्छानुकूल कार्य करनेकेलिये हम लोगोंको निमित्त बनाते हैं, जिससे हम मर्यादामें नहीं रहते हैं और शास्त्र जानते हुवे भी विषमता करते हैं, वह योग्य ही है, जो यों न होवे तो भगवान् यदुकुलमें अवतार ही न लेवें ।।२८।।

आभासार्थ : इस प्रकार भगवान्के माहात्म्यका स्मरणकर, भगवान्को 'यो दुर्विमर्श' श्लोकमें नमन करते हैं :

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्रसंसारचक्रगतये परमेश्वराय ।।२९।।

श्लोकार्थ : जिसके मार्गका विचार करना भी अशक्य है, वैसी अपनी मायासे यह जगत् रचकर अनन्तर उसमें प्रविष्ट होकर जो ईश्वर, गुणोंका विभाग करते हैं और जो समझमें न आनेवाले इस संसारचक्रको गति देते हैं, उस परमेश्वरको नमस्कार है ।।२९।।

व्याख्यार्थ: अब अक्रूरजी भगवान्को नमस्कार करते हैं. नमस्कार करनेसे पूर्ण भगवान् कैसे प्रकट हुवे? अथवा क्यों अवतार लिया? मनुष्योंकी इस शङ्काको मिटाना है. जिस भगवान्की मायाके मार्गका कठिनतासे भी विचार

नहीं हो सकता है, जहां मन्त्र आदिकी शक्ति भी कुछ काम नहीं कर सकती है, जब आपकी ऐसी माया है, जिसका पता नहीं लगता है, भगवान्के धर्मोंकी भी जिज्ञासा अशक्य है, जब मायाके मार्गका ज्ञान होना कठिन है, तब भगवान्का विचार कौन कर सकेगा? इसलिये ही कहा है कि अलौकिक भावोंका तर्कसे विचार नहीं करना चाहिये, लोकमें कपटरूपसे प्रसिद्ध मायासे यह प्रसिद्ध जगत् बनाकर उसमें स्वयं सत्यरूपसे प्रविष्ट हुवे हैं, प्रवेशके अनन्तर सत्त्व आदि गुणोंको उच्च और नीचभावसे पृथक् करते हैं, जिसके मार्गका ही ज्ञान नहीं है, उससे कोई कुछ करा सकता है? जो मायासे बना है, उसमें कोई प्रवेश करनेकेलिये अथवा प्रवेशकर, जो तुल्य है, उसको उच्च-नीच करनेमें कोई समर्थ है? नहीं समर्थ है, अतः भगवान् अनुभाववाले हैं, उनको नमस्कार है और विशेष कहते हैं कि श्रुतिके दोनों काण्डोंमें पञ्चरात्र तथा इतिहास और पुराणोंमें सृष्टिके हजारों प्रकार कहे हैं, अतः किस साधनसे और यों कैसे करते हैं, यह संसारचक्रकी क्रीड़ाके तन्त्रको समझना कठिन है. ऐसेकी भी गति जिससे होती है. भगवान्का अहन्ता ममतात्मक संसार, लौकिक संसारकी भांति नहीं है, यह सर्व लीला, इच्छासे ही होती है यों निश्चयपूर्वक समझा जाता है. भगवान्के अवतार, भगवत् शास्त्र, भगवदीय पुरुष और भगवदीय पदार्थ, इन सबोंका साधारण उपयोग नहीं होता हैं, तो यह शङ्का भी नहीं करनी, कि ये, क्यों किये हैं? ये किसलिये किये? इसको कोई नहीं जान सकता है, अतः भगवान्का कार्यरूप जगत्, भगवान्की लीला और वैष्णवोंका प्रकार दुर्बोध है. आप और मैं दोनों इनको नहीं जान सकते हैं, कारण कि भगवान् परम ईश्वर अलौकिक और ईश्वर होनेसे ही भगवान् परमेश्वर हैं, अतः माया और संसारसे अथवा कार्य और कारणसे वह परमेश्वर अलौकिक है ।।२९।।

आभासार्थ : यह संसार भगवान्का है, आप और हम सबको उसकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये, न कि अपनी इच्छासे. उपदेशका ज्ञान, किसीका विचार नहीं करना चाहिए, सबको मौन धारण करनी चाहिए, इस अभिप्रायको समझकर अक्रूर वहांसे जाने लगा, इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोकमें करते हैं :

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।

सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ।।३०।।

श्लोकार्थ : श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार राजाके अभिप्रायको जानकर वे अक्रूरजी मित्रोंकी आज्ञा लेकर पुनः मथुरा लौट गए ।।३०।।

व्याख्यार्थ: धृतराष्ट्रने अक्रूरजीका कहना नहीं माना, उसके दो कारण हैं १.धृतराष्ट्र राजा है, राजा स्वतन्त्र है, किसीका कहा माने वा न माने, २.अक्रूर यादव है. राजाका वाक्य तो अङ्गीकार करना चाहिये, यदुवंशमें भगवान्ने अवतार लिया है, अतः उनको तो अवश्य मानना चाहिये, इसमें ही उनका उत्कर्ष है. पश्चात् यहां भी लौकिक न्यायसे भीष्म आदि सुहृदोंकी आज्ञा प्राप्तकर, यादवोंकी मथुरामें गये ।।३०।।

शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।
पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ।।३१।।

श्लोकार्थ : हे कौरव्य! जिस कार्यकेलिए अक्रूरको हस्तिनापुर भेजा था, वह कार्य कर आए, अब अक्रूर, धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति क्या आशय है? वह राम और कृष्णको कहने लगे ।।३१।।

व्याख्यार्थ: अक्रूरजी रामकृष्णके स्थान पर जाकर सब समाचार कहने लगे, क्योंकि अक्रूरजी आज्ञा पालन करनेवाले हैं, स्वतन्त्र नहीं है. धृतराष्ट्रका हार्दिक आशय पाण्डवोंको मारने तकका था, वह सर्व सुनाने लगे. सत्पुरुषोंको यों गुप्त विचार भी प्रकट करना योग्य नहीं है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि इसके जाननेकेलिये ही भेजे गये थे, अतः उसको कुछ भी गुप्त हो, वह बताना ही चाहिये. सर्व बतानेमें अधिकारीको कोई दोष नहीं लगता है. राजाको 'कौरव्य' यह सम्बोधन विश्वासकेलिये दिया है. भगवान्ने स्वयं अक्रूरको इस कार्य करनेकेलिये भेजा था अतः उनको ही स्वयं सर्व समाचार लाकर स्वयं ही को बताना है, नहीं कि दूसरेके द्वारा. इस प्रकरणके अनन्तर स्वयं भगवान्को ही करना है, अब तक तो स्वयं भगवान्ने कुछ भी नहीं किया है, जो कुछ किया है, वह दूसरोंके द्वारा किया है. भगवान्की लीलाएं दो प्रकारकी है १.अपनी इच्छानुसार करना २.दूसरोंके कहनेके अनुसार करना –यों भगवान्का भक्तानुसरण कहा है ।।३१।।

इत्येवं भगवल्लीला भक्तविश्वासदायिनी ।
निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया ।।का.१।।

कारिकार्थ : कारिकामें कहते हैं कि यों इस प्रकार इस विवृत्ति द्वारा भक्तोंमें विश्वास उत्पन्न करनेवाली, श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आश्रय देनेवाली भगवल्लीला विशेष प्रयत्नसे निरूपण की है ।।१।।

सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवतामभीष्टः ।
भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृत्तिरेव सदा विचिन्त्या ।।का.२।।

कारिकार्थ : सकल पुष्टिस्थ जीवोंको कहता हूं कि जो आपको भगवन्मार्ग प्रिय होवे तो भगवद्भाववाले हृदयसे यों जान लो कि भक्तिमार्गीय प्रकारसे युक्त यह मार्ग है. फिर इस विवृत्तिका सदा चिन्तन करते रहो ।।२।।

दशमस्कन्धविवृत्तिः पूर्वार्धे सुनिरूपिता ।
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः श्रीपुष्पाञ्जलिरुज्ज्वलम् ।।का.३।।

कारिकार्थ : पूर्वार्धमें जो दशमस्कन्ध विवृत्तिरूप पुष्पगुच्छ अच्छी तरहसे तैयार किया है, उस(विवृत्ति)को श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें उज्ज्वल पुष्पाञ्जलिरूपसे समर्पण करता हूं ।।३ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्धके अध्याय ४६,
राजस–प्रमेय अवान्तर प्रकरणके सप्तम अध्यायकी श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा
विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ.